



विद्यया नानामोक्षकं कर्म
समुच्चयः

Book

॥ श्रीः ॥

चौरवम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

ॐ

ॐ

ॐ श्री श्री गुरुभ्यो नमः

श्रीवरदराजाचार्यकृता

पं० म०...
वाराणसी

लघुसिद्धान्तकौमुदी

शिवराज्य-संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासूत्रयोपेता

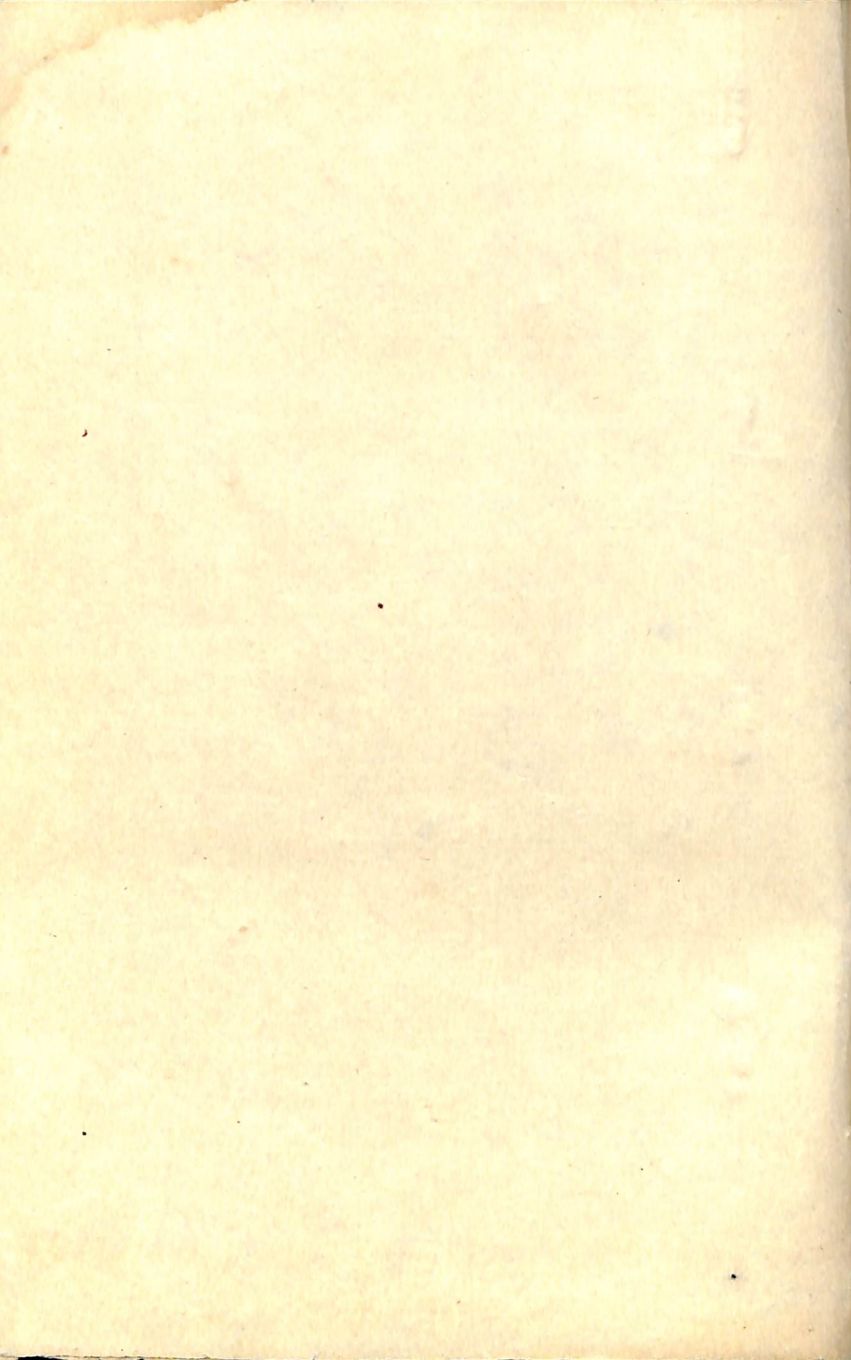
व्याख्याकारः—

पं० श्रीगोमतीप्रसादशास्त्री मिश्रः



चौरवम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी



॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

ॐ
है नमो श्री वक्रेशाय नमः
श्री महर्षिः शम्भुः

श्रीवरदराजाचार्यकृता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

'शिवाख्य'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

व्याख्याकारः—

पं० श्रीगोमतीप्रसादशास्त्री मिश्रः



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५५३५७

सर्वाधिकार सुरक्षित

दशम संस्करण १९८५

मूल्य १४-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८, यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

*

प्रमुख वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBHA SURBHARATI GRANTHAMALA

3

ॐ

LAGHUSIDDHĀNTAKAUMUDĪ

OF

SRI VARADARĀJA

Edited With

'SHIVA'-SANSKRIT & HINDI COMMENTARIES

By

Shri Pt. Gomati Prasad Mishra



CHAUKHAMBHA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

(*Oriental Publishers & Booksellers*)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1

Telephone : 55357

Tenth Edition

1985

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A., Jawaharnagar, Bunglow Road

DELHI 110007

*

Sole Distributors

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 1069

V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1

Telephone : 63076

शिवसौहार्दम्

श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां ऋवितार्किकचक्रवर्तिनां काशी-
हिन्दूविश्वविद्यालयसंस्कृतसाहित्यप्रधानानां
श्रीमहादेवशास्त्रिमहोदयानाम्—

यह संस्कृत भाषा के प्रसार का शुभ-लक्षण है कि अधिकारी विद्वानों के द्वारा एक-एक पुस्तक पर अनेक टीकायें लिखी जायँ । लघुसिद्धान्त-कौमुदी जिसका प्रचार प्रथमारम्भी छात्रों में व्यापक रूप से है उस पर शिवा नाम की संस्कृत और हिन्दी में निबद्धा व्याख्या योग्य लेखक तथा वाग्मी व्याकरणाचार्य पं० गोमती प्रसाद ने की है । इसमें सूत्रों के अर्थ विषय-प्रयोगों के साधन विशदता के साथ किये गये हैं । समर्थ लेखक ने किन्हीं सूत्रों की वृत्तियाँ स्वयं लिखी हैं जो मूलकार से छोड़ दी गयी थीं । इस व्याख्या में एक स्वर्ण-सौरभ-संयोग हुआ है कि प्रत्येक उदाहरण के प्रामाणिक अर्थ भी उपस्थित हुए हैं । प्रत्येक दृष्टि से यह प्रयत्न प्रशंसनीय है । मैं विश्वेश्वर से कामना करता हूँ कि इस निर्माण का आदर बड़े और विज्ञजन करें, समाज पूर्णरूपेण इसको अपनावे ।

तिथि-८।१०।१९५०

}

महादेव पाण्डेय
सं० म० हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी ।

श्रीसर्वतन्त्रापरतन्त्राणां विद्वन्मूर्धन्यानां काशी-
 विद्वत्परिषत्संरक्षकपदमलङ्कुर्वतां धर्मप्राणानां
 श्रीसत्यनारायणशास्त्रिमहोदयानाम्—

शिवा शिवसमावृता वितनुयाच्छिवासद्यशो-

विभातु लघुकौमुदी जगति बालछात्रोचिता ।

सुखायुसमलङ्कृतो बुधवरो हि श्रीगोमता-

प्रसादपदभाक् 'शिवा' रचयिता चिरं जीवतात् ॥

वृत्ति-प्रयोग-लसिताखिलसूत्र-भाषा-

व्याख्याऽथ

शब्दसमलङ्कृत-धातुरूपा ।

जुष्टा च किलष्ट-पद-साधनिका-वृत्तेयम्

शश्वद्भ्रुविष्यति

किलाभंदलोपकर्त्री ॥

सत्यनारायणः

प्रकाशकीय वक्तव्य

लघुसिद्धान्तकौमुदी का यह नवा संस्करण प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। संस्कृत-जगत् ने इससे पूर्व आठ संस्करणों का स्वागत किया—यही इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। छात्रों के हित को ध्यान में रखते हुए टीकाकार ने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में व्याख्या लिखी है। संस्कृत व्याख्या उन्हीं अंशों में की गई है, जहाँ मूलग्रन्थ में वृत्ति का अभाव अथवा कठिन स्थलों को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने की आवश्यकता रही हो। इसके अतिरिक्त परीक्षार्थियों को प्रयोग-साधनिका संस्कृत में किस प्रकार लिखनी है—इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है। अतः परीक्षार्थी इसके पढ़ने से लेखन-कार्य में अवश्य निपुण हो सकेंगे। अधिकतर परीक्षार्थी लेखन-कार्य में शिथिलता दिखाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें अच्छे अङ्क प्राप्त नहीं हो पाते। इस त्रुटि को सुधारने के लिये लघुकौमुदी में आये हुए विशिष्ट प्रयोगों का संस्कृत में विन्यास बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा। दूसरी विशेषता यह है कि शब्द एवं धातुओं के रूप भी यथास्थान लिखने के कारण छात्रों को उनकी रूपसिद्धि समझने में सरलता होगी।

हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का अर्थ तथा उदाहरणों का विश्लेषण कर उनकी भी हिन्दी व्याख्या यथास्थान की गई है। इसके अतिरिक्त और अधिक उपयोगी सामग्री भी यथास्थान समाविष्ट कर दी गई है। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र की उपयोगी परिभाषायें तथा लक्षण-समन्वय आदि का समावेश कर विषय की और अधिक उपयोगी बना दिया गया है। सूत्र-सूची, धातुपाठ, वार्तिक-सूची, गणपाठ तथा समासचक्र का समावेश होने से प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता और बढ़ गई है। आशा है छात्र-वर्ग इससे अधिकाधिक लाभान्वित हो सकेगा।

संस्कृत-जगत् की सेवा में शुद्ध एवं अच्छे ग्रन्थों को अर्पित करना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।

निवेदक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

प्राक्कथन

आद्या विश्वविधात्री महाशक्ति के लोकोपकारक विविध निर्माणों में शब्द-शक्ति का प्राधान्य चेतन मानव प्राणियों में जागरूक है। शब्द साक्षात् ब्रह्म है, उसी से संसार की प्रक्रियायें चलती हैं, अत एव—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की यह प्रथम कारिका एवं अन्य कारिकाएँ भी शब्दतत्त्व-प्राधान्य का समर्थन करती हैं। यह शब्द ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक होता हुआ भी वर्णात्मक वाणी द्वारा भाषारूप से व्यवहार में आता है।

विश्व में अनेक भाषाओं का क्रियाकलाप है। तत्तद् देश, जाति एवं वर्ग के अनुसार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग, व्यवहार एवं उनसे बोध होता देखा जाता है, किन्तु संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन एवं पुण्यपुञ्जोपभोक्ता देवताओं की भाषा है। अतः इसे 'सुरभारती' अथवा 'देवी वाक्' कहते हैं। इस प्रकार विभिन्न मनीषियों ने लिखा है—

संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । (काव्यादर्श)

अथ च— अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी विव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (कृष्णद्वैपायनमाष्ये)

सृष्टि के आरम्भ से ही देखा जाय तो वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं आयुर्वेद-ग्रन्थ अथवा अन्य व्यावहारिक नीतिशास्त्र, काव्यादि संस्कृत में ही लिखे गये हैं तथा इसमें भी संशय नहीं कि संस्कृत-भाषा में वे जैसे पूर्ण हैं, वह पूर्णता भाषान्तर में अनुवाद से वैसी सम्भव नहीं है, जैसी कि संस्कृत द्वारा की गयी है।

इस सुरभारती के शुद्ध-स्वरूप सम्यक् प्रयोगज्ञान के लिए ही महर्षियों द्वारा व्याकरण का निर्माण हुआ। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि :—

“एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु युक्तः स्वर्गं लोके च कामधुग्भवति, माता-पितरौ चास्य स्वर्गं लोके महीयेते ।”

अर्थात् एक शब्द भी भलीभाँति जानकर ठीक प्रकार से प्रयोग किया गया कामनाओं की पूर्ति करता है तथा उस (प्रयोक्ता) के माता-पिता स्वर्ग (सुख) लोक में सम्मान पाते हैं।

व्याक्रियन्ते निष्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्, शब्दशास्त्रम्, शब्दानुशासनं वा शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् इत्याह पतञ्जलिः ।

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में व्याकरण के अध्ययन एवं अध्यापन के मुख्य प्रयोजन को सुस्पष्ट किया है—

रक्षोहागमलध्वसन्वेहाः प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । ऊहः कर्तव्यः । सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामस्तत्र सूर्यायेत्यूहः । ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।

इस आदेश में आये हुए षडङ्ग पद से शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष लिये जाते हैं । इसमें 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' यह उक्ति सत्य है । आचार्य पतञ्जलि ने कहा है— 'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' इति । श्री मास्कराचार्यजी मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्प्रक्,

बाह्यः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।

यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्,

शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥

अर्थात् व्याकरण ज्ञान के बाद ही अन्य शास्त्र के ज्ञान का अधिकारी होता है । यों तो इतिहास से ज्ञात होता है कि इस धरातल पर आठ व्याकरण थे । जैसा कि बोपदेव ने कहा है :—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशलो शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

सत्य भी है, महाभाष्यकार पतञ्जलि लाघवरूप व्याकरणप्रयोजन लिखते हुए कहते हैं कि—

बृहस्पतिः प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम ।

वाग वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति, ...तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । (तै० सं० ६।४।७)

इससे ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन प्रतीत होता है । इसी प्रकार सारस्वत-चन्द्रिका आदि भी हैं । अथ च आपिशलि एवं शाकटायन के मतों का उल्लेख जहाँ-तहाँ पाणिनिव्याकरण में भी मिलता है, किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त उपादेय होने के कारण मनीषियों का हृद्य एवं विश्ववन्द्य हुआ । विदेशी विचारक विद्वान् भी पाणिनीय व्याकरण की प्रशंसा मुक्त-

कण्ठ से करते हैं। प्रोफेसर विलियम्स का कथन है कि पाणिनीय-व्याकरण उस मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यंतम नमूना है, जिसे किसी दूसरे देश ने आज तक सामने नहीं रखा। हाँ, उन्हें 'मानवमस्तिष्क' न कहकर 'अवतार-पुरुष' कहना चाहिये था। अस्तु पाणिनीय व्याकरण विश्ववन्द्य हुआ। पाणिनीय व्याकरण के अवतरण की आख्यायिका से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मोच्छ्वासनिःश्वास-रूप वेदोद्गम की भाँति आद्यतोष भगवान् शङ्कर के आनन्दमय नृत्य के अवसर पर डमरू से निकले हुए वेदस्वरूप अक्षरसमाप्नाय महर्षि पाणिनि को प्राप्त हुए—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शं शिवसूत्रजालम् ॥

तथा च महर्षि पाणिनि की वन्दना में कहा जाता है :—

येनाक्षरसमाप्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

इससे भी माहेश्वर-प्राप्त १४ सूत्रों की व्याख्यारूप ही सिद्ध होता है। इस व्याकरण के विकास एवं पूर्णतासम्पादन में तीन महर्षियों (पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि) का योगदान अभ्यर्हणीय है।

महर्षि पाणिनि

पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल एवं अध्ययन—स्थानादि के सम्बन्धों में कतिपय गवेषक इतिहासकारों में मतभेद मिलता है, किन्तु इनके विभिन्न नामों से इनके गोत्र, माता-पिता तथा अभिजन (देश) का यथासाध्य निर्वचन या निर्णय किया जा सकता है। जैसे पाणिनि के नाम पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालातुरीय आदि जो प्राप्त हैं, उनमें प्रथम नाम (१) पाणिनि गोत्रव्यवहार का है, अथ च पिता का नाम महर्षि पाणिनि (पाणिन) जिनका नामान्तर शलङ्क भी कहा जाता है, अतः इनका नाम शालङ्कि भी है। (२) दाक्षीपुत्र—माता दाक्षी अथ अतः इनका नाम दाक्षीपुत्र पड़ा। महाभाष्यकार पतञ्जलि स्थान-स्थान पर स्पष्ट लिखते हैं—“कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ।” अथ च “सर्वे पदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः”। इससे उनके माता, पिता एवं गोत्र का निर्णय हो जाता है। (३) शालातुरीय नाम से जन्मप्रदेश स्पष्ट है। गणतन्त्र-महोदधि में—“शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्थास्तीति शालातुरीयः। तत्र भवान् पाणिनिः”। यह स्थान लाहौर नाम से प्रसिद्ध है, जो भारत का विशेष होता हुआ आज पाकिस्तान में है।

महर्षि पाणिनि के समय के सम्बन्ध में विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न अनुमान किया है। 'कुमारभ्रमणादिभिः' (२।१।७०) इस सूत्र में भ्रमण पद उद्धृत है, इससे बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। तथा 'इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-भृङ्-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक्' (४।१।४९) इस सूत्र में यवन शब्द आया है, अतः यवन 'सिकन्दर' आदि का काल पाणिनि का समय है। यह नितान्त भ्रम है, क्योंकि वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों में भी भ्रमण पद मिलता है। जैसे वृत्तपथ ब्राह्मण में—'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, भ्रमणोऽभ्रमणः, तापसोऽतापसः' इति। साथ ही सन्यास की प्रथा भी प्राचीन है।

मेरा तो इतिहासकारों से निवेदन है कि जब आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से निकले हुए चतुर्दश सूत्र तपोधन महर्षि पाणिनि को प्राप्त हुए तब अनादि भगवान् शंकर के काल में अपूर्व कार्य-सम्पादन करनेवाले महर्षि को ईसा पू० ३२४ या ई० पू० ५२२ कहना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है। जो ही इस महर्षि ने लोककल्याण के लिए सूत्ररूप में अष्टाध्यायी ग्रन्थरत्न दिया। सूत्र शब्द का अर्थ यही होता है—'अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वम्' अर्थात् थोड़े अक्षर होते हुए भी बहुत अर्थ बोध करानेवाले सूत्र कहे जाते हैं। इनके बाद सहयोगी के रूप में आवश्यक अंशों की पूर्ति के लिए महामुनि कात्यायन आते हैं।

महामुनि कात्यायन

महर्षि पाणिनि के सूत्रों पर आवश्यकतानुसार महामुनि कात्यायन ने वार्तिकों का निर्माण करके सुवर्ण में सुगन्धि ला दी है। पाणिनि व्याकरण की पूर्ति एवं समृद्धि में वार्तिककार कात्यायन का विशेष महत्त्व है। वे पाणिनि के समकालीन एवं सतीर्थ्य प्रतीत होते हैं। वार्तिककारों में इनका नाम सर्वश्रेष्ठ है।

उक्तानुक्तदुस्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

इनका कात्यायन नाम गोत्र सम्बन्धी है। आपका दूसरा नाम वररुचि था। ये केवल वार्तिककार ही नहीं थे, अपितु महाकवि भी थे। इनके "स्वर्गरोहण" नामक ग्रन्थ की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक में "यथा लौकिकवैदिकेषु" इस वार्तिक पर "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुजते" इस वचन से ज्ञात होता है कि ये दाक्षिणात्य थे।

महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि

‘पाणिनि-व्याकरण-महाभाष्य’ बड़ा ही प्रसिद्ध व्याख्यारूपी सागर है। महाभाष्य, शाङ्करभाष्यादि विविध भाष्य हैं किन्तु यह महाभाष्य है। भाष्य-र्थं निम्नाङ्कित है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्ववाक्यानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की प्रशंसा सभी लोग मुक्तकण्ठ से हैं। इन्होंने ‘पातञ्जल योगदर्शन’ द्वारा मनोमलापहरण के लिए योगदर्शन उपदेश करके तथा ‘पातञ्जल महाभाष्य’ द्वारा वाङ्मलापहरणार्थ मार्ग-निर्णय करके अथ च ‘चरकसंहिता’ जैसे आयुर्वेद के महान् पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रलोकसाधक ग्रन्थ का उपदेश करके शारीरमल एवं मनोमल-निर्हरण के लिये उपदेश-प्रदर्शन किया। इस बात को प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं तथा पाण्डित्य-प्राप्ति के लिये निम्नाङ्कित स्तुति भी पढ़ते हैं—

योगेन विस्रस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

पतञ्जलि ने अपना परिचय स्वयं कहीं परिचय देने के रूप में उल्लिखित नहीं किया किन्तु कुछ स्थलों पर ‘गोनर्दीयस्त्वाह’ तथा ‘गोणिकापुत्रः’ ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि ये गोनर्द देश के थे। यह प्रदेश कुछ लोगों के मत से कश्मीर में तथा कुछ लोग गोंडा (बस्ती जिले के पास) मानते हैं। ये लोग शेषावतार एवं फणाभृत नाम से भी कहते हैं। इनके महाभाष्य ग्रन्थ ‘पुष्यमित्रो यजते’ ‘इह पुष्यमित्रं याजयाभः’ इस प्रकार पद मिलते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे।

आधुनिक ऐतिहासिकों का मत विशेष विचारणीय है कि पतञ्जलि १५० ई० पूर्व, कात्यायन ३५० वर्ष ई० पूर्व तथा पाणिनि ४५०-५५० वर्ष ई० पूर्व में हुए थे।

मेरी गुरुपरम्परा में ये सभी अवतार-पुरुष थे। आशुतोष भगवान् शङ्कर के समयकाल में डमरू से निकले चतुर्दश सूत्रीय प्रकाश की प्राप्ति पाणिनि को है तथा उसकी पूर्ति कात्यायन ने वार्तिकों द्वारा की। इसी प्रकार महामुनि पतञ्जलि सभी का पूर्णतः प्रकाश करके इस धरातल पर मनीषियों के हितार्थ महाभाष्य दिया। ये तीनों पाणिनि-व्याकरण के प्रवर्तक हैं।

पाणिनि व्याकरण के मूलग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये । अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार लिखी गई जयादित्य वामन की 'काशिका-वृत्ति' सराहनीय है । कात्यायन के वार्तिक तो सूत्रों के साथ में उल्लिखित मिलते हैं । पतञ्जलि ने सूत्रों के अनुसार महामाध्य का निर्वचन किया । महामाध्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें जयटात्मज कैयट का प्रदीप तथा प्रदीप पर नागेश कृत उद्योत बहुत ही प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सर्वप्रथम सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करना तथा प्रयोग के लिये 'काशिकावृत्ति' पढ़ना, अनन्तर विशेषज्ञानार्थ महामाध्य पढ़ने के बाद विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था तथा आज भी वह क्रम सराहनीय है । जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जायेगी, वे शीघ्र ही पाणिनि-व्याकरण में पूर्ण गति प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रौढ एवं परिश्रम न करनेवालों को प्रयोगादि में कठिनाई मालुम पड़ने लगी तब प्रक्रिया-क्रम से पठन-पाठन की सुव्यवस्था के लिये आचार्य श्रीरामचन्द्र ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' का निर्माण किया । ऐतिहासिक इनका समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं ।

प्रक्रिया-कौमुदी में पाणिनि के समस्त सूत्रों का सन्निवेश अप्राप्त है अतः यह ग्रन्थ पाणिनि व्याकरण का पूर्णतः उपकारक नहीं बन सका । इस न्यूनता को पूर्ण करने की दृष्टि से महामनीषी श्री भट्टोजिदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की रचना की जो शास्त्रार्थपूर्वक अनोखी प्रयोग-प्रणाली की प्रकाशिका है । श्री दीक्षितजी ने समस्त अष्टाध्यायी के सहित उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ एवं घातुपाठादि से सम्पन्न यह ग्रन्थ बनाया । कौमुदी की प्रशंसा गुरुजन किया करते थे । बात भी सत्य है—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ।

कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

आचार्य श्री वरदराजजी श्री भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे । इनके पिता का नाम दुर्गातिनय था । ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेश पाने की कामनावाले सुकुमार बुद्धिवाले बालकों के सुखपूर्वक बोध के लिए 'लघु-सिद्धान्तकौमुदी' की रचना की । पाणिनीय-व्याकरणरूपी महासमुद्र से शब्दरत्नों का यह लघु प्रयास अभ्यासार्थ परमोपयोगी है । लेखक की आद्यप्रतिज्ञा एवं अन्तिम निर्देश सत्य है—

प्रारम्भे—पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ।

अन्ते—शास्त्रान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका ।

कृता वरवराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥

श्रीवरदराजजी ने बाद में (अर्थात् लघुकौमुदी द्वारा साधारण ज्ञान हो जाने पर) जिज्ञासु शिष्यों की ज्ञान-वृद्धि के निमित्त 'मध्यकौमुदी' का सम्पादन किया । यह किंवदन्ती है कि भट्टोजिदीक्षित को इस कृति से संशय हुआ कि इस मध्यकौमुदी के पढ़ने के बाद मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' कौन पढ़ेगा, क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यकौमुदी है । किन्तु पहले के आचार्य शिष्य-वत्सल होते थे । 'ननु राजीवदयावशंवदः' इत्यादि उक्तियाँ प्रमाण हैं ।

श्री वरदराजजी श्री भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे । इसमें प्रमाण मध्यकौमुदी का मङ्गलाचरण है—

नत्वा वरदराजः श्री-गुरुन् भट्टोजिदीक्षितान् ।

करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

इससे प्रमाणित होता है कि ये दोनों गुरु-शिष्य समकालिक थे ।

प्रस्तुत 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' स्वयं बालोपयोगिनी है, किन्तु यथासमय बालकों के उपकारार्थं अनेक विद्वानों ने अनेक टीकाएँ (संस्कृत एवं हिन्दी में) लिखी हैं । सभी उपयोगिनी है किन्तु मेरी 'शिवा' (माता महालक्ष्मी गौरी की शक्ति कल्याणदायिनी) टीका छात्रों के हितार्थ लिखी गई है । पूज्य गुरुजनों से भी प्रार्थना है कि प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में उस प्रकरण के नामकरण का प्रयोजन एवं विषय-निर्देशन अवश्य करा दिया जाय ।

इस व्याख्या में विशेष बात यह है कि ज्ञानोपयोगी एवं परीक्षोपयोगी जो कठिन शब्द हैं, उनका साधुत्व-प्रकार यथास्थान आवश्यक शब्दों एवं धातुओं के रूप तथा आवश्यकतानुसार विशेष विवेचन भादि संस्कृत में हैं तथा सूत्रों, वार्तिकों एवं तत्तत्प्रकरण में तत्तत्स्थल पर आये हुए शब्दों के अर्थ हिन्दी भाषा में भी सुस्पष्ट लिखे गये हैं । आगा एवं विश्वास है कि गुरुजन धुमकामना करेंगे तथा छात्रवर्ग मन लगाकर इसे पढ़कर लाभ उठावेंगे ।

शिवार्थं सर्वच्छात्राणां शिवेयं सम्प्रकाशिता ।

गुरुणाञ्चैव हृद्या स्यादिति याचे वशंवदः ॥

विदुषां वशंवदः—

गोमतीप्रसादमिधः

विषय-सूची

प्रकरणम्	पृष्ठाङ्कः	प्रकरणम्	पृष्ठाङ्कः
१. संज्ञाप्रकरणम्	१	२३. सन्नन्तप्रक्रिया	१७७
२. अच्सन्धिः	११	२४. यङन्तप्रक्रिया	१७९
३. हल्सन्धिः	२२	२५. यङ्लुगन्तप्रक्रिया	१८०
४. विसर्गसन्धिः	२९	२६. नामघातवः	१८१
५. अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्	३३	२७. कण्डवादिः	१८४
६. अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	५५	२८. आत्मनेपदप्रक्रिया	१८४
७. अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	५९	२९. परस्मैपदप्रक्रिया	१८६
८. हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्	६४	३०. भावकर्मप्रक्रिया	१८७
९. हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	९१	३१. कर्मकर्तृप्रक्रिया	१९०
१०. हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	९३	३२. लकारार्थप्रक्रिया	१९०
११. अव्ययप्रकरणम्	९६	३३. कृत्यप्रक्रिया	१९२
१२. भ्वादिः	९९	३४. पूर्वकृञन्तप्रकरणम्	१९५
१३. अदादिः	१३७	३५. उणादिप्रकरणम्	२०४
१४. जुहोत्यादिः	१४५	३६. उत्तरकृदन्तप्रकरणम्	२०५
१५. दिवादिः	१५५	३७. विभक्त्यर्थाः (कारकप्र०)	२१०
१६. स्वादिः	१६०	३८. केवलसमासः	२१५
१७. तुदादिः	१६१	३९. अव्ययीभावसमासः	२१६
१८. रघादिः	१६७	४०. तत्पुरुषसमासः	२१९
१९. तनादिः	१६९	४१. बहुव्रीहिसमासः	२२६
२०. क्रधादिः	१७१	४२. द्वन्द्वसमासः	२३०
२१. चुरादिः	१७४	४३. समासान्तप्रकरणम्	२३१
२२. ष्यन्तप्रक्रिया	१७६	४४. तद्धिते साधारणप्रत्ययप्र०	२३२

प्रकरणम्	पृष्ठाङ्कः	प्रकरणम्	पृष्ठाङ्कः
४५. अपत्याधिकारप्रकरणम्	२३३	५३. ठगधिकारप्रकरणम्	२५१
४६. रक्षाद्यर्थकप्रकरणम्	२३७	५४. त्वतलाधिकारप्रकरणम्	२५३
४७. चातुरार्थिकप्रकरणम्	२४१	५५. भवनाद्यर्थकप्रकरणम्	२५५
४८. शैषिकप्रकरणम्	२४२	५६. मत्वर्थीयप्रकरणम्	२५७
४९. विकारार्थकप्रकरणम्	२४७	५७. प्राग्दिशीयप्रकरणम्	२५९
५०. ठगधिकारप्रकरणम्	२४८	५८. प्रागिवीयप्रकरणम्	२६२
५१. प्रग्वितीयप्रकरणम्	२५०	५९. स्वार्थिकप्रकरणम्	२६४
५२. छयतोरधिकारप्रकरणम्	२५१	६०. स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्	२६६

परिशिष्टम्

१. व्याकरणे विशेषोपयोगीनि लक्षणानि	२७३
२. लघुकौमुदीस्थ-सूत्रसूची	२७६
३. लघुकौमुदीस्थ-घातुसूची	२८५
४. वार्तिकादीनां सूची	२८९
५. समासचक्रम्	२९२
६. गणपाठः	२९९

पं. श्रीगुरुदेवार्जुनः

॥ श्रीः ॥

श्रीवरदराजाचार्यकृता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

शिवाख्य-संस्कृत-हिन्दी-टीकाद्वयालङ्कृता



नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥

श्रीगोमतीप्रसादशास्त्रिकृता

❀ शिवा ❀

वेदानां सारभूता या गायन्तं त्रायते सदा ।
तां शिवां विघ्ननाशार्थं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ १ ॥
नमो विश्वप्रकाशाय सूर्यायामिततेजसे ।
विश्ववन्द्याय गुरवे तद्धाम्ने च नमो नमः ॥ २ ॥

अहं वरदराजाचार्यः, “लघुसिद्धान्तकौमुदीम्” (सिद्धः = निष्पन्नः, अन्तः = निर्णयो येषु ते सिद्धान्तास्तेषां कौमुदी = प्रकाशिका सिद्धान्तकौमुदी, लघ्वी चासौ सिद्धान्तकौमुदी लघुसिद्धान्तकौमुदी तां लघुसिद्धान्तकौमुदीम्), करोमि । किं कृत्वा ?, सरस्वतीं (सारो = ज्ञानं तदस्त्यस्यां सरस्वती, तां सरस्वतीं) ज्ञान-स्वरूपां नत्वा = नमस्कृत्य । कथम्भूतां सरस्वतीं ? देवीम् (दीव्यति प्रकाशते प्रकाशयति वा इति देवी, तां देवीं) प्रकाशपूर्णाम् । पुनः कथम्भूताम् सरस्वतीं ?

१-मैं वरदराजाचार्य शुद्धस्वरूपवाली तथा समस्त गुणों से युक्त श्रीसरस्वती देवी को नमस्कार कर बालकों को अल्प परिश्रम से व्याकरण में प्रवेश कराने के लिए इस “लघुसिद्धान्तकौमुदी” नामक ग्रन्थ को बनाता हूँ ।

अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

अइउण् १ । ऋलृक् २ । एओङ् ३ । ऐऔच् ४ । ह्यवरट् ५ । लण् ६ ।
जमङ्गणम् ७ । झभञ् ८ । घढधष् ९ । जवगडदश् १० । खफळठथचटतव्
११ । कपय् १२ । शषसर् १३ । हल् १४ । इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणा-

शुद्धां = स्फटिकस्वरूपाम् । पुनः कथम्भूतां सरस्वतीं ? गुण्यां = प्रशस्तगुणयुक्ताम् ।
कस्मै प्रयोजनाय ? बालानां पाणिनीयव्याकरणे सुखपूर्वकं प्रवेशाय । इति खण्डा-
न्वयविग्रहपूर्वको मङ्गलार्थः ।

प्रश्नः—ननु ग्रन्थादौ “नत्वा सरस्वतीं देवीम्” इति मङ्गलात्मकं पद्यं किमर्थ-
मुपनिबद्धम् ? उत्तरम्—मङ्गलार्थम्—विघ्नविनाशार्थम् । एतदर्थं हि पातञ्जल-
महाभाष्ये प्रतिपादितम्—“मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि
प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भविष्यन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भविष्यन्ति”,
तथा “समासिकामो मङ्गलमाचरेत्” इति शिष्टाचारानुमत्या च निर्विघ्नपरिसमा-
प्त्यर्थं मङ्गलमावश्यकम् । अथ च मम शिष्या अप्येवं कुर्युः—इति शिष्यशिक्षार्थं
च कर्तव्यम् । ननु—ईश्वरनमस्कारात्मकरूपमङ्गलेन—इष्टसिद्धेः सम्भवात् कथं पाणि-
नीयप्रवेशाय इत्यादि पदम् प्रयुक्तम् ?—समाधत्ते—सर्वेषां ग्रन्थानामादौ विषय-
प्रयोजन सम्बन्धाधिकारिरूपानुबन्ध-चतुष्टयमावश्यकम्, अतस्तेषां—ग्रहणम् । अत्र
ग्रन्थे लघवो व्याकरणसिद्धान्ताः विषयाः । प्रवेशार्थं स्वल्पानां पाणिनीयसिद्धान्-
तानां ज्ञानं प्रयोजनम् । सिद्धान्तानां ग्रन्थेन प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः ।
अधीतकोशादिरनधीतव्याकरणस्तज्जिज्ञासुबालोऽधिकारी । इत्यनुबन्धचतुष्टयम् ।

नन्वेषां चतुर्दश-सूत्राणां मुनित्रय—(पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि)
महोदयैरनुक्तत्वात्कुतः प्रामाण्यमित्यत आह—इतीति । इति = इमानि अइउण्-
आदि चतुर्दशसूत्राणि । माहेश्वराणि = महेश्वरादागतानि, महेश्वरवरप्रसादात्पाणि-

१—अइउण् से लेकर हल् पर्यन्त जो ये चौदह सूत्र हैं वे अण्, अक् आदि संज्ञाओं को

आवश्यक सूचना—

अध्यापकों का कर्तव्य होता है कि प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में बच्चों को बता दें कि
इस प्रकरण में यह विषय है, इस लिए इस प्रकरण का यह नाम पड़ा है । जैसे—यह
‘संज्ञाप्रकरण’ है, इसमें संज्ञायें बतायी जाती हैं । ‘अच्सन्धिप्रकरण’ में अचों (अ, इ, उ,
ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) की परस्पर में सन्धि (मिलन) होती है अतएव ‘अच्सन्धि’ नाम
पड़ा है, इत्यादि समझा दें ।

दिसंज्ञार्थानि* । १एषामन्त्या इतः । २हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ।
३लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

निना लब्धानि न तु तत्कृतानि । एतेनेदं सिद्धं यन्महेश्वरकृपया पाणिनिना इमानि
चतुर्दशसूत्राण्याकररूपाणि प्राप्तानि । ततश्चैतरेव सम्पूर्णं पाणिनीयं व्याकरणं
समुपनिबद्धम् । अत्र बहूनि प्रमाणानि सन्ति । तथाहि—श्री नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्
उक्तम्—“नृत्तावसाने नउराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।

उद्धर्तुकामः संनकादिसिद्धानेतद्विमर्शं शिवसूत्रजालम् ॥”

तथा सूत्रान्त्याः ण्, क् आदिवर्णाः (अनुबन्धाः) अपि महेश्वरकृता एव ।
अत्र प्रमाणम्—“अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम् ।

धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टासिद्धये ॥”

तत्र सूत्रत्वं नाम किम्-इति प्रश्ने—अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वं सूत्र-
त्वम् । अन्यच्च—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।

अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

तच्च सूत्रं षट्प्रकारकम्भवति—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

नन्वेषां सूत्राणां व्याकरणे किं प्रयोजनमित्यत आह—“अणादिसंज्ञार्थानि”
अण्-आदयः संज्ञा अर्थः=प्रयोजनं येषां तानि-अणादिसंज्ञार्थानि । एषाम्-अइउण्-
इत्यादि चतुर्दशसूत्राणाम्, अन्त्याः-अन्तेऽवसाने भवाः अन्त्याः=णकारादिवर्णाः,
वनाने के लिए श्री शिवजी की कृपा से महर्षि पाणिनि को मिले हैं ।

१-इन चौदहों सूत्रों में अन्त के जो ण्, क्, ड्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्,
य्, र्, ल्-वर्ण हैं वे इत्संज्ञक हैं । अर्थात् अण्, अक्-आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) की सिद्धि
के लिए ये “इत्” कहे जाते हैं । इनकी यह “इ” संज्ञा “हलन्त्यम्” सूत्र से होती है ।

२-हयवर, ल, ञमडणन, झम, घढध, जबगडद, खफघ्ठथचटत, कप, शषस, ह इन
पूर्वोक्त वर्णों में जो अकार है वह केवल उच्चारण के लिए है, क्योंकि अच् के बिना व्यञ्जन
का उच्चारण नहीं होता है (अर्थात् हकार, यकार आदि के साथ उच्चरित अकार का
प्रत्याहार के साथ ग्रहण नहीं होता) । ३-लण् सूत्र के बीच में जो अकार है वह तो
इत्संज्ञक है । (अतएव ‘र’ प्रत्याहार की सिद्धि होती है और “उरण् रपरः” आदि सूत्रों में
‘परः’ से भी कार्यसिद्धि हो जाती है, नहीं तो उरण् ‘लपरः’ कहना पड़ता) ।

*-ये चौदहों सूत्र केवल पाणिनीय व्याकरण के ही उपकारक नहीं हैं किन्तु नागरी
लिपि के ज्ञान के भी मूलकारण हैं । इनमें स्वर तथा व्यञ्जन सभी निहित हैं ।

हलन्त्यम् १।३।३ ॥ ^१उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । ^२उपदेश आद्यो-
च्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।

अदर्शनं लोपः १।१।६० ॥ ^४प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

तस्य लोपः १।३।९ ॥ ^५तस्येतो लोपः स्यात् । ^६णादयोऽणाद्यर्थाः ।

इतः=इत्संज्ञकाः (हलन्त्यमिति सूत्रेण) भवन्ति । “इत्संज्ञाकरणञ्च प्रत्याहारार्थम्” ।

उपदेश इति । अत्र केचन—“धातुसूत्रगणोणादिनामलिङ्गानुशासनम् । आगमाः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः” इति प्रतिपादयन्ति, किन्तु भाष्ये एतेषां तथाऽ-प्रतिपादनात्, पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि-महोदयानामाद्यं प्रथममुच्चारणमेव उप-देशापदेन गृह्यते । ननु बहुषु सूत्रेषु (यथा हलन्त्यमित्यादिषु) तत्स्वरूपं तु अल्पशब्द-कम्, आवश्यकतया वृत्तिस्तु महतीति कुतः—अत आह—सूत्रेष्विति । सूत्रेषु यत्पदं न दृश्यते किन्तु वृत्तौ तत्प्रतिपादनमावश्यकमिति सूत्रान्तरात् तत्पदमनुवर्तनीयम् ।

प्रसक्तस्य = विद्यमानस्येत्यर्थः ।

ननु ‘ण्’ ‘क्’ आदीनामनुबन्धानामित्संज्ञालोपावेव क्रियेते चेत्तेषामुच्चारण-मेवानावश्यकमत आह—‘णादयः’ इति । ‘ण्’ इत्यारभ्य ‘ल्’ पर्यन्ताः सूत्रान्त-वर्णाः अण् अक् आदि प्रत्याहारार्थाः ।

१-उपदेश (प्रथम) अवस्था मे जो अन्त्य (अन्त का अक्षर) हल् वह “इत्” संज्ञा होता है (अर्थात् उसका “इत्” यह नाम होता है) । २-पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं (अर्थात् इन तीनों मुनियों द्वारा जिस शब्द का जिस रूप में पहिले उच्चारण है, वही उपदेश है) जैसे—भू धातु में भू यह उपदेश है और उसी का गुण हो जाने पर जब ‘भो’ हो जाता है तब वह ‘भो’ उपदेश नहीं कहा जाता है—उसी प्रकार सभी जगह जानना चाहिए । ३—जो पद सूत्र में नहीं है और वह उस पद की आवश्यकता है (वा आवश्यकतानुसार वृत्तिकार ने उसे कहा है) उसका दूसरे सूत्र से अनुवर्तन कर लेना चाहिए । (यह अनुवर्तन अष्टाध्यायी के क्रम से प्रायः पीछे के सूत्रों से होता है, कहीं आगे के सूत्रों से भी आकर्षण हो जाता है) । यह नियम सभी सूत्रों के लिए जान लेना चाहिए । ४—विद्यमान शब्द का अदर्शन (नहीं दिखाई देना) लोप संज्ञक होता है । अर्थात् जिस किसी शब्द में पहिले जो अक्षर रहे और बाद में किसी शब्द द्वारा उसकी अविद्यमानता हो जाय (अर्थात् वह शब्द नहीं दिखाई पड़े) उसी को लोप कहते हैं । जैसे—हर इह, हरयिह । यहाँ हर इह में पहिले यकार था उसका “लोपः शाकल्यस्य” इससे लोप हो गया । जब लोप हो गया तब हर इह ऐसा हुआ । जब लोप नहीं हुआ तब हरयिह हुआ । ५—जिसकी इत्संज्ञा होती है उसी का लोप होता है । अर्थात् ‘हलन्त्यम्’ सूत्र से और ‘उपदेशेऽजनुनासिक इत्’ इस सूत्र से जिसकी इत्संज्ञा हो जाती है उसी का लोप होता है । ६—अइउण् आदि सूत्रों में जो ण्, क् आदि इत्संज्ञक हैं वे अण् अक् आ

आदिरन्त्येन सहेता १ । १ । ७१ ॥ 'अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । 'यथा—'अण्'-इति अइउवर्णानां संज्ञा । 'एवमच्-हल्-अलित्यादयः ।

ऊकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतः १ । २ । २७ ॥ उश्च ऊश्च उश्च वः, वांकात्

अन्त्येनेति—(पूर्वं हलन्त्यमिति णकारस्येत्संज्ञा) अन्त्य इत् 'ण्' तत्सहित आदिः—'अ' ('अ-ण्' इति) मध्यगयोः—इकार-उकारयोः—स्वस्य अकारस्य च ग्राहक इति अण् ग्रहणेन अ-इ-उ-त्रयाणां ग्रहणमिति ।

प्रत्याहाराणामकारादिक्रमेण परिगणनम्—

महेश्वरसूत्रसिद्धानाम् तथा वार्तिके पठितानामेवं क्रमः—

१ अक्	७ अण्	१३ एङ्	१६ चर्	२५ झल्	३१ यञ्	३७ वल्
२ अच्	८ अण्	१४ एच्	२० चय्	२६ झश्	३२ यण्	३८ वश्
३ अट्	९ इण्	१५ ऐच्	२१ छव्	२७ झष्	३३ यम्	३९ शर्
४ अम्	१० इक्	१६ खर्	२२ जश्	२८ बश्	३४ यय्	४० शल्
५ अल्	११ इच्	१७ खय्	२३ झय्	२९ मष्	३५ यर्	४१ हल्
६ अश्	१२ उक्	१८ डम्	२४ झर्	३० मय्	३६ रल्	४२ हश्

ऊकालेति—एकमात्रिक (उ) द्विमात्रिक (ऊ) त्रिमात्रिक (उ ३) उच्चारणकालसमानकालिकोऽच् क्रमाद्-ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत-संज्ञको भवति ।

प्रत्याहारों के लिए हैं, लोप के लिए नहीं । (अतः इत्संज्ञक होने पर भी उनका लोप नहीं होता) ।

१—अन्त में रहनेवाले (णकार-आदि के सदृश) जो इत् संज्ञक वर्ण उसके साथ जो आदिवर्ण (अकार आदि तत्सदृश) रहता है, वह मध्य के वर्णों का तथा अपना भी बोधक होता है (यह प्रत्याहार बनाने का ढङ्ग है) । २—जैसे "अण्" प्रत्याहार में अ, इ, उ इन तीनों की अण् संज्ञा है । ३—इसी प्रकार अच्, हल्, अल् इत्यादि प्रत्याहारों की भी जानना चाहिए । (स्पष्टार्थ यह है—कि जैसे आपको अच् प्रत्याहार बनाना है तो इसमें अन्त्य इत् है च्, उसके साथ आदि है, "अ", वह अकार अपने साथ, च् के पहले जितने इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ वर्ण हैं, इन सभी का 'अच्' प्रत्याहार के भीतर ग्रहण करावेगा) इसी प्रकार सभी प्रत्याहार सिद्ध होते हैं । प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए "हलन्त्यम्" तथा "आदिरन्त्येन सहेता" यह दोनों सूत्र याद रहना चाहिए ।

इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । २स प्रत्येक-
मुदात्तादिभेदेन त्रिधा ।

उच्चैरुदात्तः १ । २ । २९ ॥ [१ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे
निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ।]

नीचैरनुदात्तः १ । २ । ३० ॥ [२ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे
निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ।]

समाहारः स्वरितः १ । २ । ३१ ॥ [३उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मो समा-
ह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् ।] ४स नवविधोऽपि प्रत्येकमनु-
नासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १ । १ । ८ ॥ १मुखसहितनासिकयोच्चार्य-
माणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात् । २तदित्यम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां

मुखेन सहिता मुखसहिता, मुखसहिता चासौ नासिका चेति मुखनासिका

१—एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक जो उकार, उनके उच्चारण में जितना जितना समय
लगता है, उसी प्रकार उतना ही समय जिस किसी अच् के उच्चारण में लगे उसे क्रमशः
एकमात्रिक का ह्रस्व संज्ञा, द्विमात्रिक की दीर्घ संज्ञा और त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा दी जाती
है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के जानने के लिये सुन्दर उदाहरण है उषाकाल की मुर्गी का
बोली। २—वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञक अच् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद
से तीन-तीन प्रकार का होता है। जैसे—ह्रस्वोदात्त, ह्रस्वानुदात्त, ह्रस्वस्वरित। दीर्घोदात्त
दीर्घानुदात्त दीर्घस्वरित। प्लुतोदात्त, प्लुतानुदात्त, प्लुतस्वरित। ३—भाग सहित ता
कण्ठ आदि स्थानों के ऊर्ध्वभाग (ऊपर के हिस्से) में निष्पन्न (उच्चारण किया जाने
वाला) अच् उदात्तसंज्ञक (नामक) होता है। ४—भाग सहित तालु कण्ठ आदि स्थान
के अधोभाग (नीचे के हिस्से) से निष्पन्न (उच्चारण किया जानेवाला) अच् अनुदात्त
संज्ञक होता है। ५—उदात्तत्व एवं अनुदात्तत्व ये दोनों (वर्णधर्म) जिस किसी एक अच्
में एकत्र हों, वह अच् स्वरित संज्ञक होता है। ६—वह अच् ह्रस्वोदात्त, ह्रस्वानुदात्त, ह्रस्व
स्वरित—दीर्घोदात्त, दीर्घानुदात्त, दीर्घस्वरित—प्लुतोदात्त, प्लुतानुदात्त और प्लुतस्वरित के
भेद से नव प्रकार का होता हुआ भी अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो प्रकार का
होता है। (अतः अ, इ, उ, ऋ, इन वर्णों के २८ भेद होते हैं, यह आगे तुरन्त बतलाया
जायेगा)। ७—मुख के साथ नाक से उच्चारण किया जाने वाला वर्ण अनुनासिक होता है
जैसे—जायँ में यँ, एवं ज, म आदि। ८—पूर्वोक्त विषयों का फल बताते हैं कि अकारादि
अचों के ये भेद इस प्रकार से इतने होते हैं। जैसे—अ, इ, उ, ऋ ये चारों अच् अठारह
प्रकार के होते हैं (यही नं० ६ में देखिये)।

प्रत्येकमष्टादश भेदाः । ^१लृवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात् । ^२एचामपि द्वादश तेषां ह्रस्वाभावात् ।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १ । १ । १ ॥ ^३ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्न-
श्चेत्येतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात् । (^४ऋलृवर्णयोर्मिथः

उच्यतेऽसौ वचनः, मुखनासिकया (उच्यते) वचनः मुखनासिकावचनः । ऊकालो-
ज्झस्वेत्यादि पञ्चमिः सूत्रैः प्रतिपादितानाम् संग्रहः—तदित्यम् एवं प्रकारेण ज्ञेयम् ।

अचामष्टादशभेदप्रदर्शनम्—

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
ह्रस्व	दीर्घ	प्लुतभेदाः
उदात्तानुनासिक	उदात्तानुनासिक	उदात्तानुनासिक
उदात्ताननुनासिक	उदात्ताननुनासिक	उदात्ताननुनासिक
अनुदात्तानुनासिक	अनुदात्तानुनासिक	अनुदात्तानुनासिक
अनुदात्ताननुनासिक	अनुदात्ताननुनासिक	अनुदात्ताननुनासिक
स्वरितानुनासिक	स्वरितानुनासिक	स्वरितानुनासिक
स्वरिताननुनासिक	स्वरिताननुनासिक	स्वरिताननुनासिक

तुल्यास्यप्रयत्नमिति । अस्यन्ति—उच्चारयन्ति वर्णानिनेनेति-आस्यम् । तत्र भव-
मास्यम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः । आस्यञ्च प्रयत्नश्च-आस्यप्रयत्नौ । तुल्यौ आस्य-
प्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् ।

१—लृकार वारह प्रकार का होता है (अठारह प्रकार का नहीं); क्योंकि इसके ह्रस्व और प्लुत दो ही भेद होते हैं । दीर्घ नहीं होता । २—एच् (ए, ओ, ऐ, औ) ये भी वारह प्रकार के होते हैं, क्योंकि ये ह्रस्व नहीं होते (दीर्घ और प्लुत होते हैं) । ३—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों जिस वर्ण के जिस वर्ण से समान हों (अर्थात् जिन दो वर्णों का स्थान एवं प्रयत्न एक हो) वे परस्पर में सवर्णसंज्ञक होते हैं । जैसे—‘च’ और ‘छ’ इन दोनों का तालु स्थान है, स्पृष्ट प्रयत्न है (अर्थात् ये दोनों समान स्थान और समान प्रयत्नवाले हैं) अतः दोनों का परस्पर (आपस) में सवर्ण संज्ञा होती है । ऐसे ही अन्य वर्णों के विषय में भी समझें । ४—ऋ और लृ इन दोनों की परस्पर में सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए ।

सावर्ण्यं वाच्यम्)* । †अकुहविसर्जनीयानां †कण्ठः । ‡इच्युशानां तालु ।
 ‡ऋट्टुरषाणां मूर्धा । †लृतुलसानां दन्ताः । †उपूषध्मानीयानामोष्ठी । †त्रम-
 ङणनानां नासिका च । †एदौतोः कण्ठतालु । †ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । †वका-
 रस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य †जिह्वामूलम् । †नासिकाऽनुस्वारस्य ।
 †यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो, बाह्यश्च । †आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेष-
 द्विवृतविवृतसंवृतभेदात् । तत्र †स्पृष्टं प्रयत्नं—स्पर्शानाम् । †ईषत्स्पृ-

कस्य वर्णस्य किम् स्थानमित्यत आह—अकुहेत्यादि ।

१—(अठारहों प्रकार के) अकार, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), हकार और विसर्ग का कण्ठ स्थान है । अर्थात् इनका उच्चारण कण्ठस्थान से होता है । २—(अठारहों प्रकार के) इकार, चवर्ग, (च, छ, ज, झ, ञ), यकार, और शकार का तालु स्थान है । अर्थात् ये तालु से उच्चारित होते हैं । ३—ऋकार, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), रकार और षकार का मूर्धा स्थान है । ४—लृकार, तवर्ग (त, थ, द, ध, न), लकार और सकार का दन्त स्थान है । अर्थात् इनके उच्चारण का स्थान दाँत हैं । ५—उकार, पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) और उपध्मानीयों (ष प षफ) के उच्चारण के स्थान दोनों ओष्ठ हैं । ६—व, म, ङ, ण और न का उच्चारण स्थान नाक है (इसमें नासिका च ऐसा पाठ है । इस चकार का अर्थ यह है कि इनके उच्चारणस्थान नाक तथा अपने वर्ग के अनुसार कण्ठ, तालु आदि भी हैं) । ७—ए और ऐ का कण्ठ और तालु स्थान है । ८—ओकार और औकार का कण्ठ और ओष्ठ स्थान है । ९—वकार का दाँत और ओष्ठ स्थान है । १०—जिह्वामूलीय (ष क षख) का जिह्वामूल (जीभ का प्रारम्भ स्थान) स्थान है । ११—अनुस्वार (ँ) का नासिका (नाक) स्थान है । १२—यत्न (प्रयत्न) दो प्रकार का होता है, आभ्यन्तर और बाह्य । १३—उनमें पहिला (आभ्यन्तर प्रयत्न) पाँच प्रकार का होता है । स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत भेद से पाँच प्रकार का होता है । १४—उसमें स्पर्शसंज्ञक वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न होता है (क से लेकर म तक के वर्ण स्पर्श-संज्ञक हैं ।) १५—अन्तःस्थ-संज्ञक वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है (य, र, ल, व ये अन्तःस्थसंज्ञक हैं) ।

* लृतुलसानां दन्ताः । ऋट्टुरषाणां मूर्धा । अर्थात् ऋ और लृ इन दोनों का स्थान भिन्न-भिन्न है, अतः सवर्णसंज्ञा “तुल्यास्यंप्रयत्नं सवर्णम्” से नहीं हो सकती थी और सवर्ण-संज्ञा आवश्यक है—इसलिये वार्तिकारम्भ करते हैं कि ऋ, लृ वर्णों की परस्पर में संवर्ण संज्ञा हो ।

† प्रत्येक वर्णका उच्चारण कण्ठ तालु आदि के अभिघात से होता है, अतः जिस वर्ण के उच्चारण में जो स्थानविशेष सहकारी हैं उसे क्रमशः बताते हैं (“अकुह” इत्यादिसे) ।

ष्टमन्तःस्थानाम् । ^१ईषद्विवृतमूष्मणाम् । ^२विवृतं—स्वराणाम् । ^३ह्रस्वस्या-
ऽवर्णस्य प्रयोगे—संवृतम् । ^४प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । ^५बाह्यप्रयत्न-
स्त्वेकादशधा । विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महा-
प्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । ^६खरो-विवाराः श्वासा अघोषाश्च ।
^७ह्रस्वः—संवारा नादा घोषाश्च । ^८वर्गिणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः यणश्चाऽल्प-
प्राणाः । ^९वर्गिणां द्वितीयचतुर्थी शलश्च महाप्राणाः । ^{१०}कादयो मावसानाः
स्पर्शाः । ^{११}यणोऽन्तःस्थाः । ^{१२}शल ऊष्माणः । ^{१३}अचः स्वराः । ^{१४}—क—ख
इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । ^{१५}—प—फ इति पफाभ्यां
प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः । 'अं' ^{१६}'अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ ।

बाह्यप्रयत्ना यद्यपि सवर्णसंज्ञायामनुपयुक्तास्तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायां
तेषामुपयोगः ।

१—ऊष्मा-संज्ञक वर्णों का ईषद् विवृत प्रयत्न होता है (श, ष, स, ह ये ऊष्मा-संज्ञक
हैं) । २—स्वरों का विवृत प्रयत्न होता है (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ,
औ ये स्वर संज्ञक हैं) । ३—प्रयोग-दशा में (अर्थात् उच्चारणकाल में) ह्रस्व अवर्ण का
संवृत प्रयत्न होता है । ४—साधनावस्था में तो विवृत ही रहता है (दोनों वाक्यों का
निष्कर्ष यह है कि अवर्ण वस्तुतः विवृत है, किन्तु उच्चारण में संवृत मान लिया जाता है) ।
५—बाह्यप्रयत्न तो ग्यारह प्रकार का होता है, विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष,
अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित के भेद से । ६—खर् प्रत्याहार के
(ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स) वर्णों के विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न
होते हैं । ७—ह्रस्व-प्रत्याहार के (ह, य, व, र, ल, व्य, म, ड, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध,
ज, ब, ग, ङ, द) वर्णों के संवार, नाद, घोष, प्रयत्न होते हैं । ८—वर्गों के प्रथम, तृतीय
और पञ्चमवर्ण (अर्थात् क, ग, ङ । च, ज, ञ । ट, ड, ण । त, द, न । प, ब, म) और
यण प्रत्याहार (य, व, र, ल) ये अल्पप्राण प्रयत्नवाले होते हैं । ९—वर्गों के द्वितीय और
चतुर्थ वर्ण (अर्थात् ख, घ, छ, झ, ठ, ड, थ, ध, फ भ) और शल् प्रत्याहार (श, ष, स, ह),
ये महाप्राण प्रयत्नवाले होते हैं । १०—क से लेकर म तकके सभी वर्ण स्पर्श-संज्ञक होते हैं ।
११—यण प्रत्याहार (य, व, र, ल) अन्तःस्थसंज्ञक होते हैं । १२—शल प्रत्याहार (श, ष,
स, ह) ऊष्मा संज्ञक होते हैं । १३—अच् (अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ) स्वर संज्ञक है ।
१४—क और ख से पहले आधे विसर्ग के समान जो —इस प्रकार का चिह्न होगा वह
जिह्वामूलीय संज्ञक होता (कड़लाता) है । १५—प और फ से पहले आधे विसर्ग के समान जो
— इस प्रकार का चिह्न होगा वह उपध्मानीयसंज्ञक होता है । १६—अं और अः इन दोनों
में अं में अच् से परे (ऊपर की ओर) 'अ' अनुस्वार है और अः में अच् से परे-विसर्ग है ।

अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १ । १ । ६९ ॥ ^१प्रतीयते-विधीयते—इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । ^२अत्रैवाऽण् परेण णकारेण । ^३कु चु टु तु पु एते उदिताः । ^४तदेवम्-अ इत्यष्टादशानां संज्ञा । ^५तथेकारोकारौ । ^६ऋकारस्त्रिंशतः । एवम्—^७लृकारोऽपि । ^८एचो द्वादशानाम् । ^९अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेना^{१०}ऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोस्संज्ञा ।

परः सन्निकर्षः संहिता १ । ४ । १०९ ॥ ^{११}वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

हलोऽनन्तराः संयोगः १ । १ । ७ ॥ ^{१२}अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-संज्ञाः स्युः ।

अत्रैवेति । अत्र-अणुदित्सूत्रे-एवाण् परेण णकारेण (लण् सूत्रस्थेनेति भावः) । इतोऽन्यत्र ढ्रलोपे-इत्यादौ पूर्वैर्वाण्प्रत्याहारो ज्ञेयः ।

१-जिसका विधान किया जाय. (वा जिससे ज्ञान हो) उसे प्रत्यय कहते हैं । अविधीयमान अण् और उदित (कु, चु, टु, तु, पु) ये सवर्ण संज्ञक (बोधक) होते हैं । २-केवल 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इसी सूत्र में 'अण्' पद से पर णकार (अर्थात् लण् सूत्र) पर्यन्त माना जाता है । ३-कु कवर्ग (क ख ग घ ङ), चु चवर्ग (च छ ज झ ञ), ट टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), तु तवर्ग (त थ द ध न), पु पवर्ग (प फ ब भ म), ये सभी उदित-संज्ञक हैं । ४-पूर्वोक्त कारणों से "अ" (अकार) अठारह की संज्ञा (बोधक) है । ५-इसी प्रकार "इ" (इकार) "उ" (उकार) भी अठारह-अठारह के संज्ञावाले होते हैं । ६-(ऋ और लृ सवर्णसंज्ञक है अतः) ऋकार ३० तीस की संज्ञा (बोधक) है । ७-इसी प्रकार लृकार भी (तीस की संज्ञा है) । ८-एच् (ए, ओ, ऐ, औ) ये प्रत्येक बारह-बारह की संज्ञावाले हैं । ९-अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से य, व, ल दो-दो प्रकार के होते हैं । १०-इसी कारण से अननुनासिक जो य, व, ल हैं, उनकी दो-दो की संज्ञा होती है । ११-वर्णों का अत्यन्त सन्निधान (एकीकरण) संहितासंज्ञक होता है । जैसे—सुधी+उपास्यः दोनों अलग अलग हैं । इनका जो सुदध्युपास्यः के रूप में एकीकरण होता है वही संहिता है । १२-अचों से अव्यवहित हलों (अर्थात् जिन हलों के बीच में अच् का व्यवधान न हो उन) की संयोगसंज्ञा होती है (जैसे-महत्तम शब्द में दो तकार का संयोग है । इसी प्रकार अनेक का भी समझना चाहिये ।

मुप्तिङन्तं पदम् १ । ४ । १४ ॥ 'सुवन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

✽ इति संज्ञाप्रकरणम् ✽

अथ *अचसन्धिः ।

इको यणचि ६ । १ । ७७ ॥ 'इकः स्थाने यण स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १ । १ । ६६ ॥ 'सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ।

स्थानेऽन्तरतमः १ । १ । ५० ॥ 'प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुध् य् उपास्य इति जाते ।

तदुक्तम्—परेणोवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणोवाण्ग्रहा मताः ।

ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

* इति संज्ञाप्रकरणम् *

✽ ० ✽

सुध्युपास्यः—'सुधी + उपास्यः' इति दशायां 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रद्वयसहकारेण 'इको यणचि' इति सूत्रेण धकारनिष्ठे-

१-सुवन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है जैसे 'रामः' यह सुवन्त तथा 'भवात्' यह तिङन्त दोनों ही पद हैं, इसी प्रकार सभी सुवन्त तथा तिङन्त पद कहे जाते हैं ।

* इस प्रकार संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ *

✽ ० ✽

२-इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में यण् (य, व, र, लृ) हो, अचि (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहते, संहिता (सन्धि) के विषय (विवक्षा) में । (वह यण् किस को हो इस शंका को दूर करने के लिए 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस सूत्र का आरम्भ करते हैं)—३-सप्तमीनिर्देश द्वारा किया जाने वाला कार्य वर्णान्तर से अव्यवहित पूर्व को होता है (यहाँ सप्तमी निर्देश है 'इको यणचि' में अचि पद, उससे किया जाने वाला कार्य है "यण", वह अव्यवहित पूर्व को अर्थात् 'सुधी+उपास्यः' में 'धी' के 'इ' को होगा । ४-प्रसङ्ग (सन्धि-प्रसङ्ग) होनेपर अत्यन्त सदृश ही आदेश होता है । जैसे—इच्युयशानां तालु, अर्थात् इकार यकार का एक स्थान (तालुस्थान) है । अतः 'इ' के स्थान में 'य' ही होगा ।

* अब अच-सन्धि प्रकरण का प्रारम्भ हो रहा है । अच-सन्धि अर्थात् अचों की सन्धि (परस्पर मिलन) इस प्रकरण में बतायी गयी है ।

अनचि च ८ । ४ । ४७ ॥ ^१अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो, न त्वचि ।
इति धकारस्य द्वित्वम् ।

झलां जश् झशि ८ । ४ । ५३ ॥ ^२स्पष्टम् । इति पूर्वधकारस्य दकारः ।
संयोगान्तस्य लोपः ८ । २ । २३ ॥ ^३संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः
स्यात् ।

अलोऽन्त्यस्य १ । १ । ५२ ॥ ^४षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याऽल आदेशः स्यात् ।
इति यलोपे प्राप्ते । (^५यणः प्रतिषेधो वाच्यः) ^६सुद्ध्युपास्यः । ^७मध्वरिः ।
^८धात्रंशः । ^९लाकृतिः ।

कारस्य यकारे, 'अनचि च' इत्यनेन धकारस्य द्वित्वे 'सु ध् ध् य् उपास्यः'
इति स्थिते, 'झलां जश् झशि' इति पूर्वधकारस्य दकारे, अलोऽन्त्यस्येति सहकारेण
'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन यकारस्य लोपे प्राप्ते, 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति
यलोपस्य निषेधे, वर्णसम्मेलने च कृते 'सुद्ध्युपास्यः'—इति सिद्धम् । द्वित्वाभाव-
पक्षे 'सुद्ध्युपास्यः' इति । 'मधु + अरिः' इति स्थिते 'स्थानेऽन्तरतमः' इति स्थानत
आन्तर्यादुकारस्य वकारे, अनचि चेति धकारस्य द्वित्वे, 'झलां जश् झशि'

२-अच से परे जो यर् उसको विकल्प से द्वित्व हो किन्तु उससे परे में (आगे) अच्
न हो तब । जैसे यहाँ 'सुद्ध्यु उपास्यः' के सु में उकार अच् है, उससे परे यर् है 'ध्' उसको
द्वित्व हो गया; इस धकार के बाद भी यदि कोई अच् होता तो द्वित्व नहीं होता । २-झल्
को झश् पर होने पर जश् होता है । जैसे झल् प्रत्याहारस्थ वर्ण है 'धकार' उसके बाद का
धकार झश् प्रत्याहारान्तर्गत है, अतः पूर्व धकार (झल्) का दकार (जश्त्व) हो गया ।
तब सुद्ध्यु उपास्यः ऐसा स्थित हुआ । ३-संयोगान्त जो पद उसका लोप होवे । (यहाँ
शंका इस बात की होती है कि यदि समस्त संयोगान्त पद का लोप कहते हैं तब तो दध्यु
तीनों का लोप होना चाहिए । इस शंका के निराकरण के लिए अलोऽन्त्यस्य सूत्र का आरम्भ
करते हैं) ४-षष्ठी निर्देश द्वारा किया जाने वाला कार्य अन्त्य अल् के स्थान में होता है ।
यहाँ "संयोगान्तस्य" यह षष्ठी है, इससे विधीयमान कार्य "लोप" है, वह अन्त्य को होगा ।
अर्थात् यकार का लोप प्राप्त होता है । ५-संयोगान्त यण के लोप का प्रतिषेध (निषेध)
कहना चाहिये । (पूर्वोक्त प्रक्रिया से सुद्ध्युपास्यः की सिद्धि होती है) । ६-सुद्ध्युपास्यः—
सुधीभिः उपास्यः सुद्ध्युपास्यः—विद्वानों के उपासनायोग्य परब्रह्म ब्रह्म-विष्णु-महेशादि-
रूपधारी । ७-मध्वरिः—मधोः दैत्यस्य अरिः मध्वरिः । मधुनामक दैत्य के अरिः=शत्रु भगवान्
विष्णु । ८-धात्रंशः-धातुः अंशः धात्रंशः । श्रीब्रह्माजी का अंश । ९-लाकृतिः—लृ इवाकृतिः
लाकृतिः । लृ की तरह है आकृति जिनकी अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ।

एचोऽयवायावः ६ । १ । ७८ ॥ ^१एचः क्रमादय् अक् आय् आव् एते स्युरचि ।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १ । ३ । १० ॥ ^२समसस्वन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । ^३हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ।

वान्तो यि प्रत्यये ६ । १ । ७९ ॥ ^४यकारादौ प्रत्यये परे ओदीतोरव् आव् एतो स्तः । ^५गव्यम् । ^६नाव्यम् । (^७अव्वपरिमाणे च) ^८गव्यूतिः ।

इति पूर्वधकारस्य दकारे, 'अलोऽन्त्यस्य' इति सहकारेण 'संयोगान्तस्य लोपः' इति वलोपे प्राप्ते, 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति तन्निषेधे 'मदध्वरिः' इति । एवं 'धात्वंशः' 'लाकृतिः' इत्यादयोऽपि बोध्याः ।

'हरे + ए', 'विष्णो + ए', 'नै + अकः', 'पौ + अकः' इत्यादिषु 'यथासंख्यमनुदेशः समानामिति' सहकारेण 'एचोऽयवायावः' इति सूत्रेण यथाक्रमम् 'ए'कारस्य स्थाने 'अय्' 'ओ'कारस्य स्थाने 'अव्' 'ऐ'कारस्य स्थाने 'आय्' 'औ'कारस्य स्थाने 'आव्' स्वरूपा आदेशा इति हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः इत्यादयः सिद्धयन्ति ।

गव्यूतिः—'गो + यूतिः' इति दशायां 'वान्तो यि प्रत्यये' इति सूत्रप्रकरणे अध्वपरिमाणे चेति पठितवार्तिकेन ओकारस्यावादेशे सिद्धं रूपं गव्यूतिरिति । अत्र संज्ञामङ्गमयाल्लोपः शाकल्यस्येति वलोपो न । 'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः ।

१-अच् पर में होवे तो एच् (ए, ओ, ऐ, औ) को क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं । (किसी प्रकार का व्युत्क्रम न हो जाय इस लिए यथासंख्य सूत्रका आरम्भ करते हैं) २-सम-सम्बन्धी जो विधि वह यथासंख्य अर्थात् यथाक्रम-सिलसिलेवार से होती है । ३-हरये, विष्णवे-हरि के लिये, विष्णु के लिये नमस्कार है वा समर्पित है आदि । नायकः-नेता, प्रधान । पावकः-पवित्र करने वाला अग्नि । ४-यकारादि (यकार हो आदि में जिसके ऐसे) प्रत्यय हो पर में जिसके ऐसे ओ ओर औ को क्रम से अव् आव् आदेश होते हैं । ५-गव्यम्-गोविकारो गव्यम् । गौ-सम्यन्धी दूध, दही, घी आदि । ६-नाव्यम्-नावा तार्यम् नाव्यम्-नौका से पार करने योग्य जल । ७-रास्ता का परिमाण-वाचक हो और 'यूति' शब्द पर में हो तो गो शब्द के ओकार को अवादेश होता है । जैसे-गो+यूतिः गव्यूतिः । ८-"गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्" इत्यमरः । दो कोस को गव्यूति कहते हैं ।

अदेङ् गुणः १ । १ । २ ॥ ^१अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात् ।

तपरस्तत्कालस्य १ । १ । ७० ॥ ^२तः परो यस्मात्स च तात्परश्चो-
च्चार्यमाणः समकालस्यैव संज्ञा स्यात् ।

आद् गुणः ६ । १ । ८७ ॥ ^३अवर्णादत्रि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः
स्यात् । ^४उपेन्द्रः । ^५गङ्गोदकम् ।

उपदेशेऽनुनासिक इत् १ । ३ । २ ॥ ^६उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः
स्यात् । ^७प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । ^८लण् सूत्रस्थाऽवर्णेन सहोच्चार्य-
माणो रेफो रलयोः संज्ञा ।

उरण् रपरः १ । १ । ५१ ॥ ^९'ऋ' इति त्रिशतः सञ्ज्ञत्युक्तम् । तत्स्थाने

'तः परो यस्मात्' इत्यस्योदाहरणम्—'ऋत इद्धातोः' इत्यत्र ऋत 'इत्'
इति । 'तात्परस्तपरः' इत्यस्योदाहरणम्—तथोभयोरपि एकत्रोदाहरणम्—'ईदू-
देद्विवचनं प्रगृह्यम्' इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

उपेन्द्रः—'उप + इन्द्रः' इत्यवस्थायामाद् गुणः इति पूर्वपरयोरकारेकारयोः
स्थाने एकारे गुणे कृते तत्सिद्धिः ।

१—अत् (ह्रस्व) अकार और एङ् प्रत्याहार (ए, ओ) ये दो गुण संज्ञा (नाम) वाले होते हैं । २—जिस वर्ण के तकार परे (अर्थात् पीछे) अथवा तकार से परे (बांद) जो वर्ण उच्चारण किया जाता है, वह समकाल का ही बोधक होता है । जैसे—“अतो भिस् ऐस्” इसी सूत्र में देखो । केवल ह्रस्व-अकार इसी लिए माना जाता है कि अ से परे तकार है । “ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्” इस सूत्र में त से परे हो जो और त हो परे जिससे ये दोनों पक्ष हैं, अतः केवल दीर्घ ई, ऊ का ही ग्रहण होता है । ३—अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व और पर दोनों अचों के स्थान पर गुण नामक एक आदेश होता है । जैसे—उप + इन्द्रः में पकारोत्तरवर्ती अकार और इन्द्रः का इकार दोनों मिलकर एकार के रूप में हो गये, तब उपेन्द्रः की सिद्धि हुई । इसी प्रकार गङ्गा+उदकम् में आ, उ मिलकर “ओ” गुण हो गया, तब गङ्गोदकम् बना । ४—उपेन्द्र—इन्द्र के छोटे भाई, वामन भगवान् ५—गङ्गोदकम्—गङ्गा का जल । ६—उपदेश अवस्था में अनुनासिक जो अच् उसकी इत्संज्ञा होती है । ७—पाणिनि आदि से कहे गये वर्ण, उनकी प्रतिज्ञा से ही जाने जाते हैं । (अर्थात् कौन अनुनासिक हैं ये उनकी प्रतिज्ञा से ही जाने जाते हैं) । ८—“लण्” सूत्र के मध्य में जो रेफ वह 'र' और 'ल' दोनों की संज्ञा (बोधक) है (अर्थात् 'र' प्रत्याहार सिद्ध हुआ) । इसका फल 'उरण् रपरः' सूत्र में है । ९—“ऋ” तीस प्रकार का होता है, यह पहले ही कहा गया है । उस ऋ के स्थान में होनेवाला जो अण् वह रपर के ही रूप में परिणत होता है (अर्थात्

योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णाद्धिः । तवल्कारः ।

लोपः शाकल्यस्य ८ । ३ । १९ ॥ ^१अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो चाऽशि परे ।

पूर्वत्रासिद्धम् ८ । २ । २ ॥ ^२सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् । हर इह । हरयिह । विष्ण इह । विष्णविह ।

वृद्धिरादैच् १ । १ । १ ॥ ^३आदैच्च वृद्धिसञ्ज्ञः स्यात् ।

कृष्णाद्धिः—‘कृष्ण + ऋद्धिः’ इति दशायाम् ‘आद् गुणः’ इति सूत्रेण पूर्व-परयोः—अकार-ऋकारयोः स्थाने ‘उरण् रपरः’ इति सूत्र-सहकारेण (अर्) रपूर्वकः अकारो गुणादेशः इति तत्सिद्धम् ।

तवल्कारः—‘तव + लृकारः’ इति दशायाम् ‘आद् गुणः’ इति पूर्वपरयोः स्थाने (रकारेण रलयोग्रहणात्) ‘उरण् रपरः’ इति सहकारेण अलादेशे गुणे कृते तत्सिद्धिः ।

हर इह हरयिह—‘हरे + इह’ इत्यवस्थायाम् ‘यथासंख्यमनुदेशः समानाम्’ इति सहकारेण ‘एचोऽयवायावः’ इति सूत्रेणयादेशे ‘लोपः शाकल्यस्य’ इति यकार-लोपे ‘हर इह’ इति स्थिते ‘आद् गुणः’ इति प्राप्तोऽपि गुणो न भवति, पूर्वत्रासिद्ध-मिति शास्त्रेण सपादसप्ताध्यायि आद्गुण इति सूत्रदृष्ट्या त्रिपादी ‘लोपः शाकल्य-स्य’ इत्यसिद्धम् स्यात्, अर्थात् मध्ये एव दृश्येत इति न गुणः । लोपाभावपक्षे हरयिह इति । एवमेव विष्ण इह, विष्णविह इमावपि ज्ञेयौ ।

ऋ को गुण अर् होता है) । कृष्णाद्धिः—भगवान् श्राकृष्ण की समृद्धि । तवल्कारः—तुम्हारा लृकार ।

१—अवर्ण पूर्वक पदान्त में रहने वाले जो यकार, वकार, उनका विकल्प से लोप होता है अश् प्रत्याहार पर में हो तब । २—सपाद-सप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी का सूत्र असिद्ध हो जाता है और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर-सूत्र असिद्ध होता है (निष्कर्ष यह है कि पाणिनीय व्याकरण के सूत्र आठ अध्यायों में विभक्त हैं । उनमें सवा सात अध्याय के सूत्रों के प्रति आठवें अध्याय के अवशिष्ट तीन पाद वाले सूत्र असिद्ध हो जाते हैं और उस त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध होते हैं) (यहाँ इस सूत्र का आरम्भ गुणनिवारणार्थ है) । हर इह—हे हरि ! यहाँ आओ । विष्ण इह—हे विष्णु ! यहाँ आओ । ३—आ, ऐ, औ को वृद्धि संज्ञा होती है । (अर्थात् आ, ऐ, औ चाहे एकादेश के रूप में या किसी प्रकार से जहाँ कहीं भी हों प्रायः उन्हें “वृद्धि” नाम से समझना) ।

वृद्धिरेचि ६। १। ८८ ॥ ^१आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाप-
वादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

एत्येधत्पूठसु ६। १। ८९ ॥ ^२अवणदिजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धि-
रेकादेशः स्यात् । उपैति । उपैधते । प्रष्टीहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा
भवान्प्रेदिधत् । *अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् । अक्षौहिणी सेना । *प्रादूहो-
ढोढ्येषैष्येषु । प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । *ऋते च
तृतीयासमासे । सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् ? परमर्तः ।

कृष्णैकत्वम्—‘कृष्ण + एकत्वम्’ अत्राद् गुण इति गुणः प्राप्नोति किन्तु तद्-
पवादक वृद्धिरेचोति सूत्रेणाकारकारयोः स्थाने वृद्धिरूप ‘ऐकारादेशे’ ‘कृष्णैकत्वम्’
इति । एवं ‘गङ्गौघः’ इत्यादावपि ज्ञेयम् ।

उपैति—‘उप + एति’ इति दशायाम् ‘एत्येधत्पूठसु’ इति—‘अकारकारयोः’
स्थाने ऐकारादेशे ‘उपैति’ इति । उपैधते—उप + एधते इति विग्रहः । प्रष्टीहः—
‘प्रष्ठ + ऊहः’ इति विग्रहः ।

प्रौहः—‘प्र + ऊहः’ इति विग्रहे ‘प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु’ इति पूर्वपरयोः स्थाने
वृद्धिरेकादेशे तत्सिद्धम् । एवं प्र + ऊढः, प्र + ऊढिः, प्र + एषः, प्र + एष्यः इत्यादि
विग्रहे तत्तत्प्रयोगाः बोध्याः ।

१—अवर्ण से एच् परे रहते पूर्व और पर के स्थान में ‘वृद्धि’ (नामक) एकादेश होता है । यह वृद्धि गुण का बाधक है । कृष्णैकत्वम्—श्रीकृष्ण की एकता । गङ्गौघः—गङ्गा का प्रवाह । देवैश्वर्यम्—देवताओं का ऐश्वर्य । कृष्णौत्कण्ठ्यम्—श्रीकृष्ण की उत्कण्ठता ।
२—अवर्ण से एजादि जो एति, एधति या ऊह् शब्द परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । यह सूत्र पररूप और गुण का अपवाद (बाधक) है । उपैति—समीप में आता है । उपैधते—समीप में बढ़ रहा है । प्रष्टीहः—दुष्ट बख्खवा बँल आदि के निग्रहार्थ उनके गले में बाँधे जाने वाले काष्ठ का नाम । उपेतः—समीप में आया हुआ । मा भवान्प्रेदिधत्—आप अधिक मत बढ़ावें । ३—अक्ष शब्दावयव अवर्ण से परे ऊहिनी शब्दावयव अच् हो तो दोनों के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है । अक्षौहिणी—एक सेना का नाम (भेद) है । ४—“प्र” शब्द के अवर्ण से परे ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, या एष्य—सम्बन्धी अच् रहे तो पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । प्रौहः—अत्यन्त तर्क करने वाला । प्रौढः—अत्यन्त बलवान् (युवा) । प्रौढिः—प्रौढता-बढ़प्पन । प्रैषः—भेजना । प्रैष्यः—भेजने योग्य (शिष्य आदि) । ५—अवर्ण से ऋत शब्द सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व और पर के स्थान में भी वृद्धि एकादेश होता है, किन्तु तृतीयः समास हो तब । सुखार्तः सुखसे प्राप्त । परमर्तः—परम प्राप्त ।

ॐ प्र-वत्सतर कम्बल-वसना ण-दशानामृणे । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् इत्यादि ।

उपसर्गाः क्रियायोगे १ । ४ । ५९ ॥ ३ प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र परा अप सम् अनु अव निस्, निर् दुस्, दुर् वि आङ् नि अधि अभि भति सु उद् अभि प्रति परि उप-एते प्रादयः ।

भूवादयो धातवः १ । ३ । ११ ३ क्रियानाचिनो भूवादयो धातुसंज्ञाः स्युः । उपसर्गादृति धातौ ६ । १ । ९१ ॥ ४ अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्राच्छति ।

एङि पररूपम् ६ । १ । ९४ ॥ ५ आदुपसर्गादिडादौ धातौ पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति ।

अचोऽन्त्यादि टि १ । १ । ६४ ॥ ६ अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तद्विसंज्ञं स्यात् । ॐ शकन्धादिषु पररूप वाच्यम् । तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्त्तण्डः ।

प्राणम्-‘प्र + ऋणम्’ इत्यत्र ‘प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे’ इत्यनेन-परण् रपरः’ इति सहकारेणार्-वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धिः ।

भूवादय इति-भूश्च वाश्च भूवौ, आदिश्च आदिश्च आदी, भूवावादी येषां ते भूवादयः इति विग्रहः । तथा च भूप्रभृतयो वा सदृशा इत्यन्वयः ।

प्रेजते-‘प्र + एजते’ इत्यवस्थायां, एङि पररूपमिति पररूपे कृते तत्सिद्धिः । मनीषा-‘मनस् + ईषा’ इत्यवस्थायां- (‘अचोऽन्त्यादि टि’ इति) मकारा-

१-प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, और दश शब्द के अवर्ण से परे जो ऋण भूवावयव अच्, उनके (पूर्व-परके) स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । प्रार्णम्-अत्यधिक ऋण । वत्सतरार्णम्-बछड़े के लिए कर्ज । कम्बलार्णम्-कम्बल के लिए कर्ज । वसनार्णम्-पड़े के लिए कर्ज । ऋणार्णम्-एक कर्ज को भरने के लिए अन्य ऋण । २-क्रिया योग में “प्र” आदि उपसर्ग संज्ञक होते हैं । ३-क्रिया को कहनेवाले जो “भू” आदि हैं, वे धातु संज्ञक (नामवाले) होते हैं । ४-अवर्ण है अन्त में जिसके ऐसे उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है । ५-अवर्णान्त उपसर्ग से एडादि धातु परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है (अर्थात् पर का जो रूप रहता है वही दोनों के मिल जाने पर भी हो जाता है) । ६-प्र एजते-इसमें प्र का अकार एवं एजते का एकार मिलकर “ए” ऐसा पररूप आया इत्यादि । प्रेजते-अधिक कांपता है । उपोषति-जलाता है । ७-अचां के अन्त्य अच् वह है आदि में जिसके वृद्धि समुदाय “टि” संज्ञक होता है ।

ओमाङोश्च ६।१।९५ ॥ ^१ओमि आङि चाऽत्परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायो नमः । शिव-एहि ।

अन्तादिवच्च ६।१।८५ ॥ ^२योऽयमेकादेशः स पूर्वस्याऽन्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । शिवेहि ।

अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१ ॥ ^३अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घे एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । होतृकारः ।

एङः पदान्तादति ६।१।१०९ ॥ ^४पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ।

कारयोर्मध्येऽन्त्यः अच् नकारोत्तरवर्त्यकारः, सः 'अस्' इत्यस्य आदिः तस्य दिसंज्ञा । एवञ्च शकन्ध्वादित्वाट्टेः पररूपे, अस् इत्यस्य स्थाने ईकारे कृते 'मनीषा इति रूपं सिद्धम् । आकृत्या स्वरूपेणैव गण्यते इति आकृतिगणः ।

शिवेहि—'शिव + आ + इहि' इत्यवस्थायां 'शिव + आ' इत्यत्राकः स दीर्घ इति दीर्घे प्राप्ते, 'आ + इहि' इत्यत्राद्यं गुण इति गुणे च प्राप्ते 'घातूपसर्गाकार्यमन्तरङ्गम्' 'तद्भिन्नं बहिरङ्गम्' इति नियमेन गुणस्यान्तरङ्गत्वात्, दीर्घस्य बहिरङ्गत्वात् पूर्वं गुणे कृते 'शिव + एहि' इति स्थिते, अन्तादिवच्चेति पूर्वान्तरमावेनाङ्त्वे, ओमाङोश्चेति पररूपे च कृते तत्सिद्धिः ।

गण में पठित शब्दों का भी पररूप कहना चाहिए। वह पररूप "टि" को ही होता है। शकन्धुः—शक नामक देश का कुँआ। कर्कन्धुः—बेर-वृक्ष। मनीषा बुद्धि। मार्त्तण्डः—सूर्य।

१—अवर्ण से परे ओम् या आङ् हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। शिवायो नमः—श्री शिवजी को नमस्कार है। २—जो यह एकादेश है, वह पूर्व पर अन्त जैसा और पर पद के आदि जैसा होता है। शिवेहि—हे शिव! आश्ये (आओ)

३—अक् (अ, इ, उ, ऋ, लृ) से सवर्णी अच् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) पर रहते पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है। जैसे—'दैत्य+अरि' 'यकारस्थ अकार' और 'अरिः' का आदि अकार मिल कर दीर्घ आकार हो गया। इत्य

दैत्यारिः—दैत्यों के शत्रु (भगवान्)। श्रीशः—लक्ष्मी के पति (विष्णु)। विष्णूदयः—श्री विष्णु का प्रकाश। होतृकारः—हवन करने वाले का ऋकार। ४—पदान्त

अकार पर रहते पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। जैसे—हरे

हरे+अव है। यहाँ हरे इस पद के अन्त में 'ए' है और 'अव' पद के आदि में 'अ' का

दीर्घ। पूर्वरूप अर्थात् एकार-रूप हो गया, तब हरेऽव बना। हरेऽव—हे

सर्वत्र विभाषा गोः ६ । १ । १२२ ॥ 'लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात् पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् ? चित्र-
ग्वग्रम् । पदान्ते किम् ? गोः ।

अनेकाल् शित्सर्वस्य १ । १ । ५५ ॥ [अनेकाल् य आदेशः शिदा-
देशश्च स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने स्यात्]—इति प्राप्ते ।

डिच्च १ । १ । ५३ ॥ 'डिङ्दनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् । ३

अवङ् स्फोटायनस्य ६ । १ । १२३ ॥ 'पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा
स्यादचि । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । पदान्ते किम् ? गवि ।

इन्द्रे च ६ । १ । १२४ ॥ 'गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ।

दूराद् धूते च ८ । २ । ८४ ॥ 'दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा
स्यात् ।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६ । १ । १२५ ॥ 'एतेऽचि प्रकृत्या स्युः ।
आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति ।

इद्वेदद्विवचनं प्रगृह्याम् १ । १ । ११ ॥ 'इद्वेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं
स्यात् । हरी एती । विष्णु इमी । गङ्गे अम् ।

गवाग्रम्—'गो + अग्रम्' इति विग्रहे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन प्राप्त
प्रकृतिभावं प्रबाध्य परत्वात् 'अवङ् स्फोटायनस्येत्यवङ्, अनुबन्धलोपे, 'अकः सवर्णे
दीर्घः' इति दीर्घे 'गवाग्रम्' इति ।

१—लोक अथवा वेद में एङन्त जो गो शब्द उसको विकल्प से प्रकृतिभाव होता है, अत्
ह्रस्व (अकार) परे रहते पदान्त के विषय में । गो अग्रम्—गौ का अग्रभाग । चित्रग्वग्रम्—
चित्र विचित्र गौ वाले व्यक्ति के आगे । २—अनेक-अर्लों के और शित् के स्थान में जो आदेश
बह सम्पूर्ण के स्थान में होता है । ३—(डिङ्) ड्कार की इत्संज्ञा है जिसमें ऐसा जो अनेकाल्
वह भी सम्पूर्ण के स्थान में ही होता है । ४—एङन्त जो गो शब्द उसको अवङ् आदेश होता
है अच् परे रहते पदान्त के विषय में । गवि गौ में । ५—यदि इन्द्र शब्द पर में हो तो 'गो'
शब्द को अवङ् आदेश होता है । गवेन्द्रः—गार्यों के स्वामी (साँड़) । ६—दूर से बुलाने
(सम्बोधन करने) वाले वाक्य को टि को विकल्प से प्लुत संज्ञा होती है । ७—प्लुत और प्रगृह्य
को नित्य ही प्रकृति-भाव होता है अच् परे रहते । प्रकृति-भाव शब्द का अर्थ यह है कि
उस रूप में कोई सन्धिकृत विकार नहीं आता है । जैसा विग्रह काल में उच्चारण किया जाता
है वैसा ही रह जाता है । जैसे—आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति—हे कृष्ण ! आओ यहाँ गौ
चरती है । ८—इदन्त, ऊदन्त, और एदन्त जो द्विवचन उसको प्रगृह्य संज्ञा होती है । हरी
एती—ये दोनों हरि हैं । विष्णु इमी—ये दोनों विष्णु हैं । गङ्गे 'दोनों गङ्गा हैं ।

अदसो मात् १ । १ । १२ ॥ ^१अस्मात्परावीदूतो प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् ? अमुकेऽत्र ।

चादयोऽसत्त्वे १ । ४ । ५७ ॥ ^२अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः । प्रादयः १ । ४ । ५८ ॥ एतेऽपि तथा स्युः ।

निपात एकाजनाङ् १ । १ । ४ ॥ ^४एकोऽच् निपात आङ्त्वर्जः प्रगृह्य स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । ^५वाक्यस्मरणयोरङित् । आ एवं नु मन्यसे आ एवं किल तत् ! अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम्-ओष्णम् ।

ओत् १ । १ । १५ ॥ ^६ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्वे १ । १ । १६ ॥ ^७सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो इति । विष्ण इति । विष्णविति ।

मय उजो वो वा ८ । ३ । ३३ ॥ ^८मयः परस्य उजो वो वा स्यादचि किम्बुक्तम् । किमु उक्तम् ।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६ । १ । १२७ ॥ ^९पदान्ता इव

वाक्यस्मरणयोरङित्—भाष्यश्लोकस्यायमन्तिमः पादः । पूर्णश्लोकस्त्वित्यम्

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।

एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

१-अदस् शब्द सम्बन्धी मकार से परे इत् (ईकार) ऊत् (ऊकार) की प्रगृह्य संज्ञा होती है । अमी ईशाः-ये स्वामी है, समर्थ हैं । रामकृष्णावमू आसाते-ये बलराम और कृष्ण बैठे हैं । अमुकेऽत्र वे दोनों यहाँ हैं । २-अद्रव्यार्थवाची (अर्थात् जिनसे लिङ्ग, संख्य और कारक का बोध न होता हो ऐसे) चादि वर्ण निपात-संज्ञक होते हैं । जैसे-च, ह, व इत्यादि । ३-अद्रव्यार्थ वाची प्रादियों की भी निपात संज्ञा होती है । ४-आङ् को छोड़कर निपात जो एक अच् वह प्रगृह्यसंज्ञक होता है । इ इन्द्रः-ओह ! यह इन्द्र है । उ उमेशः-क्या वह पार्वती के पति शिव है । ५-"आङ्" शब्द वाक्य और स्मरण के विषय में ङित् रहित अर्थात् केवल "आ" के रूप में रहता है और अन्यत्र "आङ्" ऐसा ङित्-सहित रहता है । जैसे-आ एवं नु मन्यसे आदि । आ एवं नु मन्यसे-क्या तुम निश्चय ऐसा ही मानते हो ? आ एवं किल तत्-हाँ वह ऐसा ही है । ओष्णम्-कुछ उष्ण । ६-ओदन्त जो निपात वह प्रगृह्यसंज्ञक होता है । अहो ईशाः-अहो ये स्वामी-समर्थ प्रभु हैं । ७-अवैदिक शब्द परे रहते सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार को विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा होती है । विष्णो इति है विष्णु ! यह ऐसा-इस प्रकार । ८-मय से परे उच् को वकार आदेश होता है विकल्प से । किमु उक्तम्, किम्बुक्तम्-क्या तुमने, तुमने, उसने, मैंने वा क्या कहा ? ९-पदान्त

ह्रस्वो वा स्युरसवर्णेऽचि परे । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि
अत्र । चक्रयत्र । पदान्ता इति किम् ? गौर्यौ ।

अचो रहाभ्यां द्वे ष । ४ । ४६ ॥ १अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य
यरो द्वे वा स्तः । गौर्यौ । *न समासे । वाप्यश्चः ।

ऋत्यकः ६ । १ । १२८ ॥ २ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा ।
ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आच्छत् ।

इत्यच्सन्धिः ।

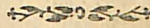


ह्रस्वविधिसामर्थ्यादिति—यदि कृतेऽपि ह्रस्वे यणादिकं स्यात्तर्हि ह्रस्वविधान-
मेवानर्थकं स्यात्, दीर्घस्यापि यणि रूपवैचित्र्याभावात् इति भावः ।

ब्रह्म ऋषिः—भ्रत्रापि ह्रस्वविधिसामर्थ्याद् आद् गुण इति गुणो न ।

आच्छत्—‘आडजादीनाम्’ इति ज्ञातस्याडागमस्य धात्ववयवत्वेन पदान्तत्वा-
भाव इति भावः ।

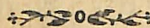
* इत्यच्सन्धिः *



को विकल्प से ह्रस्व होता है, असवर्ण ‘असमान’ अच् परे रहते । जैसे—चक्रि+अत्र में
पदान्त इक चक्री—निष्ठ ई है और असमान अच् है अत्र का “अ” (इत्यादि) । ह्रस्व के बाद
में यणादिक की प्राप्ति होगी किन्तु ह्रस्व के विधान सामर्थ्य (अर्थात् यदि यण् ही इष्ट रहा
तो ह्रस्व क्यों किया जाय) से पुनः स्वरसन्धि नहीं होगी । चक्रि-अत्र, चक्रयत्र—सुदर्शन-
चक्रधारी विष्णु भगवान् यहाँ हैं । गौर्यौ—दो गौरी ।

१-अच् से परे जो रेफ या हकार उनसे परे जो यर् प्रत्याहार के कोई वर्ण रहें तो
उनको विकल्प से द्वित्व होता है । जैसे—“गौर्यौ” में अच् है गौ का “औ” उससे परे रेफ है,
उससे परे है यर् का य, उसको द्वित्व हो गया, तब गौर्यौ बना । २-समास में पदान्त इक्
को ह्रस्व नहीं होता है । जैसे—वाप्यामश्चः वाप्यश्चः । यहाँ समास है अतः ह्रस्व नहीं हुआ,
यण् ही हुआ । वाप्यश्चः बावली (छोटा तालाब) के किनारे पर धोड़ा है । ३-ऋत्
(ह्रस्व ऋकार) पर में हो तो पदान्त अक् को पहिले की भाँति जानना अर्थात् ह्रस्व होता
है । ब्रह्मर्षिः— ब्राह्मण अत्यन्त तपस्या के बाद इस पद को प्राप्त करता है । आच्छत्—वह
चला गया ।

॥ अच्सन्धि समाप्त ॥



अथ *हल्सन्धिप्रकरणम् ।

स्तोः इचुना इचुः ८ । ४ । ४० ॥ ^१सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योः शकारचवर्गो स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शाङ्गिञ्जय

शात् ८।४।४४ ॥ ^२शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः । ष्टुना ष्टुः ८ । ४ । ४१ ॥ ^३स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्पष्टः रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

न पदान्ताद्वोरनाम् ८ । ४ । ४२ ॥ ^४पदान्ताद्ववर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् ? ईट्टे । टोः किम् सर्पिष्टमम् ।

रामश्चिनोति—‘रामस् + चिनोति’ इत्यत्र ‘स्तोः इचुना इचुः’ इति सकारस्य स्थाने शकारे कृते ‘रामश्चिनोति’ इति सिद्धम् ।

ईट्टे—‘ईड् + ते’ इत्यवस्थायां डकारस्य पदान्तत्वाभावेन ष्टुत्वनिषेधात् ष्टुत्वेन तकारस्य टकारे, चत्वेन डकारस्य टकारे कृते रूपम् ।

टोः किमिति—टोर्ग्रहणाभावे पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्य तोः ष्टुत्वं स्यति । षकारस्य पदान्तत्वात्, ततः परस्य तमपस्तकारस्य ष्टुत्वं न स्यादिति निष्कर्षः ।

१—सकार और तवर्ग (त, थ, द, ध, न,) का यदि शकार और चवर्ग (च, छ, झ, ज) से योग रहे तो सकार के स्थान में शकार और तवर्ग के स्थान में चवर्ग होता (इसको इचुत्व कहते हैं) । जैसे—रामश्शेते में सकार और शकार से योग (सन्धि) अतः स् का श् हो गया । एवं “सच्चित्” में तवर्ग और चवर्ग से योग है, अतः त् को च् गया । रामश्शेते—श्रीरामजी सो रहे हैं । रामश्चिनोति—श्रीरामजी (फूल आदि) इका कर रहे हैं । सच्चित्—अविनाशी ज्ञानस्वरूप । २—शकार से परे तवर्ग को चुत्व (चवर्ग—छ, ज, झ, ञ) नहीं होता है । विश्नः—प्रवेश । प्रश्नः पूछना । ३—षकार और टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) के योग में सकार को षकार और तवर्ग को टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) होता है (इसी का नाम ष्टुत्व है) । रामष्पष्टः—छठवें श्रीरामजी हैं । रामष्टीकते श्रीरामजी जाते हैं । पेष्टा—किसी पदार्थ को चूर्ण करनेवाला । तट्टीका—बह टीका । चक्रिण्ढौकसे—हे चक्रधारी नारायण, आप जा रहे हैं (जा रहे हो) । ४—पदान्त टवर्ग से परे जो नाम भिन्न सकार, और तवर्ग उनको ष्टुत्व (षकार—टवर्ग) नहीं होता है । षट् सन्तः—छह सन्त पुरुष हैं । षट् ते—वे छह हैं । ईट्टे—स्तोत्र करता है । सर्पिष्टमम्—उत्तम धी ।

*अत्र हल्सन्धि का प्रारम्भ होता है । इस प्रकरण में हलों की सन्धि (परस्पर मिलन) बताया गया है । जैसे—रामस् शेते में स् हल् है । इत्यादि ।

‡'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्थः ।

तोः षि ढ । ४ । ४३ ॥ ३तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्धः । झलां जशोऽन्ते ढ । २ । ३९ ॥ ३पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः । यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ढ । ४ । ४५ ॥ ४यः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । एतद्मुरारिः । ‡'प्रत्यये भाषायां नित्यम् । तन्मात्रम् । चिन्मयम् ।

तोर्लि ढ । ४ । ६० ॥ ५तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकारस्याऽनुनासिको लकारः ।

उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य ढ । ४ । ६१ ॥ ७उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् ।

षड् + नाम् 'षड् + नवतिः' 'षड् + नगर्थः' इत्येतेषु 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति नियमसहकारेण 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन नकारस्य णकारे, तेष्वान्ये 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति नित्यमनुनासिकत्वे, अन्त्ययोः यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वेति विकल्पेनानुनासिके तेषां सिद्धिः ।

१-पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति और नगरी से भिन्न सकार और तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है । षण्णाम्-छहों (वस्तुओं, पुरुषों आदि) का । षण्णवतिः-छियानवें । षण्णगर्थः-छह नगरियाँ । २-पकार पर में हो तो तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है । सन्धः-छठा (व्यक्ति) श्रेष्ठ है । ३-पदान्त झलों को जश् होता है । वागीशः-बृहस्पति, प्रभु । ४-अनुनासिक हो पर में जिसके ऐसे यर् को विकल्प से अनुनासिक होता है । एतन्मुरारिः-ये मुरारि (मुरनामक राक्षस के मारने वाले) भगवान् हैं । ५-प्रत्ययावयव अनुनासिक पर में हो तो पदान्त यर् के स्थान में नित्य ही अनुनासिक होता है, भाषा अर्थात् लोक के विषय में । तन्मात्रम्-केवल उतना ही । चिन्मयम्-ज्ञानस्वरूप । ६-तवर्ग को लकार परे रहते परसवर्ण होता है (अर्थात् तवर्ग ल के समानरूप का हो जाता है) । तल्लयः-तल्लीन, बिलीन वा उसका नाश । विद्वाँल्लिखति-विद्वान् लिखता है । ७-उद् से परे स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण आदेश होता है । (पूर्वसवर्ण अर्थात् पूर्वपद के अन्तिम अक्षर के समान उत्तर पद का प्रथम वर्ण हो जाता है) ।

† 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इस सूत्र के केवल अनाम् पद से इष्टसिद्धि को न देखकर वार्तिककार 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इस वार्तिक का आरम्भ करते हैं ।

तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७ ॥ ^१पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं का
वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥

आदेः परस्य १।१।५४ ॥ ^२परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्
इति सस्य थः ।

झरो झरि सवर्णे ढ।४।६५ ॥ हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्
सवर्णे झरि ।

खरि च ढ।४।५५ ॥ ^४खरि परे झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः
उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।

झयो होऽन्यतरस्याम् ढ।४।६२ ॥ ^५झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्ण
स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य तादृशो वर्गचतुर्थः
वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

उत्थानम्—‘उद् + स्थानम्’ इत्यवस्थायां ‘उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य’ इत्यनेन
प्राप्तः पूर्वसवर्णः कस्य स्यादिति प्रश्ने ‘तस्मादित्युत्तरस्य’ इत्यनेन स्येत्यस्य
कारस्य प्राप्तस्तं प्रबाध्य ‘आदेः परस्य’ इति नियमेन विवारमहाप्राणप्रयत्नवा
सकारस्य स्थाने तादृशे थकारे कृते ‘झरो झरि सवर्णे’ इति पूर्वथकारस्य वैकल्पिके
लोपे, दकारस्य खरि चेति चत्वं तत्सिद्धम् । लोपाभावपक्षे तु—उदो दस्य च
कृते ‘उत्थानम्’ इति । एवं—उत्तम्भनम् उत्थम्भनम् । अत्र थकारस्य चत्वे
तकारत्वं तु नाशङ्क्यं चत्वंदृष्ट्या पूर्वसवर्णास्यासिद्धत्वात् ।

वाग्घरिः—‘वाक् + हरिः’ इत्यत्र ‘झयो होऽन्यतरस्याम्’ इत्यनेन स्थान
प्रयत्नयोस्तुल्यत्वात् हकारस्य स्थाने वैकल्पिके थकारे, ‘झलां जशोऽन्ते’ इति थका
रस्य जश्त्वेन गकारे तत्सिद्धम् । एवं चवर्गटवर्गतवर्गपवर्गभ्यः परस्य हकारस्य
भकारढकारधकारभकाराः भवन्ति । उदाहरणानि—अञ्जीनम्, षड्ढलानि, तद्विधि
गुब्मसति इति ।

१—पञ्चमी (पञ्चमी विभक्ति) को निर्देश कर (मानकर) के किया जानेवाला का
वर्णान्तर से अव्यवहित पर के स्थान में होता है । २—पर के स्थान में कहा गया का
उस (पर) के आदि में होता है । ३—सवर्णी झर् पर में रहे तो हल् से परे शर् क
विकल्प से लोप होता है । ४—झलों के स्थान में चर् होते हैं, खर् परे रहते । उत्थानम्-
अभ्युदय, उठना । उत्तम्भनम्—उभाड़ना, उठाना । ५—झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण
विकल्प से होता है । नाद, घोष, संवार और महाप्राण प्रयत्नवाले का वैसा ही अपने वर्ग क
चौथा अक्षर ही आदेश हुआ (होता है) । वाग्घरिः—बोलने में सिंह ।

शश्छोऽटि ढ । ४ । ६३ ॥ ^१पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तद् शिव इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते खरि चेति जकारस्य चकारः । तच्छिवः । तच्छिवः । ❀ छत्वममीति वाच्यम् । तच्छ्लोकेन ।

मोऽनुस्वारः ढ । ३ । २३ ॥ ^३मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्धलि । हरिं वन्दे ।

नश्चाऽपदान्तस्य झलि ढ । ३ । २४ ॥ ^४नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे ।

^५अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ढ । ४ । ५८ ॥ स्पष्टम् । [अनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णः स्यात्] शान्तः ।

वा पदान्तस्य ढ । ४ । ५९ ॥ ^६पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि ।

मो राजि समः कौ ढ । ३ । २५ ॥ ^७क्विबन्ते राजती परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् ।

हे मपरे वा ढ । ३ । २६ ॥ ^८मपरे हकारे परे मस्य मो वा स्यात् । किम् ह्यालयति । किं ह्यालयति ॥ ❀ यवलपरे यवला वा । किय् ह्यः । किं ह्यः । किं ह्यः । किव् ह्यालयति । किं ह्यालयति । किल् ह्यादयति । किं ह्यादयति ।

तच्छिवः—‘तद् + शिवः’ इत्यवस्थायां ‘स्तोः श्वुना श्वुः’ इति दकारस्य श्चुत्वेन जकारे, ‘खरि चे’ति चत्वे, ‘शश्छोऽटि’ इति शकारस्य छकारे तत्सिद्धिः ।

१-पदान्त झय् से परे जो ‘श’ उसको ‘छ’ होता है अट् परे रहते । २-पदान्त झय् से परे श् को छ् हो, किन्तु अम् प्रत्याहार पर में हो तब (ऐसा कहना चाहिये) । (अर्थात् अम् परे श् को छ् होता है) ३-म हो अन्त में जिसके ऐसे पद को अनुस्वार होता है, हल् परे रहते । हरिं वन्दे-में श्री हरिं को नमस्कार करता हूँ । ४-झल् परे रहते अपदान्त नकार, मकार को अनुस्वार होता है । यशांसि-अनेक प्रकार की कीर्तियाँ । आक्रंस्यते-आक्रमण किया जायगा । मन्यसे-स्वीकार करते हो । ५-यय् प्रत्याहार पर में हो तो अनुस्वार को परसवर्ण होता है । ६-पदान्त जो अनुस्वार उसको परसवर्ण होता है विकल्प से यय् परे रहते । त्वं करोषि-तुम करते हो । ७-क्विबन्त (क्विप् प्रत्यय हो अन्त में जिसके ऐसा) राज् धातु पर में हो तो सम् मकार को मकार ही होता है (किन्तु अनुस्वार नहीं) । सम्राट्-चक्रवर्ती नरेश । ८-म-परक हकार यदि पर में हो तो म को म ही विकल्प से होता है (अर्थात् एक पक्ष अनुस्वार और एक पक्ष में मकार होता है) । किं ह्यालयति-क्या चलाया जाता है । ९-य व् या ल हो पर में जिसके ऐसा हकार हो पर में जिसके ऐसे यकार को विकल्प

नपरे नः ८ । ३ । २७ ॥ ^१नपरे हकारे परे मस्य नो वा स्यात् । किं हनुते । किं हनुते ।

आद्यन्तौ टकितौ १ । १ । ४६ ॥ ^२टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्सन्तः, षट्सन्तः ।

ङ्णोः कुक्कुक् शरि ८ । ३ । २८ ॥ ^३ङकारणकारयोः कुक्कुकावागमो वा स्तः शरि ऋचयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् । प्राङ्ख्षष्ठः प्राङ्क्षष्ठः । प्राङ्षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः । सुगण्ट्षष्ठः । सुगण्षष्ठः ।

ङः सि धुट् ८ । ३ । २९ ॥ ^४डात्परस्य सस्य धुट् वा स्यात् । षट्सन्तः षट्सन्तः ।

नश्च ८ । ३ । ३० ॥ ^५नान्तात्परस्य सस्य धुट् वा स्यात् । सन्तः सन्तः ।

षट्सन्तः—‘षट् + सन्तः’ इत्यत्र ‘ङः सि धुट्’ इति धुडागमे ‘षट् + धुट् + सन्तः’ इति स्थिते, पूर्वधकारस्य चत्वेन तकारे कृते, तस्मिन्परे ङकारस्य पुनश्चत्वे तकारे ‘षट्सन्तः’ इति सिद्धम् ।

प्राङ्ख्षष्ठः—‘प्राङ् + षष्ठः’ इत्यवस्थायां ‘ङ्णोः कुक्कुक् शरि’ इति कुगागमे उकावितौ (कित्वात् ङकारस्यान्ते आगमः), ‘चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्’ इत्यनेन ककारस्य खत्वे प्राङ्ख्षष्ठः इति, खत्वाभावे प्राङ्क्षष्ठः, कुगमावे प्राङ्षष्ठः ।

सानुनासिक य, व, ल होता है । कियँ ह्यः—किं ह्यः—कल क्या (हुआ) ? किं हलयति—क्या जाता है ? किं ह्यादयति—क्या चाहता है ?

१—नकार हो पर में जिसके ऐसे हकार परे रहते मकार को नकार होता है, विकल्प से । किं हनुते—क्या छिपाता है ? २—टित् (टकार है इत् जिसमें) कित् (ककार है इत् जिसमें) ये टित् और कित् जिसको कहे गये हों उसके क्रम से आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है (अर्थात् टित् पहले और कित् अन्त में होता है) । ३—शरि (प्रत्याहार) पर में रहे तो ङकार तथा णकार को (क्रम से) कुक्, टक् का आगम विकल्प से होता है । ४—शर् (प्रत्याहार) पर में हो तो चय् (च, ट, त, क, प) को द्वितीय अक्षर (छ, ठ, थ, ख, फ) होता है पौष्करसादि आचार्य के मत से । प्राङ्षष्ठः—ऋषवाँ (व्यक्ति) प्रतिष्ठित है । सुगण्ट्षष्ठः—छठाँ (छात्र) उत्तम गणितज्ञ है । ५—ङकार परे जो सकार उसको धुट् का आगम होता है विकल्प से । षट्सन्तः—छह (व्यक्ति) सज्जन हैं । ६—नकार हो अन्त में जिसके ऐसे पद से परे जो सकार उसको धुट् का आगम होता है विकल्प से । सन्तः—वह सत्पुरुष है ।

शि तुक् ८ । ३ । ३१ ॥ ^१पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा स्यात् ।
सञ्छम्भुः । सञ्छम्भुः । सञ्चश्म्भुः । सञ्शम्भुः ।

डमो ह्रस्वादचि डमुण् नित्यम् ८ । ३ । ३२ ॥ ^२ह्रस्वात्परो यो डम्
तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याऽचो नित्यं डमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा ।
सुगण्णीशः । सन्नच्युतः ।

समः सुटि ८ । ३ । ५ ॥ ^३समो रुः स्यात् सुटि ।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८ । ३ । २ ॥ ^४अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्या-
नुनासिको वा स्यात् ।

अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८ । ३ । ४ ॥ ^५अनुनासिकं विहाय रोः
पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८ । ३ । १५ ॥ ^६खरि अवसाने च पदान्तस्य
रेफस्य विसर्गः स्यात् । ॐ^७सम्पुङ्गानां सो वक्तव्यः । संस्कर्ता । संस्कर्ता ।

सञ्छम्भुः—‘सन् + शम्भुः’ इत्यत्र ‘शि तुक्’ इति नकारस्य वैकल्पिके तुगा-
गमेऽनुबन्धलोपे, तकारस्य श्चुत्वेन चकारे, पुनः—नकारस्यापि श्चुत्वेन अकारे कृते,
‘शश्छोऽटि’ इति वैकल्पिके छकारे, ‘भ्ररो झरि सवर्णे’ इति चकारस्य वैकल्पिक-
लोपे सञ्छम्भुः, लोपाभावे सञ्चश्म्भुः, छत्वलोपयोरभावे सञ्चश्म्भुः, तुगागमा-
भावे तु सञ्शम्भुः—इति चत्वारि रूपाणि भवन्ति । तथा चोक्तम्—

अछौ अचछा अचशा अशाविति रूपचतुष्टयम् ।

रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥ इति ॥

संस्कर्ता, संस्कर्ता—‘सम् + स्कर्ता’ इत्यत्र ‘समः सुटि’ इति मकारस्य ह्रस्वे,
अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा’ इति सकारोत्तराकारस्यानुनासिकत्वविकल्पे तदभावे

१—श हो पर में जिसके ऐसे पदान्त नकार को तुक् का आगम होता है विकल्प से ।
सञ्छम्भुः—भगवान् शंकर श्रेष्ठ हैं । २—ह्रस्व से परे जो डम् तदन्त जो पद, उससे परे
जो अच् उसको नित्य ही डमुट् का आगम होता है (डमुट् पद से पुट् नुट् आदि भी
गृहीत होते हैं) । प्रत्यङ्ङात्मा—जीवात्मा । सुगण्णीशः—अच्छा गणितज्ञ स्वामी ।
सन्नच्युतः—भगवान् अच्युत नित्य हैं । ३—सम् के मकार को रु होता है सुट परे रहते ।
४—इस रु प्रकरण में रु से पूर्व जो अच् उसको अनुनासिक होता है विकल्प से ।
५—(इस रु प्रकरण में) अनुनासिकयुक्त प्रयोग को छोड़कर रु से पूर्व जो अच् उससे परे
अनुस्वार का आगम होता है । ६—खर् (प्रत्याहार) परे रहते और अवसान में विद्यमान
जो पदान्त रेफ उसको विसर्ग हो जाता है । ७—सम्, पुम् और कान् के विसर्ग को ‘स’
रहना चाहिये (होता है) । संस्कर्ता—संस्कार करने (अच्छा बनाने)-वाला ।

पुमः खद्यम्परे ढ। ३। ६ ॥ ^१अम्परे खयि पुमो रुः स्यात्
पुंस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः ।

नखलव्यप्रशान् ढ। ३। ७ ॥ ^२अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः स्यात्
न तु प्रशान्शब्दस्य ।

विसर्जनीयस्य सः ढ। ३। ३४ ॥ ^३खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्
चक्रिस्त्रायस्व । चक्रिस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति । पदान्
स्येति किम् ? हन्ति ।

नृन् पे ढ। ३। १० ॥ ^४नृन्तस्य रुः स्याद्वा पकारे परे ।
कुप्वोः कपो च ढ। ३। ३७ ॥ ^५कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गः
कपो स्तः । चाद्विसर्गः । नृन्पाहि । नृन्पाहि । नृन्पाहि ।
नृन्पाहि । नृन्पाहि ।

तस्य परमाञ्जेडितम् ढ। १। २ ॥ ^६द्विरुक्तस्य परं रूपमाञ्जेडितं
स्यात् ।

‘अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः’ इति अनुस्वारागमे ‘संरु + स्कर्ता’ ‘संरु + स्कर्ता’
स्थिते, अनुबन्धलोपे, ‘खरवसानयोर्विसर्जनीयः’ इत्यनेनोभयत्रापि विसर्गं, ‘संपुं
सो वक्तव्यः’ इति विसर्गस्य सकारे सिद्धं ‘संस्कर्ता’ संस्कर्ता’ इति रूपद्वयम् ।

‘नृन् पाहि’ इति विग्रहे पञ्च रूपाणि भवन्ति । तथाहि—‘नृन् + पाहि’
इत्यत्र ‘नृन् पे’ इति नकारस्य वैकल्पिके रूढे, अनुनासिकेऽनुस्वारे च कृते ‘नृन्
पाहि’ ‘नृन् + पाहि’ इति स्थिते, उभयत्रापि अनुबन्धलोपे नृन् + पाहि, नृन्
पाहि इति दशायां रेफस्य विसर्गं, ‘कुप्वोः कपो च’ इति विसर्गस्योपध्मा
यत्वे, उभयत्रापि चकारात् विसर्गस्य विसर्गं, अनुनासिकपक्षे ‘नृन्पाहि’ ।

१—अम् परक खय् परे रहते पुम् के मकार को रु होता है । पुंस्कोकिलः—को
पक्षी । २—अम्परक छव् परे रहते नान्त पदको अनुस्वार होता है, प्रशान् शब्द
छोड़कर (अर्थात् प्रशान् शब्द के नकार को नहीं होता है) । ३—खर् (प्रत्याहार)
में हो तो विसर्ग को स आदेश होता है । चक्रिस्त्रायस्व—हे सुदर्शन चक्रधारी ! रक्षा कर
प्रशान् तनोति—शान्ति फैलाता है । हन्ति—मारता है । ४—पकार पर में रहे तो नृन् के
को रु होता है विकल्प से । ५—कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) या पवर्ग (प, फ, ब, म, य)
पर में रहे तो क्रम से कवर्ग को जिह्वामूलीय और पवर्ग को उपध्मानीय होता है ।
में ‘च’ शब्द है अतः इनके अभाव में विसर्ग भी होता है । ६—जो शब्द दो बार
मया हो उसके पर (द्वितीय) रूप (शब्द) की आञ्जेडित संज्ञा होती है ।

कानाम्नेडिते च ढ । ३ । १२ ॥ ^१कान्नकारस्य रुः स्यादात्रेडिते परे ।
काँस्कान् । काँस्कान् ।

छे च ६ । १ । ७३ ॥ ^२ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात् । शिवच्छाया ।
पदान्ताद्वा ६ । १ । ७६ ॥ ^३दीर्घाःपदान्ताच्छे परे तुग् वा स्यात् ।
लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीच्छाया ।

* इति ह्रस्वसन्धिः । *

अथ *विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

विसर्जनीयस्य सः ढ । ३ । ३४ ॥ ^४खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् ।
विष्णुस्त्राता ।

वा शरि ढ । ३ । ३६ ॥ ^५शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः
शेते । हरिश्शेते ।

ससजुषो रुः ढ । २ । ६६ ॥ ^६पदान्तस्य सस्य, सजुष्शब्दस्य च रुः
स्यात् ।

पाहि' । अनुस्वारपक्षे नृं—पाहि, नृं: पाहि । रुत्वाभावे तु 'नृन् पाहि' इति
पञ्च रूपाणि सिद्धयन्ति ।

❁ इति ह्रस्वसन्धिः ❁

१—कान् के नकार को रु होता है, आत्रेडितं (आत्रेडित संज्ञक कान् शब्द)
परे रहते । काँस्कान्—किन-किन को (प्रसाद दूँ) । २—झकार पर में हो तो ह्रस्व (पद)
को तुक् का आगम होता है । शिवच्छाया—श्री शिवजी को छाया । ३—झकार पर में हो
तो पदान्त दीर्घ को तुक् का आगम होता है विकल्प से । लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मी की छाया ।

[ह्रस्वसन्धि समाप्त]

४—खर् (प्रत्याहार) पर में हो तो विसर्ग को स् होता है । विष्णुस्त्राता—भगवान्
विष्णु रक्षक हैं । ५—शर् (प्रत्याहार) पर में हो तो विसर्ग को विसर्ग होता है विकल्प से
(पक्ष में स् होता है) हरिश्शेते, हरिः शेते—विष्णु भगवान् सो रहे हैं । ६—पदान्त
सकार और सजुष् शब्द के षकार को रु होता है ।

• अब विसर्गसन्धि का प्रारम्भ हो रहा है । इस प्रकरण में विसर्गों की सन्धि (मिलन)
संज्ञायी गयी है । जैसे—विष्णुः+त्राता यहाँ विष्णु के बाद जो (:) दो बिन्दु हैं वे ही
विसर्ग कहे जाते हैं । इत्यादि ।

अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३ ॥ १अप्लुतादतः परस्य रो
स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः ।

हृशि च ६।१।११४ ॥ २अप्लुतादतः परस्य रोः स्याद्वि
शिवो वन्धः ।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७ ॥ ३एतत्पूर्वस्य रोयदि
स्यादशि । देवा इह । देवायिह । भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाता
तेषां रोयत्वे कृते—

हलि सर्वेषाम् ८।३।२२ ॥ ४भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य यस्य लो
स्याद्वलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि ।

रोऽसुपि ८।२।६९ ॥ ५अहो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । अहरह
अहर्गणः ।

रोरि ८।३।१४ ॥ ६रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ।

द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११ ॥ ७ढरेफयोर्लोपनिमित्त
पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भु राजते । वा

शिवोऽर्च्यः—‘शिवस् + अर्च्यः’ इत्यत्र ‘ससजुषो रुः’ इति सस्य रुत्वे ‘अ
रोरप्लुतादप्लुते’ इति उत्वे, ‘आद् गुणः’ इति गुणे, ‘एङ् पदान्तादति’
अकारस्य पूर्वरूपे ‘शिवोऽर्च्यः’ इति सिद्धम् ।

‘रोऽसुपि’ सूत्रे ‘अहरादीनां वा रेफः’ इति विसर्गापवादवार्तिकम् पठितम्,
अहर्पतिः, गीर्पतिः, धूर्पतिः इत्यादौ न रेफस्य विसर्गः । पक्षे तु विसर्गापघ्नानो
भवतः ।

१—अप्लुत अत् (ह्रस्व अकार) से परे जो ‘रु’ उसको ‘उ’ होता है अप्लुत
परे रहते । शिवोऽर्च्यः—श्री शिवजी पूज्य हैं । २—हश् (प्रत्याहार) पर में हो तो अ
अकार से परे जो ‘रु’ उसको ‘उ’ होता है । शिवो वन्धः—श्री शिवजी स्तुति-योग्य हैं
३—अश् (प्रत्याहार) पर में हो तो भो, भगो, अघो और अ पूर्वक रु (र्) के स्थान
‘य्’ आदेश होता है । देवा इह—देवता लोग यहाँ हैं । ४—हल् (प्रत्याहार) पर
रहे तो भो, भगो, अघो अपूर्वक ‘य’ का लोप होता है (सब के मत से) । भो देवा-
हे देवताओ ! भगो नमस्ते—परमात्मन् ! नमस्कार है । अघो याहि—हे पापस्वरूप !
५—अहन् शब्द के नकार को रेफादेश होता है, सुप् परे (पर में) न हो तब । अहर
प्रतिदिन । अहर्गणः—वर्ष, दिनरामूह । ६—रेफ पर में हो तो रेफ का लोप होता है
७—ढ और रेफ के लोप में निमित्त (कारण) भूत जो ढ और रेफ ने पर में रहे तो प

किम् ? तृढः । वृढः । मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्वे रो रीति लोपे च प्राप्ते ।

विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२ ॥ १ तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते । 'पूर्वत्राऽसिद्धमिति' 'रो री'त्यस्याऽसिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः ।

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२ ॥ २ अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्वलि न तु नञ्समासे । एष विंगुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ।

मनोरथः—'मनस् + रथः' इत्यवस्थायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे कृते, 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वं प्राप्नोति, 'रो रि' इति रेफस्य लोपः प्राप्नोति । कतरेण भाव्यमिति शङ्कायां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रबलेन परत्वात् 'रो रि' इति लोप एव प्राप्नोति, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति दृष्ट्या लोपस्यासित्वेन उत्वे, गुणे च कृते 'मनोरथः' इति सिद्धयति ।

(अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्रैकदा प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः) अत्रोक्तसूत्रयोः—यथा 'रो रि' इत्यस्य 'पुना रमते' इत्यत्र, एवं 'हशि च' इत्यस्य 'शिवो चन्द्रः' इत्यत्रावकाशस्तथा 'मनोरथः' इत्यत्रैकदा प्रयोग इति तुल्यबलविरोधो ज्ञेयः ।

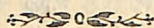
अण् को दीर्घ होता है । पुना रमते—पुनः खेल रहा है । हरी रम्यः—विष्णु भगवान् सुन्दर हैं । शम्भू राजते—श्रीशिव जी दीप्तिमान् हैं । तृढः, वृढः—समर्थ वा उच्चत ।

१—तुल्यबल के विरोध होने पर परकार्य होता है (अर्थात् जैसे दो सूत्र हैं, दोनों अन्यत्र दो स्थलों में चरितार्थ हैं और संयोग से किसी एक स्थल में दोनों की प्राप्ति है । इस दशा में जो पर कार्य (शास्त्र) होता है वही बलवान् होता है । आवश्यकतानुसार 'पर' शब्द का अर्थ "परम् इष्टं" भी किया जाता है, जिससे विरुद्धस्थलों में भी विरोध नहीं होता) । मनोरथः—अभिलाष, इच्छा । २—हल् पर में हो तो ककार रहित जो एतद् और तद् शब्द, तत्सम्बन्धी जो सु (स्) उसका लोप होता है नञ् समास को छोड़कर अर्थात् नञ् समास में नहीं) । 'एषको रुद्रः' में सु-लोप-निवारणार्थ "अकोः" ग्रहण किया । अनञ् समासे नहीं कहते तो 'न सः=असः' में सुलोप-प्रवृत्ति हो जाती । हलि रहते ऐसा न रहता तो अच्-परक एषोऽत्र में भी सुलोप होने लगता—इत्यादि । एष विष्णुः—ये विष्णु भगवान् हैं । स शम्भुः—वे शिवजी हैं । एषको रुद्रः—ये रुद्र (भगवान्) हैं । अण् को दीर्घ होता है । पुना रमते—पुनः खेल रहा है । हरी रम्यः—विष्णु भगवान् सुन्दर हैं । शम्भू राजते—श्रीशिव जी दीप्तिमान् हैं । तृढः, वृढः—समर्थ वा उच्चत ।

सोऽचि लोपे चेतपादपूरणम् ६।१।१३४ ॥ 'स' इत्यस्य सोर्लोपः
स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । सेमामविड्ढि प्रभृतिम् । सौ
दाशरथी रामः ।

इति विसर्गसन्धिः ।

[इति *पञ्चसन्धिप्रकरणम्]



सेमामिति—'सस् + इमामविड्ढि' 'सस् + एष दाशरथी रामः' इति प्रयोगे
द्वयेऽपि यदि सोर्लोपो न स्यात्तर्हि सस्य रत्वे यत्वे च कृते, यकारस्य लोपे, तस्मात्
सिद्धत्वाद्-गुणाद्यभावे पादस्य पूर्तिर्न स्यादिति ।

'दाशरथी रामः' इत्यत्र 'थी' इति कथं दीर्घ इति नाशङ्कनीयः—दाशरथि
राम इति दशायां सकारस्य रत्वेऽनुबन्धलोपे, 'रो रि' इति रेफस्य लोपे दीर्घ
वत्सिद्धिः ।

❁ इति विसर्गसन्धिः ❁



१—यदि लोप के होने पर ही पाद (किसी श्लोक के एक चरण) की पूर्ति हो तो
शब्द के सु (स्) का लोप होता है । सेमामविड्ढि प्रभृतिम्-वह आप हमें (देने में)
हैं अतः) इस प्रबल धारणा को दें । सैष दाशरथी रामः—वे ये रामचन्द्र दशरथ के पुत्र

[विसर्गसन्धिप्रकरण समाप्त ।]



• पञ्चसन्धि की समाप्ति होते ही यह प्रश्न हो सकता है कि प्रसिद्धि तो 'पञ्चसन्धि'
नाम से है किन्तु अच, हल् और विसर्ग की ही सन्धियाँ प्रसिद्ध हैं तो 'पञ्चसन्धि' कैसे ?

उ०—महाशय ! पञ्चसन्धिप्रकरण सार्थक है । एक 'स्वादिसन्धि' होती है
शिवोर्च्यः है । आप यह कहें कि सु के उ का लोप हो जाता है 'स्' मात्र वच जाता
अतः यह भी 'हल्सन्धि' है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'स्वौजस्'-इत्यादि सु
'सु' ऐसी प्रवृत्ति होती है अतः 'स्वादिसन्धि' भी एक अलग सन्धि है । दूसरी बात यह
कि 'गोबलीवर्दन्याय' से भी यह सिद्ध होता है । इसी प्रकार कुछ लोग प्रकृतिभाव को
सन्धि के अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु इसके अपेक्षा पाँचवाँ 'अनुस्वारसन्धि' परसवर्ण र
विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखता हैं ।

अथ षड्लिङ्गेषु अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १ । २ ४५ ॥ १धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ।

कृत्तद्धितसमासाश्च १ । २ । ४६ ॥ ३कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः ।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४ । १ । २ ॥ [३ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः]* । सु औ जम् इति प्रथमा । अम् औट् शस् इति द्वितीया । टा भ्याम् भिस् इति तृतीया । डे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी । डसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी । डन् ओस् आम् इति षष्ठी । डि ओस् सुप् इति सप्तमी । ड्याप्प्रातिपदिकात् ४ । १ । १ ॥ प्रत्ययः ३ । १ । १ ॥ परश्च ३ । १ । २ ॥—^४इत्यधिकृत्य । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ।

अर्थवदिति—धनम्, वनम्-इत्यादौ प्रतिवर्णस्य प्रातिपदिकसंज्ञा मा भूदिति-अर्थवदग्रहणम् । अहन्नित्यादौ प्रातिपदिकत्वेन नलोपाद्यापत्तिस्तद्वारणाय-अधातुरिति । अप्रत्ययः—इत्यत्र प्रत्ययपदमावर्त्यते, तेन प्रत्ययं प्रत्ययान्तश्चेत्यर्थो लभ्यते (प्रत्ययग्रहण-परिमापया तदन्तविधिः) । प्रत्ययस्य पर्युदासात् 'हरिषु' इत्यादौ सोर्न प्रातिपदिकत्वन्, तदन्तपर्युदासात् समुदायस्य च न संज्ञा ।

१—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् (अर्थयुक्त) जो शब्दस्वरूप उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है । २—कृदन्त ('कृत्' प्रत्ययान्त), तद्धितान्त और समास प्रातिपदिक-संज्ञक होते हैं । ३—ङ्यन्त (डी-अर्थात् डीप् या डीष् आदि प्रत्यय हों अन्त में जिस शब्द के) और प्रातिपदिक से परे (बाद में) स्वादि (सु औ जम् आदि) प्रत्यय होते हैं । ४—पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक (ड्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च) इन तीनों सूत्रों का अधिकार जाता है । ङ्यन्त, आवन्त और प्रातिपदिक से परे सु आदि प्रत्यय होते हैं ।

* मांसायोग्य—विभक्तियों का जो प्रारम्भिक क्रम है उससे कहीं यह निम्ननिदिष्ट क्रम अच्छा होता, फिर भी विद्वान् लोग विचार कर लेंगे । मैं केवल प्रदर्शन मात्र कर रहा हूँ । जैसे—पहले 'प्रत्ययः, परश्च' 'ड्याप्प्रातिपदिकात्'-ये अधिकारसूत्र रहते । अनन्तर स्वौजसमौट्—सूत्र रहता तत्पश्चात् ङ्यन्तादाबन्तात्-वृत्ति होती, उसके बाद सु औ जस' विभक्तियाँ होती तो ज्ञान में सुगमता होती ।

सुपः १।४।१०३ ॥ ^१सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचन-संज्ञानि स्युः ।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ ॥ ^२द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

विरामोऽवसानम् १।४।११० ॥ ^३वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्स्त्वंविसर्गौ रामः ।

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।।६४ ॥ ^४एकविभक्तौ यत्सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते ।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२ ॥ ^५अकः प्रथमाद्वितीययोरेतौ पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् ।

नादिचि ६।१।१०४ ॥ ^६आदिचि [परे] न पूर्वसवर्णदीर्घवृद्धिरेचि । रामौ ।

बहुषु बहुवचनम् १।४।२१ ॥ ^७बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ।

चुट्ट १।३।७ ॥ ^८प्रत्ययाद्यौ चुट्ट इतौ स्तः ।

विभक्तिश्च १।४।१०४ ॥ ^९सुप्तिडौ विभक्तिसञ्ज्ञौ स्तः ।

प्रवसानेति—यत्र यदव्यवहितोत्तरकाले वर्णान्तरं नोच्चार्यते तत्र पूर्वोच्चारितान्तवर्णोऽवसानसंज्ञको भवतीति बोध्यम् ।

१—सुप् (प्रथमा के सु से लेकर सप्तमीके सुप् तक) के जो तीन-तीन वचन वे (प्रथमा आदि विभक्तियों में) क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक होते हैं ।
 २—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन (औ, औट्, भ्याम्, भ्याम्, भ्याम्, ओस्, ओस्) और एकत्व की विवक्षा में एकवचन (सु, अम्, टा, डे, डसि, डस्, डि) होते हैं ।
 ३—वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञा होती है (अर्थात् अवसान उसे कहते हैं जिसके बाद कोई वर्ण न हो) । रामः—श्रीरामचन्द्रजी । ४—एक विभक्ति में जितने समान (एक प्रकार के) रूप हों, उनमें से एक रूप शेष रह जाता है और अन्य सभी रूपों का लोप हो जाता है ।
 ५—अक से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच पर में रहे तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण एकादेश होता है ।
 ६—अवर्ण से इच् पर में हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता ।
 ७—बहुत्व विवक्षा (कहने की इच्छा) हो तो बहुवचन (जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, भ्रस्, आम्, सुप्) होता है ।
 ८—प्रत्यय के आदि में जो चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) और टवर्ग (ट, ठ, ड, ण) उनकी इत्संज्ञा होती है (बालकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस वर्ण की इत्संज्ञा होती है उसका 'तस्य लोपः'से लोप हो जाता है) ।
 ९—सुप् और तिङ् विभक्ति-संज्ञक होते हैं ।

न विभक्तौ तुस्माः १ । ३ । ४ ॥ ^१विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा
न स्युः । इति नेत्वम् । रामाः ।

एकवचनं सम्बुद्धिः २ । ३ । ४९ ॥ ^२सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं
बुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ । ४ । १३ ॥ ^३यः प्रत्ययो
त् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन् परेऽङ्गसञ्ज्ञं स्यात् ।

एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः ६ । १ । ६९ ॥ ^४एङन्ताद्घ्रस्वान्ताच्चाऽङ्गाद्धल्लु-
सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम । हे रामौ । हे रामाः ।

अमि पूर्वः ६ । १ । १०७ ॥ ^५अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् ।
म् । रामौ ।

रामाः—(रमन्ते क्रीडन्ति योगिनो यस्मिन् वा रमते यः स इति रामः)
शब्दस्याव्युत्पत्तिपक्षे 'अर्थवत्'—सूत्रेण तथा व्युत्पत्तिपक्षे 'कृतद्वित'— इति
प्रातिपदिकसंज्ञायां बहुत्वविवक्षायां 'समश्च रामश्च रामश्च' इति विग्रहः
ते । तत्र 'राम राम राम' इति शब्दत्रये 'सरूपाणामेक०—' इति सूत्रेणैकस्य 'राम'
स्य शेषे, (बहुत्वविवक्षया) 'स्वौजसमौट्—' इति 'जस्'-विभक्तौ, 'चुटू' इति
लोपे, 'तस्य लोपः' इति लोपे, सकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन प्राप्तायामित्संज्ञायां
क्तश्चेत्यनेन विभक्ति-संज्ञां विधाय 'न विभक्तौ—' इतीत्संज्ञायाः निषेधे,
योः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदोषे, सकारस्य रुत्वे, विसर्गे च कृते सिद्धम्
'रामाः' इति ।

हे रामेति—कारकपदैः सह सम्बोधनं प्रयुज्यते, प्रयोगश्च तेषां पूर्वं भवति,
'हे राम' इति । सम्बोधने 'हे, अयि, है, रे, धिक्'—इत्यादयश्शब्दाः
न्ते । तत्र 'रे, धिक्' शब्दा निन्दया क्रोधेन वा प्रयुज्येते । क्वचिदन्तेऽपि
बन्दादीनां प्रयोगः । क्वचित्—'हे' शब्दं विनापि प्रयोगः । यथा 'हे राम !
छ । राम ! आगच्छ—इत्युभयमपि शुद्धम् ।

-विभक्ति में रहने वाले तवर्ग (त, थ, द, ध, न) सकार और मकार की इत्संज्ञा
ती है । २—सम्बोधन में (सम्बोधन की विवक्षा में) प्रथमा का एकवचन (सु)
संज्ञक होता है । ३—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, तदादि (उसके
ता) जो शब्दस्वरूप उसकी अङ्ग-संज्ञा होती है प्रत्यय पर रहते । ४—एङन्त और
अङ्ग से परे यदि सम्बुद्धिका अवयव हल् ही तो उसका लोप होता है । ५—अक् से
स्वन्धी अच् पर में हो तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

हे राम ! इत्येतानि जगन्क्या ।

लशक्तद्धिते १ । ३ । ८ ॥ ^१तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लश
इतः स्युः ।

तस्माच्छसो नः पुंसि ६ । १ । १०३ ॥ ^२पूर्वसवर्णदीर्घात्परो य
सस्तस्य नः स्यात्पुंसि ।

अट्कुप्वाङ्नुम्ब्यवायेपि ८ । ४ । २ ॥ ^३अट् कवर्गः पवर्ग आङ्
एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्
स्यात्समानपदे । इति प्राप्ते ।

पदान्तस्य ८ । ४ । ३७ ॥ ^४पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात् । राम
टाङ्सिङ्सामिनात्स्याः ७ । १ । १२ ॥ ^५अदन्ताट्टादीनामिनादयः
णत्वम् । रामेण ।

सुपि च ७ । ३ । १०२ ॥ ^६यत्रादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स
रामाभ्याम् ।

अतो भिस् ऐस् ७ । १ । ९ ॥ [^७अकारान्तादङ्गाद्धिस ऐस् स
अनेकाल्शित्सर्वस्य । रामैः ।

डेयः ७ । १ । १३ ॥ ^८अतोऽङ्गात्परस्य डेयदेशः स्यात् ।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १ । १ । ५६ ॥ ^९आदेशः स्थानिवत्स्य

रामेण—‘राम’ शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन टा विभक्तावनुबन्धलोपे, ‘टा
सामिनात्स्याः’ इति-इनादेशे, गुणे, ‘अट्कुप्वाङ्नुम्ब्यवायेऽपि’ इति नस्व ण
तत्सिद्धिः ।

१—तद्धित को छोड़कर जो प्रत्यय के आदि में लकार, शकार और कवर्ग (क, ख, ङ) उनकी इत्संज्ञा होती है। २—पूर्वसवर्णदीर्घ से परे जो शस् का सकार उसको नकार होता है, पुंलिङ्ग में। ३—समान पद (किसी एक पद) में अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् इन्में से किसी एक का अथवा यथा-सम्भव सम्मिलित बहुतों का व्यवधान होने पर और षकार से परे नकार को णकार होता है। ४—पद के अन्त में जो नकार (वृ, ष, णकार (ण्) नहीं होता है। ५—अदन्त अङ्ग से परे जो टा, डसि, डस् उनके स्थान में इन, आत्, स्थ आदेश होते हैं। ६—यत्रादि सुप् पर में हो तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ है। ७—अदन्त अङ्ग से परे ‘भिस्’ को ‘ऐस्’ आदेश होता है। ८—अदन्त अङ्ग जो ‘डे’ उसको ‘य’ आदेश होता है। ९—आदेश स्थानिवत् (स्थाननिष्ठधर्मवान्)

घेडिति । ७ । ३ । १११ ॥ ^१घिसंज्ञकस्य डिति सुपि गुणः स्यात् ।
हरये । हरिभ्याम् । हरिभ्यः ।

डसिडसोश्च । ६ । १ । ११० ॥ ^२एङी डसिडसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः
स्यात् । हरेः । हरेः । हर्योः । हरीणाम् ।

अच्च घेः । ७ । ३ । ११९ ॥ ^३इद्बुभ्यामुत्तरस्य डेरौत् स्यात्, घेरन्ता-
देशश्चाऽकारः । हरौ । हरिषु । एवं कव्यादयः ।

अनङ् सौ । ७ । १ । ९३ ॥ ^४सख्युरङ्गस्याऽनङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ ।
अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा । १ । १ । ५६ ॥ ^५अन्त्यादलः पूर्वा वर्ण
उपधासंज्ञः स्यात् ।

सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ । ६ । ४ । ८ ॥ ^६नान्तस्योपधाया दीर्घः
स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

अपृक्त एकाल्प्रत्ययः । १ । २ । ४१ ॥ ^७एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसञ्ज्ञः
स्यात् ।

हरौ—हरिशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'डि' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'शेषो घ्य-
सखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति डेरौकारादेशे, घिसंज्ञकेकारस्य चाकारे
वृद्धौ च तत्सिद्धम् ।

एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
हरिः	हरी	हरयः	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
हरिम्	हरी	हरीन्	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	हरौ	हर्योः	हरिषु
हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः	हे हरे !	हे हरी !	हे हरयः !

एवमेव प्रायो ह्रस्वेकारान्तानाम्—भूपति, श्रीपति, रवि, वह्नि, कवि, कपि,
सन्धि, विधि—आदीनां शब्दानां रूपाणि ज्ञेयानि ।

१-डित् सुप् पर में हो तो घि-संज्ञावाले शब्द को गुण होता है । २-एङ् से डसि-डस्-
सम्बन्धी अकार पर में रहे तो पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप (एङ् के समान रूप) एका
देश होता है । ३-इकार उकार से परे जो 'डि' उसके स्थान में औत् और घि-संज्ञा के स्थान
में अत् (अकार) अन्तादेश भी आदेश होता है । ४-सम्बुद्धि से भिन्न सु विभक्ति पर में रहे
तो अङ्ग-संज्ञक सखि शब्द को अनङ् आदेश होता है । ५-किसी भी वर्ण के अन्त्य अल् से
अव्यवहित पूर्ववर्ण की उपधासंज्ञा होती है । ६-सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनाम-स्थान पर में रहे तो
नाम्न पद की उपधा को दीर्घ होता है । ७-एक अल् वाला प्रत्यय-अपृक्त संज्ञक होता है ।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८ ॥ ^१हलन्तात्परं दीर्घ
सौ इयापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते ।

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्थ ८।२।७ ॥ ^२प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्
तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात् । सखा ।

सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२ ॥ ^३सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनाम
स्थानं णिद्वत्स्यात् ।

अचो जिगिति ७।२।११५ ॥ ^४अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् जिगि
णिति च परे । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन्
सख्या । सख्ये ।

ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२ ॥ ^५खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां
कृतयणादेशाभ्यां परस्य डसिडसोरत उत्स्यात् । सख्युः । सख्युः ।

सखा—प्रातिपादिकसखिशब्दात् 'सौ', अङ्गसंज्ञायां 'ङिच्च' इति सहकारेण
'अनङ् सौ' इति—इकारस्थाने अनङादेशे, अनुबन्धलोपे, 'अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा
इति सूत्रेण नकारात्पूर्वस्याकारस्य उपधासंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति
दीर्घे, 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' इति अपृक्तसंज्ञां कृत्वा 'हल्ङ्याब्भ्यो—' इति सो
सकारस्य लोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेन नलोपे सिद्धम् 'सखा' इति
ह्यम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सखा	सखायौ	सखायः	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
सखायम्	सखायौ	सखीन्	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

१-हलन्त से परे जो सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् और दीर्घ जो डी आप्, तदन्त
से परे जो सु-सम्बन्धी अपृक्त हल् उसका लोप होता है । २-प्रातिपादिक संज्ञावाले पद के
अन्तिम नकार का लोप होता है । सखा=मित्र । ३-अङ्ग संज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धि-
भेन्न जो सर्वनामस्थान वह णिद्वत् (णित् के समान) माना जाता है (अर्थात् जो कार्य
वात् को विहित हैं वे उससे भी होते हैं) । ४-अित् (अ इत्संज्ञक) या णित् (ण इत्संज्ञक)
प्रत्यय पर में रहे तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है । ५-कर दिया गया हो 'यणरूपो
आदेश जिनको ऐसे ह्रस्व खि, ति शब्द और दीर्घ खी, ती शब्द से परे जो डसि या डस्
सम्बन्धी अकार उसको उत् (उकार) आदेश होता है ।

न्यलाश्रयविधौ । इति स्थानिवत्त्वात् सुपि चेति दीर्घः । रामाय ।
भ्याम् ।

बहुवचने झल्येत् ७ । ३ । १०३ ॥ ^१झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यै-
ः स्यात् । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् ।

वावसाने ८ । ४ । ५६ ॥ ^२अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्,
द् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

ओसि च ७ । ३ । १०४ ॥ ^३ओसि परेऽतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् ।
योः ।

ह्रस्वनद्यापो नुट् ७ । १ । ५४ ॥ ^४ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादावन्ताच्चाङ्गां-
स्यामो नुडागमः स्यात् ।

नामि ६ । ४ । ३ ॥ ^५नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाणाम् ।
। रामयोः । सुपि एत्वे कृते ।

आदेशप्रत्यययोः ८ । ३ । ५९ ॥ ^६इण्कवर्गाम्यां परस्याऽपदान्तस्या-
ः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ईपद्विवृतस्य
तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः ।

रामाय—‘राम’ शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन ‘ङे’ विभक्ती ‘ङेर्यः’ इति ‘ङे’
य यादेशे, ‘स्थानिवदादेशोऽनलिवधौ’ इति स्थानिवत्त्वेन यकारे, सुप्त्वमादाय
‘च’ इति दीर्घे ‘रामाय’ इति सिद्धम् ।

ईषदिति—तत्र ऋटुरषाणां मूर्धस्थानिकत्वात्सर्वेषां प्राप्ती उच्यते ईषदिति ।
हि ईपद्विवृतमूष्मणाम् ।

कव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
रामः	रामौ	रामाः	तृ० रामेण	रामाभ्यां	रामैः
रामम्	रामौ	रामान्	च० रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः

न्तु स्थानिसम्बन्धी जो ‘अल्’ उसको मानकर कोई विधि करनी हो तो नहीं ।
—झलादि बहुवचन पर में रहे तो अदन्त अङ्ग के स्थान में एकार आदेश होता है ।
पद नहीं रखते तो ‘पचध्वम्’ इस तिङन्त प्रयोग में भी सूत्र प्रवृत्त हो जाता, क्योंकि
में भी झलादिवहुवचन है) । २—अवसान में जो झल् वे चर् होते हैं, विकल्प से ।
म् विभक्ति पर में रहे तो अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है । ४—ह्रस्वान्त,
और आवन्त अङ्ग से परे जो ‘आम्’ उसको नुट् का आगम होता है । ५—‘नाम्’
हो तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । ६—इण्, और कवर्ग से परे जो अपदान्त

सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७ ॥ १ सर्वादीनि शब्दस्व
सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अ
इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम । २ पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽ
व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । ३ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । ४ अन्तरं बहिर्यो
व्यानयोः । त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदम्, एक, द्वि, युष्मद्, भवतु,
किम् ।

जसः शी ७।१।१७ ॥ २ अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी
अनेकाल्त्वात्सवदिशः । सर्वे ।

सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४ ॥ ३ अतः सर्वनाम्नो डे इत्यस्य स्मै
सर्वस्मै ।

डसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५ ॥ ४ अतः सर्वनाम्न एत
स्तः । सर्वस्मात् ।

प० रामात्-द्	रामाभ्यां	रामेभ्यः	स० रामे	रामयोः	रामौ
ष० रामस्य	रामयोः	रामाणाम्	सं० हे राम	हे रामौ	हे रामे

(एवं गोविन्द, मुकुन्द, कृष्ण, बालकादयोऽपि अदन्तशब्दा बोध्याः)

सर्वे—‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ इति विहितसर्वनाम-संज्ञक-सर्व-
प्रातिपदिकत्वेन जसि, ‘जसः शी’ इति सूत्रेण अनेकाल्त्वात् जसः स्थाने ‘शी
देशे, शकारस्य ‘लशक्वतद्धिते’ इति इत्संज्ञायां, ‘तस्य लोपः’ इति लोपे, ‘अ
इति गुणे ‘सर्वे’ इति सिद्धम् ।

आदेशस्वरूप सकार और प्रत्यय का अवयव जो सकार उसको मूर्धन्य (पकार
होता है । कृष्णः—भगवान् श्रीकृष्णजी ।

१—‘सर्व’ शब्द है आदि में जिनके वा सर्व, विश्व आदि शब्द, सर्वनाम संज्ञक
सर्व—सभी । विश्व—संसार । उभ, उभय—दो । डतर—दो में एक । डतम—अनेक में
में एक । अन्य, अन्यतर—दूसरा । इतर—भिन्न । नेम—आधा । सम—सम्पूर्ण । २—
और असंज्ञा अर्थ में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर शब्दों की
संज्ञा होती है । ३—ज्ञाति (जाति) और धन से भिन्न (आत्मीय आदि) अ
शब्द सर्वनामसंज्ञक होता है । ४—बहिर्योग और उपसंव्यान (पहनने के)
अन्तरशब्द सर्वनामसंज्ञक होता है । त्यद्, तद्—वह । यद्—जो । एतद्, इ
एक—एक । द्वि—दो । युष्मद्—तू । अस्मद्—मैं । भवतु—आप । किम्—कौन ।
सर्वनाम शब्द से परे जस के स्थान में शी आदेश होता है । ६—अदन्त
परे जो डे उसके स्थान में स्मै आदेश होता है । ७—अदन्त सर्वनाम से परे जो
डि उनके स्थान में क्रम से (डसि को) स्मात् और (डि को) स्मिन आदेश

आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२ ॥ ^१अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वाद्योऽप्यदन्ताः । ^२उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ, उभौ । उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभाभ्याम् । उभयोः, उभयोः । तस्येह पाठोऽकजर्थः । उभशब्दस्य द्विवचनं नास्ति । उभयः, उभये । उभयम्, उभयान् । उभयेन, उभयैः । उभयस्मै, उभयेभ्यः । उभयस्मात्, उभयेभ्यः । उभयस्य, उभयेषाम् । उभये, उभयेषु । ^३डतरडतमौ प्रत्ययौ । ^४प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः । ^५नेम इत्यर्थे । ^६समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात् ।

सर्वेषाम्—सर्वशब्दस्य प्रातिपदिकत्वेनामि, 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमे, अनुबन्धलोपे 'सर्वं स् आम्' इति स्थिते 'बहुवचने झत्येत्' इत्येत्वे 'आदेश-प्रत्यययोः' इति षत्वे 'सर्वेषाम्' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० सर्वः	सर्वो	सर्वे	पं० सर्वस्मात्-द्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वि० सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्	ष० सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृ० सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	स० सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
च० सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः	सं० हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

(एवं विश्व, कतर, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, सम, सिमाद्योऽपि बोध्याः) । ननु सर्वनामसंज्ञाकार्यमेकवचनबहुवचनयोर्दृष्टम्, उभशब्दस्तु केवलं द्विवचन इति इह तस्य पाठो व्यर्थः इत्यत आह-तस्येह पाठोऽकजर्थः इति ।

उभशब्दस्य द्विवचनं नास्ति—अयं भावः 'उभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः' इत्येवमेव भाष्यकृता स्वीकृतस्तेनैकवचनबहुवचनयोरेव तत्प्रयोगः । द्विवचने तु तयप्रत्ययान्तस्य प्रयोगः । यथा—उभयः, उभयतयौ, उभये इत्यादि बोध्यम् ।

'तदन्ताः' इति—डतर-डतम-प्रत्ययान्ताः । कतर, कतम, यतर, यतम, ततर, ततम, एकतर, एकतम (आदि) शब्दाः सर्वनामसंज्ञका इति भावः ।

'समः' इति । समशब्दः सर्वपर्यायः तुल्यपर्यायश्च, किन्त्वत्र (सर्वादिगणे)

१—अवर्णान्त अङ्ग से परे सर्वनाम शब्द से किया गया जो आम् उसको सुट् का आगम होता है । २—उभ शब्द सदा द्विवचनान्त होता है । ३—डतर और डतम प्रत्यय (होते) हैं । ४—प्रत्यय के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होता है (अर्थात् तत्प्रत्ययान्त शब्द लिया जाता है) । ५—नेम शब्द का अर्थ आधा है । ६—सर्वार्थवाची सम शब्द की सर्वनामसंज्ञा

पूर्वपराऽवरंदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् ।।
 १। ३४ ।। ^१एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात्सर्वत्र
 प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे, पूर्वाः । असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरुव
^२स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षि
 गाथकाः । कुशला इत्यर्थः ।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । १। १। ३५ । ^३ज्ञातिधनान्यवाचि
 स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । स्वे, स्वाः । आत्मी
 आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु—स्वाः । ज्ञातयोऽर्था वा ।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । १। १। ३६ । ^४बाह्ये परिधान
 चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । अन्तरे अन्तरा
 गृहाः । बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः

सर्वपर्यायस्यैव ग्रहणमन्यथा यथासंख्यमनुदेशः समानामिति सूत्रे समानामित्य
 स्थाने समेषामिति स्यात् ।

स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः—आत्मा-आत्मीय-ज्ञाति-धन-रूपाः । तत्र 'आत्मा
 आत्मीयार्थे' एव सर्वनामसंज्ञा नान्त्यद्वयार्थे ।

होती है (वही यहाँ गृहीत है) तुल्यार्थवाची की नहीं, क्योंकि यदि तुल्यार्थवाची की
 सर्वनाम संज्ञा होती तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' में समानाम् के स्थान में 'समेषा
 होना चाहिए था ।

१-व्यवस्था और असंज्ञा अर्थ में "पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अध
 शब्दों की सर्वत्र गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा जस् (प्रत्यय) पर में हो तो विकल्प
 होती है । पूर्वः—पहिला । परः—अन्य । अवरः—निकृष्ट । दक्षिण, उत्तर दिशा-ने
 अपरः—दूसरा । उत्तराः कुरुवः—उत्तर कुरु नाम देश । २-स्व (पूर्व, पर आदि शब्द
 के अभिधेय (वाच्य अर्थ) से अपेक्ष्यमाण (अर्थात् किस के पूर्व, किस के अन्त तक
 प्रकार का) अवधि का जो नियम वही व्यवस्था पद से कहा जाता है । व्यवस्था पद न
 रहता तो 'दक्षिणा गाथकाः' यहाँ भी सर्वनाम संज्ञा होने लगती । दक्षिणा गाथकाः—
 गायकः । ३-ज्ञाति (ज्ञाति) और धन से भिन्न आत्मा और आत्मीय अर्थ में 'स्व' शब्द को
 सूत्र से प्राप्त जो नित्य सर्वनामसंज्ञा वह जस् परे रहते विकल्प से होती है । केवल 'स्व
 का अर्थ है जाति या धन । स्वे, स्वाः का अर्थ है आत्मीय (अपना) वा आप । ४-
 (बाहर) और परिधानीय (पहनने योग्य) अर्थ में अन्तर शब्द को गणसूत्र से प्राप्त
 नित्य सर्वनामसंज्ञा वह जस् परे रहते विकल्प से होती है । 'अन्तरे, अन्तरा वा' इसके
 'गृहाः' कहने पर बाहर अर्थ होगा । 'शाटकाः' कहनेपर पहनने योग्य साड़ी कप

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७। १। १६ ॥ ^१एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिन् नौ वा
स्तः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । एवं परादीनाम् । शेषं सर्ववत् ।
प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च । १। १। ३३ ॥ ^२एते जसि
उक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः । द्वितये, द्वितयाः । शेषं
रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् । ^३ऋतीयस्य डित्सु वा । द्वितीया-
येत्यादि । एवं तृतीयः । निर्जरः ।

पूर्वादिभ्यो नवभ्य इति । पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व,
अन्तर—इत्येते नव पूर्वादयः । संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः, अस्याः प्राप्त-
विभाषात्वात् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पूर्वः	पूर्वाँ	पूर्वे, पूर्वाः	पूर्वस्मात्, पूर्वात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पूर्वम्	पूर्वाँ	पूर्वान्	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	हे पूर्व ! हे पूर्वा ! हे पूर्वे, हे पूर्वाः !		

एवमेव पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधर-शब्दानामपि रूपाणि ज्ञेयानि ।

तयः प्रत्ययः—‘संख्याया अवयवे तयप्’ इति विहितः । प्रत्ययग्रहणपरि-
भाषया तदन्तस्य ग्रहणाद् द्वितय, द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय इत्यादीनां
ग्रहणं ज्ञेयम् । प्रथम-चरम-द्वितीय-तृतीय-चतुष्टय-अल्प-अर्ध-कतिपयशब्दाः ‘राम’-
शब्दवद् बोध्याः । केवलं जसि विशेषः । यथा ‘प्रथमे, प्रथमाः’ इत्यादि बोध्यम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः	द्वितीयस्मात्-द्	द्वितीया० द्वितीयेभ्यः	द्वितीयानाम्
द्वितीयम्	द्वितीयौ	द्वितीयान्	द्वितीयात्-द्		
द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयेषु
द्वितीयस्मै	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः	द्वितीयस्मिन्	द्वितीययोः	द्वितीयेषु
द्वितीयाय			द्वितीये		
			हे द्वितीय ! हे द्वितीयौ ! हे द्वितीयाः !		

१-पूर्व पर आदि नौ शब्दोंसे ङसि या ङि विभक्ति पर में रहे तो ङसि को स्मात् और
ङि को स्मिन् आदेश होता है, विकल्प से । २-(प्रथम, चरम, तय-प्रत्यान्त, अल्प, अर्ध,
कतिपय और नेम) इन शब्दों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती हैं जस परे रहते । प्रथमः-
पहिला । चरमः-अन्तिम । कतिपयः-कई एक । द्वितीयः-दूसरा । अल्पः-थोड़ा । अर्धः-आधा ।
तृतीयः-तीसरा । ३-डित् (डकार इत्संज्ञक-डे, डसि, डस् प्रत्यय पर में हो तो तीय

जराया जरसन्यतरस्माम् । ७ । २ । १०१ ॥ ^१जराशब्दस्य जरस् स्यादजादौ विभक्तौ ।

॥^२पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च । ^३निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति
॥^४एकदेशविकृतमनन्यवदिति जर-शब्दस्य जरस् । निर्जरसौ, निर्जर
इत्यादि । पक्षे हलादौ च रामवत् । विश्वपाः ।

निर्जरसौ—जरायाः—निर्गत इति विग्रहात्मक (जराविशिष्ट) निर्जर शब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन 'औ' विभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशो तत्सिद्धिः । पक्षे 'निर्जरौ' इति रूपम् । ननु सूत्रे 'जरा' शब्दस्यैव जरसादेशो नियमः, अत्र तु 'निर्जर' शब्द इति कथम् जरसादेश इत्यत आह—'पदाङ्गाधिकारे तस्य०—' इति । तेन तस्य सूत्रोच्चारित 'जरा' शब्दस्य तदन्तस्य निर्जर, परमजरा शब्दस्य च ग्रहणेन दोषाभावः । 'पदाङ्गाधिकारे०' परिभाषया तदन्तग्रहणे निर्जरेति सम्पूर्णस्य स्यादित्यपि न शङ्क्यम्—निर्दिश्यमानस्यैवादेशाः भवन्ती स्वीकारात् । ननु सूत्रे तु जराशब्दः उपदिष्टो न तु जर-शब्द इत्यपि न शङ्क्यम् एकदेशविकृतस्यानन्यत्वस्वीकारात् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
निर्जरः	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जराः	निर्जरसा निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसम् निर्जरम्	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जरान्	निर्जरसे निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः

प्रत्ययान्त (द्वितीय आदि) शब्दों को विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है । जराया निर्जरः—देवता ।

१—अजादि विभक्ति पर में रहे तो जरा शब्द को जरस् आदेश होता है विकल्प से प्रश्न यह होता है कि सूत्र में जरा शब्द पठित है और आप निर्जर शब्द से जरस् आदेश करना चाहते हैं कैसे होगा ? उ० 'पदाङ्गाधिकारे—इति । अतः कोई दोष नहीं है । २—पदाङ्गाधिकार में और अङ्गाधिकार में किये जाने वाले कार्य उच्चारित शब्द के तथा वह शब्द जिसके अन्त में हो उसके स्थान में भी होते हैं । तब प्रश्न यह होता है कि—निर्जर शब्द अनेकाल् है, इस लिये सम्पूर्ण (निर्जर) के स्थान में जरस् आदेश प्राप्त होगा । उ०—यह नियम है कि ३—उच्चारण कर के किया जाने वाला कार्य उच्चारित पद को ही होता है, अतः निर्जर के स्थान पर न होकर जरा के स्थान में जरस् होगा । ४—पुनः यह प्रश्न होता कि यह तो निर्जर शब्द है न कि जरा शब्द; इस दशा में उ०—'एकदेशविकृतमनन्य'

दीर्घाज्जिसि च । ६ । १ । १०५ ॥ १ दीर्घाज्जिसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । विश्वपाम् । विश्वपौ ।

सुडनपुंसकस्य । १ । ४ । ४३ ॥ २ स्वादिपञ्च वचनानि सर्वनामस्थान-संज्ञानि स्युरवलीवस्य ।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । १ । ४ । १७ ॥ ३ कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्व-सर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

यचि भम् । १ । ४ । १८ ॥ ४ यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात् ।

आकडारादेका संज्ञा । १ । ४ । १ ॥ ५ इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकाशा च ।

आतो धातोः । ६ । ४ । १४० ॥ ६ आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य

निर्जरसः निर्जरात्-द्	} निर्जराभ्याम् निर्जरेभ्यः	निर्जरसि निर्जरे	} निर्जरसोः निर्जरयोः	} निर्जरेषु
निर्जरसः निर्जरस्य		निर्जरसोः निर्जरयोः		

इति । एकदेश की विकृति से स्वरूपभिन्नता नहीं मानी जाती (जैसे कुत्ते की "पूँछ का जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही कहा जाता है न कि शृगाल) अर्थात् निर्जर को भी ज मानकर कार्य किया जायगा । विश्वं पाति रक्षति-इति विश्वपाः—संसार का रक्षक ।

१-दीर्घ से जस् और इच् पर में रहे तो पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता है । २-न-सकलिङ्ग को छोड़कर स्वादि (सु, औ, जर्, अम्, औट्) पाँच वचन सर्वनामस्थान-संज्ञ होते हैं । ३-सु से लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त जो सर्वनामस्थान भिन्न प्रत्यय वे (कोई) पर में हों तो पूर्व की पदसंज्ञा होती है । ४-'सु' से लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त जो सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि और अजादि प्रत्यय वे (कोई) पर में रहें तो पूर्व की भ-संज्ञा होती है । ५-पहले अध्याय के चौथे चरण से लेकर "कडाराः कर्मधारये" सूत्र तक एक की एक संज्ञा होती है । प्रश्न-कौन हो ? उ०-जो पर तथा अनवकाश हो (सावकाश अनवकाश का अर्थ यह है कि सूत्र या संज्ञा जब कहीं चरितार्थ रहती है तो उसे सावकाश कहते हैं अचरितार्थ को अनवकाश कहते हैं) । ६-आकारान्त जो धातु तदन्त भ-संज्ञक अङ्ग का लो होता है । शङ्खध्माः-शङ्ख बजाने वाला । हाहा गन्धर्वों का भेद होता है ।

मस्याङ्गस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्या-
मेत्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् । हरिः । हरी ।

जसि च । ७।३।१०९ ॥ ^१ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः स्याज्जसि । हरयः ।

ह्रस्वस्य गुणः । ७।३।१०८ ॥ ^२ह्रस्वस्य गुणः स्यात्सम्बुद्धौ । हे हरे ।

हरिम् । हरी । हरीन् ।

शेषो घ्यसखि । १।४।७ ॥ 'शेष' इति स्पष्टार्थम् । ^३अनदीसंज्ञौ
ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञं स्यात् ।

आडो नाऽस्त्रियाम् । ७।३।१२० ॥ ^४धेः परस्याडो ना स्यादस्त्रियाम् ।
गाडिति टासञ्ज्ञा । हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः ।

विश्वपः—विश्वं पाति-इति विश्वपाशब्दस्य प्रातिपदिकत्वेन शसि अनुबन्ध-
लोपे, 'स्वादिध्वसर्वनामस्थाने' इति प्राप्तां पदसंज्ञां प्रबाध्य, 'आकडारादेका संज्ञा'
ति सूत्रसहकारेण परत्वानवकाशत्वाभ्यां 'यच्चि मम्' इति भसंज्ञायां, 'अलोऽन्त्यस्य'
ति सहकारेण—'आतो धातोः' इति—आकारलोपे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च
तिसद्धम् ।

कव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः	विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः	विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः	विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः	हे विश्वपाः ! हे विश्वपौ ! हे विश्वपाः !		

एवं शङ्खध्मा, अग्निध्मा, धनपा-आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

हे हरे—प्रातिपदिक-हरि-शब्दस्य सम्बुद्धयेकवचने—'सौ' विभक्तौ 'एक-
वचन सम्बुद्धिः इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'हे' इत्यस्य प्राक्प्रयोगः । 'ह्रस्वस्य गुणः'
ति-इकारस्य गुणे, 'एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः' इति सस्य लोपे ततिसद्धम् ।

हरिणा—हरिशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'टा' विभक्तौ, 'चुद्' इति टकारस्ये-
संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते, 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'आडो
ऽस्त्रियाम्' इति नादेशे, 'अट्कुप्वाङ्-' इति नस्य णत्वे च कृते ततिसद्धम् ।

१-जस् पर में ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है । २-सम्बुद्धि (सम्बोधन के प्रथम
एकवचन) पर में रहे तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है । ३-सखि शब्द को छोड़कर
दी-संज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्द घि-संज्ञक होता है । ४-घि-संज्ञावाले
व से परे जो आङ् (टा विभक्ति) उनको 'ना' आदेश होता है स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर ।

औत् । ७ । ३ । ११८ ॥ ^१इदुद्भ्यां परस्य डेरौत्स्यात् । सख्यौ । शेषं हरिवत् ।

पतिः समास एव । १ । ४ । ८ ॥ ^२पतिशब्दः समास एव घिसञ्ज्ञः स्यात् । पत्ये । पत्युः । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु भूपतये । ^३कतिशब्दो बहुवचनान्तः ।

बहुगणवतुडतिसंख्या । १ । १ । २३ ॥ [^४एते संख्यासञ्ज्ञाः स्युः ।]
डति च । १ । १ । २५ ॥ ^५डत्यन्ता संख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ।
षड्भ्यो लुक् । ७ । १ । २२ ॥ ^६षड्भ्यः परयोर्जशसोर्लुक् स्यात् ।
प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः । १ । १ । ६१ ॥ ^७लुक्श्लुलुपशब्दैः कृतं प्रत्यया-
दर्शनं क्रमात्तत्संज्ञं स्यात् ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् । १ । १ । ६२ ॥ ^८प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् । इति जसि चेति गुणे प्राप्ते ।

पतिशब्दः समासे—एव घिसंज्ञको भवति ।

पत्युः—पतिशब्दात्-इसि, अनुबन्धलोपे, 'पतिः समास एव' इति नियमे-
नास्य केवल—पतिशब्दस्य घिसंज्ञाभावात् 'इको यणचि' इति यणि, 'ख्यत्यात्परस्य'
इति—अकारस्योकारे, सस्य स्त्वे, विसर्गे च तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पतिः	पती	पतयः	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पतिम्	पती	पतीन्	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः	हे पते !	हे पती !	हे पतयः !

भूपति, रमापति, श्रीपति—आदि—शब्दानां रूपाणि 'हरि'शब्दवद् बोध्यानि ।

१—ह्रस्व इकार, उकार से परे डि को औत् (औकार) आदेश होता है । २—पति शब्द
घि-संज्ञा केवल समास में ही होती है । पतिः=स्वामी । भूपतिः—राजा । ३—'कति' शब्द
स्य (सदा) बहुवचनान्त ही होता है । ४—बहु शब्द, गण शब्द, वतु-प्रत्ययान्त शब्द
और डति-प्रत्यान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती है । ५—डतिप्रत्ययान्त संख्यावाचक शब्द
षट् संज्ञा होती है । ६—षट्-संज्ञाले शब्दों से परे जो जस् और शस् उनका लुक् (लोप)
जाता है । ७—लुक्, श्लु और लुप् शब्दोच्चारणपूर्वक किया गया जो अदर्शन (लोप)
ह क्रम से लुक्, श्लु, लुप् संज्ञक होता है । ८—प्रत्यय के लोप हो जानेपर भी तदाश्रित
प्रत्ययनिमित्तक) कार्य होता है ।

न लुमताङ्गस्य । १ । १ । ६३ ॥ ^१लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तकार्यं न स्यात् । कति । कति । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यबहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः । त्रिभ्यः ।

त्रेस्त्रयः । ७ । १ । ५३ ॥ ^२त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि । त्रयाणाम् त्रिषु । गौणत्वेऽपि । प्रियत्रयाणाम् ।

त्यदादीनामः । ७ । २ । १२२ ॥ ^३एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः । द्वौ । द्वौ । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः द्वयोः । पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः ।

दीर्घाज्जसि च । ६ । १ । १०५ ॥ ^४दीर्घाज्जसि इच्चि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । पप्यौ । पप्यौ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पपीन् । पप्यापपीभ्याम् । पपीभ्याम् । पपीभ्याम् । पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः । पपीभ्यः । पप्यः । पप्यः । पप्योः । दीर्घत्वान्न नुट् । पप्याम् । डौ तु सवर्णदीर्घः । पपीपप्योः । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः । बह्वचः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी ।

कति—कतिशब्दाज्जसि 'बहुगणवतुडतिसख्या' इति संख्यासज्ञां तथा 'डति च इत्यनेन षट्संज्ञां च कृत्वा 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' इति लुक्संज्ञायां, 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि (लोपे) सति 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति सूत्रसहकारेण जसु निमित्तको गुणः प्राप्तो 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधे सिद्धं रूपं 'कति' इति

युष्मदस्मदिति—युष्मद्, अस्मद् तथा षट्संज्ञकाश्च शब्दाः त्रिषु 'पुंल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गेषु' समानरूपाः (भवन्ति) । यथा-कति पुरुषाः ? कति स्त्रियः ? कति पुष्पाणि ? इत्यादि ।

त्रेस्त्रयः—त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्त इति नियमोऽर्थपरोऽतस्त्रिशब्दस्वरूपकत्रिशब्दस्य 'त्रेः' रूपस्य प्रतिपादने न कश्चिद्दोषः ।

त्रयः (प्र०) त्रीन् (द्वि०) | त्रिभ्यः (प०) त्रयाणाम् (षष्ठी)
त्रिमिः (तृ०) त्रिभ्यः (च०) | त्रिषु (स०) हे त्रयः ! (सम्बोधः)

१-जहाँ लुमान् (लुक्, श्लु, लुप्) शब्दों द्वारा लोप हुआ रहता है, वहाँ तन्निमित्तकार्य नहीं होता । कति-कितने । त्रयः-तीन । २-आम विभक्ति पर में रहे तो 'त्रि' शब्द त्रय आदेश होता है । ३-विभक्ति पर में हो तो त्यदादियों (के अन्त) को अकार अन्तादेश होता है । ४-'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्द पर्यन्त ही त्यदादि शब्द हैं, क्योंकि भाष्यकार ऐसा ही इष्ट है । पपीः-सूर्य । ५-दीर्घ से जस् और इच् पर में रहे तो पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता है । वातप्रमीः-मृग । बहुश्रेयसी-बहुत कल्याण चाहनेवाली नारियों का पुरुष ।

यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३ ॥ ^१ईद्वन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गी नदीसंज्ञो
स्तः । *^२प्रथमलिङ्गग्रहणं च । पूर्व स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं
वक्तव्यमित्यर्थः ।

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७ ॥ ^३अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च
ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि ।

आणनद्याः ७।३।११२ ॥ ^४नद्यन्तात्परेषां डितामाडागमः स्यात् ।

आटश्च ६।१।९० ॥ ^५आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् ।
बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः । बहुश्रेयस्याः । बहुश्रेयसीनाम् ।

डेराभनद्याम्नीयः ७।३।११६ ॥ ^६नद्यन्तादावन्तान्नीशब्दाच्च परस्य-
डेराम् स्यात् । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् । अड्यन्तत्वान्न सुलोपः ।
अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् । प्रधीः ।

प्रथमलिङ्गेति—समासादिवृत्तेः प्राक् नित्यस्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य वृत्तौ
उपसर्जनत्वेऽपि नदीसंज्ञा भवतीत्यर्थः ।

अम्बार्थेति—अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च ह्रस्वः स्यात् सम्बुद्धौ—इत्यर्थः ।

बहुश्रेयस्याम्—बहुश्रेयसीशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'डि' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे
च 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति सूत्रेण नदीसंज्ञायाम्, 'आण् नद्याः' इत्यनेनाटि, 'डेराभन-
द्याम्नीम्यः' इति डेरामि, 'इको यणचि' इति यणादेशे वृद्धौ च कृते तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीम्यः
बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीः	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीम्यः	हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः

न सुलोप इति—अत्रायं विशेषसंग्रहः पूर्वोचरितः—

अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ही-श्रीणामुणादिषु ।

सप्तानामपि शब्दानां सोलोपो न कदाचन ॥

१-नित्य स्त्रीलिङ्ग इकारान्त, ऊकारान्त शब्दों की नदी-संज्ञा होती है । २-जो शब्द
वाले स्त्रीलिङ्ग हो और उपसर्जनवश अन्यलिङ्ग भी हो गया तो उसको नदी-संज्ञा कहनी
चाहिए (होती है) । ३-सम्बुद्धि पर में रहे तो अम्बार्थक (अम्बा शब्द के अर्थवाले) और
अदन्तसंज्ञावाले शब्दों को ह्रस्व होता है । ४-नद्यन्त शब्द से परे जो डित् (डे, डसि,
डि) उनको आट् का आगम होता है । ५-आट् से अच् पर में रहे तो पूर्व और
उनके स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । ६-नद्यन्त, आवन्त और नी शब्द से परे जो

अच्चि इनुधातुभ्रुवां य्वोरिडुवडौ ६।४।७७ ॥ 'इनुप्रत्ययान्तस्ये-
वर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्यस्य चाऽङ्गस्येयडुवडौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे ।
इति प्राप्ते ।

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२ ॥ 'धात्ववयवसंयोगपूर्वो न
भवति य इवर्णस्ततो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यणस्यादजादौ
प्रत्यये । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् ।
एवं ग्रामणीः । डौ तु ग्रामण्याम् । अनेकाचः किम् ? । नीः । नियौ ।
नियः । अमि शसि च परत्वादियङ् । नियम् । डेराम् । नियाम् । असंयोग-
पूर्वस्य किम् ? सुश्रियौ । यवक्रियौ ।

अतिलक्ष्मी-शब्दस्य सौ 'अतिलक्ष्मीः' इति । शेषरूपाणि बहुश्रेयसीवद्
बोध्यानि ।

प्रध्य—प्रधी-शब्दात्प्रातिपदिकत्वेन 'डि'विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'अच्चि
इनुधातुभ्रुवां य्वोरियडुवडौ' इति यण् प्राप्तस्तं प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'
इति यणि कृते सिद्धं रूपं "प्रध्य" इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु
प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः	हे प्रधीः !	हे प्रध्यौ !	हे प्रध्यः !

प्रधीवत् ग्रामणीशब्दस्यापि रूपाणि । केवलं डौ भेदः—'ग्रामण्याम्' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सुश्रीः	सुश्रियौ	सुश्रियः	सुश्रियः	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
सुश्रियम्	सुश्रियौ	सुश्रियः	सुश्रियः	सुश्रियोः	सुश्रियाम्
सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः	सुश्रियि	सुश्रियोः	सुश्रीषु
सुश्रिये	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः	हे सुश्रीः !	हे सुश्रियौ !	हे सुश्रियः !

'डि' उसको आम् आदेश होता है । लक्ष्मीमतिक्रान्तोऽतिलक्ष्मीः, लक्ष्मी को अतिक्रमण करने
वाला । प्रकृष्टा धी बुद्धिर्यस्य सः प्रधीः—अति बुद्धिमान् ।

१—'इनु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु को तथा 'भ्रू' शब्द के अङ्ग को
इयङ्, उवङ् आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते । २—धातु का अवयव संयोग से पूर्व

गतिश्च १।४।४० ॥ १प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः ।
 ६३ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते । शुद्धधियौ ।

न भूसुधियोः ६।४।८५ ॥ १एतयोरचि सुपि यण् स्यात् । सुधियौ ।
 सुधियः इत्यादि । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतीः । सुख्यौ । सुख्यौ । सुत्यौ ।
 सुत्यौ । सुख्युः । सुख्युः । सुत्युः । सुत्युः । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् ।
 एवं भान्वादयः ।

तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५ ॥ ४क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते असम्बुद्धौ
 सर्वनामस्थाने परे । क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टुशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११० ॥ ५ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यात्
 ङौ सर्वनामस्थाने च परे । इति प्राप्ते ।

ऋदुशनस्पुरुहंसोऽनेहसां च ७।१।७४ ॥ ६ऋदन्तानामुशनसादीनां
 चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ।

अप्तृन्तृच्चस्वसृन्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११ ॥
 ७अवादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ ।
 क्रोष्टारः । क्रोष्टृन् ।

एवमेव यवक्री, शुद्धधी, धान्यक्री, सुधी, लब्धधी—आदि शब्दानामपि
 रूपाणि बोध्यानि । सुखी, सुती—आदि शब्दाः उक्तादध्याः प्रधीवत् ज्ञेयाः । शम्भु,
 भानु, विष्णु, मनु—आदि—शब्दास्तत्सदृशाश्च हरिशब्दवत्—ज्ञेयाः ।

क्रोष्टा—क्रोष्टुशब्दात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इत्यनेन तृज्वद्भावेन

में न हो ऐसा जो इवर्ण, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे
 रहते । ग्रामगीः—गांव का अफसर, मुखिया । नीः—पहुंचानेवाला । सुश्रीः—सुन्दर
 शोभावाला । यवक्रीः—यव (जव) खरीदनेवाला ।

१—क्रिया के योग में प्रादियों की गति-संज्ञा होती है । २—गति और कारक से भिन्न
 पूर्वपद रहे तो यण् नहीं होता है । शुद्धधीः—निर्मल बुद्धिवाला । ३—भू और सुधी शब्द को
 अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते यण् नहीं होता है । सुखीः—सुख चाहनेवाला । सुतीः—पुत्र की
 इच्छा करनेवाला । शम्भुः—श्री शिवजी । भानुः—सूर्य । ४—सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान
 विभक्ति पर में रहे तो क्रोष्टु शब्द के स्थान में क्रोष्ट आदेश होता है । ५—ङि या सर्वनाम-
 स्थानसंज्ञक विभक्ति पर में रहे तो ऋदन्त अङ्ग को गुण होता है । ६—सम्बुद्धि से भिन्न 'सु'
 विभक्ति पर में रहे तो ऋदन्तों और उशनसादिकों को अनङ् आदेश होता है । ७—सम्बुद्धि
 से भिन्न सर्वनाम स्थान पर में रहे तो अप्, तृन्, तृच् आदि शब्दों की उपधा को दीर्घ

विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७ ॥ ^१अजादिषु तृतीया।
क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्टा । क्रोष्ट्रे ।

ऋत उत् ६।१।१११ ॥ ^२ऋतो डमिडसोरति उदेकादेशः स्यात् ।
रपरः ।

रात्सस्य ८।२।२४ ॥ ^३रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य ।
रस्य विसर्गः । क्रोष्टुः । क्रोष्टुः । क्रोष्ट्रोः । क्रोष्ट्रोः । *नुमचि रतृज्वद्भावेभ्यो
नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्ट्रिः । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ।

क्रोष्टुशब्दस्य क्रोष्टृभावे जाते, 'ऋतो डि सर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन प्राप्तं गुणं
बाधित्वा 'ऋदुशनस्पुरहंसो—०' इति सूत्रेणोपधादीर्घे, नकारस्य लोपे च कृते
'क्रोष्टा' इति सिद्धम् ।

क्रोष्टुः—क्रोष्टुशब्दात्—डसि, अनुबन्धलोपे, 'विभाषा तृतीयादिषु' इति
सहकारेण वैकल्पिके तृज्वद्भावे, 'ऋत उत्' इति पूर्व-परयोः उत्वे रपत्वे च,
'रात्सस्य' इति सस्य लोपे, खरवसानयोरिति रेफस्य विसर्गे च 'क्रोष्टुः' इति
सिद्धयति । तृज्वद्भावाभावे—विसंज्ञायां घेडितीति गुणे डसिडसोश्चेति पूर्वस्मि च
'क्रोष्टोः' इति सिद्धयति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः	क्रोष्टुः	} क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुभ्यः	
क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्	क्रोष्टोः		
क्रोष्ट्रा	} क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुमिः	} क्रोष्टुमिः	क्रोष्टुः	} क्रोष्ट्रोः	} क्रोष्टूनाम्
क्रोष्टुना			क्रोष्टोः		
क्रोष्ट्रे	} क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुभ्यः	} क्रोष्टुभ्यः	क्रोष्ट्रिः	} क्रोष्ट्रोः	} क्रोष्टुषु
क्रोष्ट्वे			क्रोष्टी		

हे क्रोष्टो ! हे क्रोष्टारौ ! हे क्रोष्टारः

पूर्वविप्रतिषेधेन—विप्रतिषेधे परं कार्यमिति सूत्रे 'अपरम्' इति

होता है । क्रोष्टा-शृगाल, गीदड़ ।

१-अजादि तृतीयादि विभक्तियाँ पर में हों तो क्रो'ष्टु शब्द को तृज्वद्भाव विकल्प
होता है । २-ऋदन्त अङ्ग से डसि या ड्स सम्बन्धी आकार पर में हो तो पूर्वपर के स्थ
में ह्रस्व उकार आदेश होता है । ३-रेफ से परे यदि संयोगान्त-लोप होवे तो केवल स
ही हो, अन्य का नहीं । ४-नुम् और अच् पर में हो तो रभाव एवं तृज्वद्भावों

ः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहूम-इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्य विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वः । अतिचम्वः । अतिचमूनाम् । खलपूः ।

ओः सुपि ६।४।८३ ॥ ^१धात्वयवसंयोगपूर्वो न भवति च उवर्ण-
स्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्याऽनेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्वौ ।
खलप्वः । एवं सुल्वादवः । स्वभूः । स्वभुवौ । स्वभुवः । वर्षाभूः ।

वर्षाभ्वश्च ६।४।८४ ॥ ^२अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षा-
भ्वावित्यादि । दृन्भूः । ^३दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः । दृन्भवौ ।
एवं करभूः । धाता । हे धातः । धातारौ । धातारः । ^४ऋवर्णान्नस्य णत्वं
वाच्यम् । धातृणाम् । एवं नप्त्रादयः । नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमा-

क्रियते तेन 'पूर्वं कार्यं स्यात्' इत्यर्थो लभ्यते । वातिककाराद्यभिमतस्थलेष्वेव
पूर्वविप्रतिषेधनियमो यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
धाता	धातारौ	धातारः	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
धातारम्	धातारौ	धातृन्	धातुः	धात्रोः	धातृणाम्
धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	धातरि	धात्रोः	धातृषु
धात्रे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः

एवमेव नप्त्रादयोऽपि शब्दा ज्ञेयाः ।

नियमाथंम्—उणादि-निष्पन्नानां तृत्तृत्प्रत्यान्तानां संज्ञाशब्दानामुपधादीर्घ-
श्चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेवेति नियमाकारः । एवञ्च पित्रादिशब्दानां नप्त्रादिभिन्नतया
नानेन दीर्घः ।

अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध (के नियम) से नुट् ही होता है । हूहूः—गन्धर्व । अतिचमूः—सेना को
अतिक्रमण करनेवाला । खलपूः—खलिहान, सफाई करनेवाला ।

१-धातु का अवयव संयोगपूर्व में न हो ऐसा जो उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग
को यण् होता है अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते । सुल्ः—अच्छा काटनेवाला । स्वभूः—ब्रह्मा ।
वर्षाभूः—मेंढक । २-'वर्षाभू' शब्दावयव उकार के स्थान में यण् आदेश होता है, अजादि
सुप् परे रहते । दृन्भूः—वानर, साँप, वज्र, सूर्य । ३-दृन् कर और पुनःपूर्वक भू के उवर्ण
को यण् होता है अजादि सुप् परे रहते । करभूः—हाथ से उत्पन्न हुआ । धाता—ब्रह्मा ।
४-ऋवर्ण से परे जो नकार उसको णकार होता है । नप्त्रा—नाती, पौत्र ।

र्थम् । तेनेह न । पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । शेषं धातृवत्
जामात्रादयः । ना । नरौ ।

नृ च ६।४।६ ॥ 'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात् । नृणाम् ।
नृणाम् ।

गोतो णित् ७।१।९० ॥ ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिट्त्स्यात् ।
गौः । गावौ । गावः ।

औतोऽम्शसोः ६।१।९३ ॥ ओकारादम्शसोरचि परे आकार
एकादेशः स्यात् । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः-इत्यादि ।

रायो हलि ७।२।८५ ॥ रैशब्दस्याकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि
विभक्तौ । राः । रायौ । रायः । राभ्यामित्यादि । ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः ।
ग्लौभ्यामित्यादि ।

॥ इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः ॥

५७३०६५५

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पिता	पितरौ	पितरः	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पितरम्	पितरौ	पितृन्	पितुः	पित्रोः	पितृणाम्
पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	पितरि	पित्रोः	पितृषु
पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

एवमेव भ्रातृ-जामात्रादीनामपि रूपाणि बोध्यानि ।

इत्यजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

५७३०६५५

जामाता-दामाद । ना-मनुष्य ।

१-नाम् पर में हो तो नृ शब्द को दीर्घ होता है, विकल्प से । २-ओकार से विहित
(किया गया) जो सर्वनामस्थान वह णिट्त् (णित् के समान) होता है । ३-ओकार से
अम् और शस् सम्बन्धी अच् पर में रहे तो पूर्व-पर के स्थान में आकार एकादेश होता है ।
४-हलादि विभक्ति पर में रहे तो 'रै' शब्द को आकार अन्तादेश होता है (अर्थात् 'ऐ' को
"आ" हो जाता है) ।

* अजन्तपुँल्लिङ्ग-प्रकरण समाप्त *

५७३०६५५

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

रमा ।

औडः आपः ७ । १ । १८ ॥ ^१आवन्तादङ्गात्परस्यौडः शी स्यात् ।
औडित्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ।

सम्बुद्धौ च ७ । ३ । १०६ ॥ ^२आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ । एङ्हस्वा-
दिति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः ।

आडिः चाऽऽपः ७ । ३ । १०५ ॥ ^३आडि ओसि च परे आवन्तस्याऽ-
ङ्गस्य एकारः स्यात् । रमयां । रमाभ्याम् । रमाभिः ।

याडापः ७ । ३ । ११३ ॥ ^४आपः परस्य डिद्वचनस्य याडागमः स्यात् ।
वृद्धिः । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः । रमायाः । रमयोः ।
रमयोः । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गाऽम्बिकादयः ।

रमा—रमते विष्णुना सह—इति विग्रहे पचाद्यच्, 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि-
अनुबन्धलोपे, हल्ङ्यादिना सालोपे तत्सिद्धम् ।

रमायै—रमाशब्दात् प्रातिपदिकत्वेन 'डे' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'याडापः'
इति याडागमे, अनुबन्धलोपे, 'वृद्धिरेचि' वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धिः । अत्र आटश्चेति
वृद्धिस्तु न शङ्क्या, प्रकृते आटोऽभावात् । 'सर्वस्यै' इत्यादावपि वृद्धिरेचीत्यनेनैव
वृद्धिर्ज्ञेया । 'रमायाः' इत्यादावपि 'अकः सत्रणो दीर्घः' इति दीर्घ एव ज्ञेयः ।

रमायाम्—रमाशब्दात्-'डि' विभक्तौ 'डेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति डेरामि,
'याडापः' इति याटि, टकारस्य लोपे, 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
रमा	रमे	रमाः	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
रमाम्	रमे	रमाः	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	रमायाम्	रमयोः	रमासु
रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

एवं दुर्गा-अम्बिका-खट्वा-शाला-माला-बाला-श्रद्धा-मेधादीनामपि रूपाणि बोध्यानि ।

१-आवन्त अङ्ग से परे जो औड् (औकार विभक्ति) उसको शी आदेश होता है ।
रमा-लक्ष्मी । २-सम्बुद्धि (सम्बोधन) परे रहे तो आवन्त अङ्ग के आकार को एकार
होता है । ३-आङ् (टा) या ओस् विभक्ति पर में हो तो आवन्त अङ्ग के आकार को एकार
होता है । ४-आवन्त अङ्ग से पर में जो डिद्वचन (डे, डसि, डस्, डि) उनको याट्का
आगम होता है ।

सर्वनाम्नः स्याद्-ह्रस्वश्च ७।३।११४ ॥ 'आवन्तात्सर्वनाम्नः परस्-
डितः स्याद् स्यादापश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै । सर्वस्याः । सर्वस्याः । सर्वासाम् ।
सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वादय आवन्ताः ।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८ ॥ 'अत्र सर्वनामता वा
स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा । द्वितीय-
स्यै, द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थेति ह्रस्वः । हे अम्ब ! हे अक्क !
हे अल्ल ! जरा । जरसौ । जरे । इत्यादि । पक्षे रमावत् । गोपा विश्वपावत् ।
मतीः । मत्या ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सर्वा	सर्वे	सर्वाः	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वाः !

एवं विश्वा-आदयोऽपि बोध्याः ।

'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधानेन-उत्तर-
पूर्वा-शब्दात् सर्वनामसंज्ञापक्षे ङिति-आमि स्याद्-सुटौ भविष्यतः । पक्षे च रमावत्
रूपाणि बोध्यानि । यथा-उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै इत्यादि । एवमेव द्वितीया,
तृतीया-आदि-शब्दानामपि रूपाणि भवन्ति । 'अम्बा' शब्दः-रमावत् ।

आवन्त-स्त्रीलिङ्गो जरा शब्दः—

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
जरा	जरे } जरसौ }	जराः } जरसः }	जरायाः, जरसः	जराभ्याम्	जराभ्यः
जराम्	जरे } जरसौ }	जराः } जरसः }	जरायाः } जरसः }	जरयोः } जरसोः }	जराणाम् जरसाम्
जरसम्	जरे } जरसौ }	जराः } जरसः }	जरायाम् } जरसि }	जरयोः } जरसोः }	जरासु
जरया	जराभ्याम्	जराभिः	हे जरे !	हे जरे !	हे जराः !
जरसा	जराभ्याम्	जराभ्यः	हे जरसौ !	हे जरसौ !	हे जरसः !

१-आवन्त सर्वनाम से परे छिद्वचन को स्याद् का आगम होता है और आप् को ह्रस्व
भी हो जाता है । सर्वा—सर्व (स्त्री सामग्री इत्यादि) २-दिशावाची शब्दों को बहुव्रीहि
समास में सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है । उत्तरपूर्वा-ईशानकोण । द्वितीया-दूसरी । तृतीया-
तीसरी । अम्बा-माता वा दुर्गा । अल्ला-माता । जरा-बुढ़ापा । गोपा-गोपी ।

डिति ह्रस्वश्च १।४।६ ॥ 'इयडुवड्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्य-
स्त्रीलिङ्गावीदृतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो डिति ।
मत्यै, मतये । मत्याः । मत्याः । मतेः । मतेः ।

इदुद्भ्याम् ७।३।११७ ॥ 'नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य डेराम्
स्यात् । मत्याम्, मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः ।

त्रि-चतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ ७।२।९९ ॥ 'स्त्रीलिङ्गयोरेतावा-
देशौ स्तौ विभक्तौ ।

अचि र ऋतः ७।२।१०० ॥ 'तिसृ' 'चतसृ' एतयोर्ऋकारस्य

मत्याम्—मतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वेन डौ, अनुबन्धलोपे च कृते 'डिति ह्रस्वश्च'
इति नदीसंज्ञायाम् 'इदुद्भ्याम्—' इति डेरामि कृते 'इको यणचि' इति यणादेशे
तत्सिद्धम् । ननु मत्यामित्यत्र नदीसंज्ञापक्षे 'डेराम्-नद्याम्नीभ्यः' इत्यनेनैव आमि
सिद्धे इदुद्भ्यामित्यस्यारम्भो व्यर्थ इति नाशङ्कनीयम्, डेरामित्यस्य गौर्यामित्यत्र,
'औत्' इत्यस्य च सख्यौ पत्यो इत्यादौ चारितार्थ्येन प्रकृते 'औत्' इत्यस्य
प्रवृत्त्यापत्तेः । सति त्वस्मिन् निरवकाशेनानेन औदित्यस्य बाध इति अभिप्रायेणा-
स्यारम्भ इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
मतिः	मती	मतयः	मत्याः	} मतिभ्याम्	मतिभ्यः
मतिसृ	मती	मतीः	मतेः		
मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	मत्याः	} मत्योः	मतीनाम्
मतेः			मतेः		
मत्यै	} मतिभ्याम्	मतिभ्यः	मत्याम्	} मत्योः	मतिषु
मतये			मतौ		
			हे मते !	हे मती !	हे मतयः !

एवमेव गति-भूति-धृति-कान्ति-दीप्ति-स्मृति-रुचि-बुद्धि-स्तुत्यादयो ह्रस्व-
इकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः ज्ञेयाः ।

१-डिद्वचन विभक्ति पर में रहे तो इयड् या उवड् के स्थानी, स्त्रीशब्दावयव ईकार से
भिन्न एवं नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईकार उकार और ह्रस्व जो इकार उकार, उनकी नदीसंज्ञा
स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से होती है । २-नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार, उकार से परे जो 'डि' उसको
आम् होता है । ३-विभक्ति पर में रहे तो स्त्रीलिङ्ग में त्रि शब्द को तिसृ और चतुर्ग शब्द
को चतसृ आदेश होता है । ४-अच् पर में रहे तो तिसृ, चतसृ शब्दों के ऋकार के स्थान

रेफादेशः स्यादचि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः । तिसृभिः । तिसृभ्यः । तिसृभ्यः । आमि नुट् ।

न तिसृचतसृ ६ । ४ । ४ ॥ ^१एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे । द्वे । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्वयोः । गौरि । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! गौर्यै-इत्यादि । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः । गौरीवत् । एवं तरीतन्व्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि !

स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ॥ ^२स्त्रीशब्दस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे स्त्रियौ । स्त्रियः ।

वाङ्मशसोः ६ । ४ । ८० ॥ ^३अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्रियः, स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः । स्त्रियाः । परस्वन्नुट् । स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु । श्रीः । श्रियौ । श्रियः ।

नेयङ्ङुवङ्स्थानावस्त्री १ । ४ । ४ ॥ ^४इवङ्ङुवङ्ङोः स्थितिर्योस्तौ दूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः । श्रियै, श्रिये । श्रियाः, श्रियः ।

गुणदीर्घोत्वानामपवादः—प्रथमायां 'ऋतो डि-०' इति 'जसि च' इति प्रासं गुणं बाधते । एवं द्वितीयायां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति प्रासं दीर्घं बाधते । प्रियतिस्रः इत्यादौ 'ऋत उत्' इति प्रासं उत्वं बाधते इत्यर्थः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
गौरी	गौर्यौ	गौर्यः	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु
गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः	हे गौरि !	हे गौर्यौ !	हे गौर्यः !

लक्ष्मी-शब्दस्यापि रूपाणि-एवंविधानि । केवलं 'सौ' विशेषो 'लक्ष्मीः' इति एवमेव सरस्वती-नदी-ब्राह्मणी-कुमारी-सारङ्गी-कोष्टी-दरी-सुन्दरी-वानरी-सखी-गुत्यादयः शब्दाः दीर्घकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ज्ञेयाः ।

में रेफादेश होता है । तिस्रः—तीन स्त्रियां । चतस्रः—चार स्त्रियां ।

१-नाम परे रहते तिस्र, चतस्र शब्दों के दीर्घ नहीं होता । द्वे-दो (स्त्रियां) । गौरी शिवपत्नी (पार्वती) । तरीः—नौका । तन्त्री—वीणा । २-अजादि प्रत्यय पर में रहे तो शब्द के ईकार को इयङ् आदेश होता है । ३-अम् या शस् विभक्ति पर में रहे तो स्त्री शब्द वयव ईकार को इयङ् विकल्प से होता है । श्रीः—लक्ष्मी । ४-स्त्री शब्द को छोड़कर (अल) इयङ् उवङ्स्थानीय एवं नित्यस्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईकार ऊकार उनकी नदी-संज्ञा होती

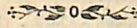
वाऽऽमि १।४।५ ॥ १इयङुवङ्स्थानौ स्व्याख्यौ यू आमि वा
नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री । श्रीणाम्, श्रियाम् । श्रियि, श्रियाम् । धेनुर्मतिवत् ।
स्त्रियाञ्च ७।१।२६ ॥ २स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते ।
ऋन्नेभ्यो डीप् ४।१।५ ॥ ३ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां डीप्
स्यात् । क्रोष्ट्री । गौरीवत् । भ्रूः-श्रीवत् । स्वयंभूः-पुंवत् ।
न षट्स्वस्त्रादिभ्यः ४।१।१० ॥ ४षट्सञ्जञ्केभ्यः स्वस्त्रादिभ्यश्च
डीप्तापौ न स्तः ।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।

याता मातेति सप्तैते स्वस्त्रादय उदाहृताः ॥

स्वसा । स्वसारौ । माता—पितृवत् । शसि मातृः । द्यौर्गोवत् । राः—
पुंवत् । नौर्गोवत् ।

॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

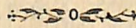


अथाजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

अतोऽम् ७।१।२४ ॥ १अतोऽङ्गात् क्लीवात्स्वमोरम् स्यात् । अमि
पूर्वः । ज्ञानम् । एङ्हस्वादिति हल्लोपः । हे ज्ञान !

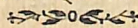
हल्लोपः—अत्र परत्वात् सोः—अमादेशपूर्वरूपयोः कृतयोः 'एङ्हस्वादिति'
मकारस्य लोप इत्यर्थः ।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।



१-आम् विभक्ति पर में रहे तो स्त्री-शब्द से भिन्न इयङ्-उवङ् स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग जो
ईकार, ऊकार उनकी नदीसंज्ञा विकल्प से होती है । धेनुः-नई ब्याई गाय । २-स्त्रीवाची
(स्त्रीलिङ्ग में होनेवाला) क्रोष्टु शब्द तृजन्त के समान रूप को प्राप्त करता है । ३-स्त्रीलिङ्ग
में ऋदन्त एवं नकारान्त शब्दों से डीप् प्रत्यय होता है । क्रोष्ट्री-सिआरिन (गीदडी) ।
भ्रूः-भ्रुकुटि । स्वयंभूः-परमेश्वर वा मायी । ४-षट्-संज्ञक एवं स्वस्त्रादि शब्दों से डीप् और
टाप् प्रत्यय नहीं होते हैं । स्वसा-बहिन (भगिनी) । तिस्रः-तीन । चतस्रः-चार । ननान्दा
ननद (पतिभगिनी) । दुहिता (पुत्री) । याता-देवराणी, जेठानी-(देवर की या बड़ेकी स्त्री)
माता-प्रसिद्ध हैं । ये सात स्वस्त्रादि हैं ।

* अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त *



५-नपुंसक अदन्त अङ्ग से परे सु और अम् को अम् होता है ।

नपुंसकाच्च ७।१।१९ ॥ ^१क्लीवात्परस्यौडः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् ।
यस्येति च ६।४।१४८ ॥ ^२ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णाऽवर्णयो-
लोपः स्यात् । इत्यल्लोपे प्राप्ते ॐ^३औडः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः । ज्ञाने ।

जश्शसोः शिः ७।१।२० ॥ ^४क्लीवादनयोः शिः स्यात् ।

शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२ ॥ ^५‘शि’ इत्येतदुक्त—[सर्वनाम-
स्थान] संज्ञं स्यात् ।

नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२ ॥ ^६झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीवस्य
नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने ।

मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७ ॥ ^७अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्पर-
स्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्धत् । शेषं
पुंवत् । एवं धनवनफलादयः ।

ज्ञानानि—प्रातिपदिक-ज्ञानशब्दाज्जसि—‘जश्शसोः शिः’ इति जसः स्थाने
श्यादेशे, ‘शि सर्वनामस्थानम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां, ‘मिदचोऽन्त्यात्परः’ इति
बलेन ‘नपुंसकस्य झलचः’ इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे, ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’
इति दीर्घे सिद्धं रूपं ज्ञानानीति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि	ज्ञानात्-द्	ज्ञानाम्याम्	ज्ञानेभ्यः
ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
ज्ञानेन	ज्ञानाम्याम्	ज्ञानैः	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु
ज्ञानाय	ज्ञानाम्याम्	ज्ञानेभ्यः	हे ज्ञान !	हे ज्ञाने !	हे ज्ञानानि !

एवमेव धन-वन-फल-पुष्प-मुख-वचन-आदयः शब्दाः ज्ञेयाः ।

१-नपुंसक अङ्ग से पर में जो औड् (औ या औट्) उनको ‘शी’ आदेश होता है ।
२-ईकार और तद्धित पर में रहे तो भसंज्ञक इवर्ण और उवर्ण का लोप हो जाता है ।
३-औड् के स्थान में जो ‘शी’ वह पर में रहे तो (भसंज्ञक इवर्ण, अवर्ण के) लोप का
प्रतिषेध (निषेध) कहना चाहिये । ४-नपुंसक अङ्ग से परे जस् और शस् को ‘शि’ का
आदेश होता है । ५-‘शि’ यह सर्वनामस्थानसंज्ञक होता है । ६-सर्वनामस्थान पर में रहे
तो झलन्त एवं अजन्त अङ्ग को नुम् का आगम होता है । ७-अचों के मध्य के अन्त्य अच्
से परे और उसी (अन्त्य अच्) का अन्तिम अवयव मित्-संज्ञक होता है । धन, वन,
फल—तीनों का अर्थ प्रसिद्ध है ।

अदङुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७ । १ । २५ ॥ ^१एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्-
डादेशः स्यात् ।

टेः ६ । ४ । १४३ ॥ ^२डिति भस्य टेलोपः स्यात् । कतरत्, कतरद् ।
कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् ।
अन्यत् । अन्यतरत् । अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव । ^३एकतरात्प्रतिषेधो
वक्तव्यः ❀ । एकतरम् ।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १ । २ । ४७ ॥ ^४अजन्तस्येत्येव
[क्लीबे प्रातिपदिकस्याऽजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्] । श्रीपं ज्ञानवत् ।

स्वमोर्नपुंसकात् ७ । १ । २३ ॥ ^५क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यात् ।
वारि ।

इकोऽचि विभक्तौ ७ । १ । ७३ ॥ ^६इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् स्यादचि

कतरत्-द्—कतरशब्दात् सौ, 'अदङुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सोरद्डादेशे,
अनुबन्धलोपे, 'यचि भम्' इति असंज्ञायां, 'टेः' इत्यनेन टिलोपे 'कतरद्' इति ।
'वावसाने' इति दस्य तकारेण 'कतरत्' इति सिद्धयति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
कतरत्) कतरे	कतराणि	कतरस्मात्) कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
कतरद्			कतरस्माद्		
कतरत्-द्	कतरे	कतराणि	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	कतरस्मिन्	कतरयोः	कतरेषु
कतरस्मै	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः	हे कतरत्-द् ! हे कतरे ! हे कतराणि !		

एवमेव कतमत्-इतरत्-अन्यत्-अन्यतरच्छब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यात्राजग्रहणम् 'न लुमतेत्यस्या' नित्यत्वज्ञापकम् । तेन

१—नपुंसकं लिङ्गं में डतर-आदि पाँचों से परे सु और अम् के स्थान में अदङ् आदेश
होता है । २—डित् (डकार इत्यंज्ञक) प्रत्यय पर में रहे तो भसंज्ञक 'टि' का लोप होता
है । कतरत्-दो में से कौन । कतमत्—तीन या बहुतों में से कौन । इतरत्—दूसरा । अन्यत्—
अन्य । अन्यतरत्—दो में से एक । अन्यतमम्—इनमें से कोई एक । ३—एकतर शब्द से परे सु
और अम् के स्थान में अम् का निषेध कहना । ४—क्लीब में अजन्त प्रातिपदिक को
हरव होता है । श्रीपम्—धन का रक्षक । ५—नपुंसक अङ्ग से पर में जो सु और अम्
उनका लोप होता है । वारि-जल (पीना) । ६—अजादि विभक्ति पर में रहे तो नपुंसक

विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । न लुमतेत्यस्याऽनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धि-
निमित्तो गुणः । हे वारे, हे वारि । घेडितीति गुणे प्राप्ते—^१वृद्धचौत्त्वतृज्व-
द्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन । वारिणे । वारिणः । वारिणः । वारिणोः ।
वारिणोः । नुमचिरेति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ।

अस्थिदधिसक्थ्यक्षणामनङ्मुदात्तः ७ । १ । ७५ ॥ ^२एषामनङ् स्यादृ-
दावचि [स चोदात्तः] ।

अल्लोपोऽनः ६ । ४ । १३४ ॥ ^३अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादि-
स्वादिपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोपः स्यात् । दध्ना । दध्ने । दध्नः । दध्नः ।
दध्नोः । दध्नोः । दध्नाम् ।

पक्षे प्रत्ययलक्षणेन सुत्वमादाय 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति गुणे सति 'हे वारे' इति
सिद्धं रूपम्भवति । पक्षे 'हे वारि !' इति ।

वारिणे—वारि-शब्दात्-'डे' विभक्तौ अनुबन्धलोपे 'शेषो ध्यसखि' इति
घिसंज्ञायां 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमे प्राप्ते, 'घेडितीति' इति गुणे च प्राप्ते,
परत्वाद्-घेडितीति गुण एव प्राप्तः, 'वृद्धचौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वप्रतिषेधेन'
इति वार्तिकबलेन पूर्वविप्रतिषेधेन नुमागमे, नकारस्य णत्वे च 'वारिणे' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
वारि	वारिणी	वारीणि	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
वारि	वारिणी	वारीणि	वारिणः	वारिणोः	वारिणाम्
वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः	हे वारे !, हे वारि ! हे वारिणी हे वारीणि !		

दध्ना—दधिशब्दात्-टा विभक्तौ-अनुबन्धलोपे, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्षणामनङ्मुदात्तः'
इति-अनङ्, अनुबन्धलोपे, 'दधन् आ' इति स्थिते, 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे
'दध्ना' इति सिद्धयति ।

इगन्त अङ्ग से नुम् का आगम होता है ।

१—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण इन सबों की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध (के नियम) से
अर्थात् इनको बाधकर नुम् ही होता है । २—टा आदि अच् (टा आदि अच् इसलिय हैं कि
टकारादि की चुटू आदि से इत्संज्ञा हो जाती है, अच् अवशिष्ट रह जाता है, यह नियम
सर्वत्र है) पर में रहे तो अस्थि, दधि आदि शब्दों के अन्तावयव को अनङ् आदेश होता है
और वह उदात्तसंज्ञक होता है । ३—अङ्ग का अवयव सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि और
स्वादिपरक जो 'अन्' उसके अकार का लोप होता है ।

विभाषा डिश्योः ६।४।१३६ ॥ ^१अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-
यजादिस्वादिपरो योज् तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् डिश्योः परयोः ।
दध्नि, दधनि । शेषं वारिवत् । एवमस्थिसवधप्रक्षि । सुधि । सुधिनी ।
सुधीनि । हे सुधे, हे सुधि !

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७।१।७४ ॥ ^२प्रवृत्ति-
निमित्तक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा स्याद्वादावचि । सुधिया,
सुधिनेत्यादि । मधु । मधुनी । मधूनि । हे मधो, हे मधु । सुलु । सुलुनी ।

दध्नि, दधनि — दधि शब्दात्- डो, अनुबन्धलोपे, 'अस्थिदधि-०' इत्यादिना
अनडि, अनुबन्धलोपे, 'विभाषा डिश्या' रित्यकारलोपे दध्नि, लोपामावे 'दधनि'
इति रूपद्वयं सिद्धयति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
दधि	दधिनी	दधीनि	दध्नः	दध्नोः	दध्न्याम्
दधि	दधिनी	दधीनि	दध्नि	दध्नोः	दधिषु
दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः	दधनि		
दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः	हे दधि !	} हे दधिनी ! हे दधीनि !	
दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः	हे दधे !		

एवमेव—अस्थि, सक्थि, अक्षि—आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहु०
सुधि	सुधिनी	सुधीनि	सुधियः	} सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
			सुधिनः		
सुधि	सुधिनी	सुधीनि	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
			सुधिनः	सुधिनोः	सुधीनाम्
सुधिया	} सुधिभ्याम्	सुधिभिः	सुधियि	सुधियोः	सुधिषु
सुधिना			सुधिति	सुधिनोः	
सुधिये					
सुधिने	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः	हे सुधि !	} हे सुधिनी ! हे सुधीनि !	
			हे सुधे !		

१—डि या शी पर में रहे तो अङ्ग का अवयव यजादि, स्वादि-परक जो 'अन्' उसके
अकार का विकल्प से लोप होता है । अस्थि—हड्डी । सक्थि—जङ्घा । अक्षि—आंख । सुधि-
वर्द्धिमान कल । २—प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) एक हो तो भाषितपुंस्क (पंलिङ्ग में

सुलूनि । सुल्वा, मुलुनेत्यादि । धातृ । धातृणी । धातृणि । हे धातृ
हे धातृ । धात्रा, धातृणा । धातृणाम् । एवं ज्ञात्रादयः ।

एच इग्नस्वदेशे १।१।४८ ॥ १आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु ए
इगेव स्थातु । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्युनि । प्रद्युनेत्यादि । प्ररि । प्ररिणी
प्ररीणि । प्ररिणा । एकदेशविकृतमनन्यवत् । प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् । मुनु
मुनुनी । मुनूनि । मुनुनेत्यादि ।

* इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् *

—0—

अथ हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम् ।

हो ढः ८।२।३१ ॥ ३हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । लिट्, लिङ्
लिहौ । लिहः । लिहा । लिङ्भ्याम् । लिट्स्मु, लिट्स्मु ।

धातृशब्दस्य टा-डसि-डस्-ओस-डि विभक्तिषु सम्बोधने च विशेषो यथा-
धातृणा-धात्रा । धात्रे-धातृणे । धातुः-धातृणः । धात्रोः-धातृणोः । धातरि-
धातृणि । हे धातः, हे धातृ ! इति ।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

—0—

लिट्-लिङ्-‘लिह्’ आस्वादाने क्विपि, हल्ङ्यादिलोपे, पदान्तत्वाङ्ङत्वे, ‘धातृ
साने’ इति चत्वंविकल्पः । सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यत्वात्प्रथमं हल्ङ्यादिलोपः ।

लिट्स्मु-लिह्-शब्दात् सुपि, अनुबन्धलोपे, ‘हो ढः’ इति हस्य ढत्वे, ढकारस्य
जश्त्वेन डकारे, ‘डःसि धुट्’ इति धुडागमेऽनुबन्धलोपे, ‘खरि च’ इति चत्वेण धस्य
तकारे, पुनः ‘खरि च’ इत्यनेन डस्य टकारे सिद्धं रूपं लिट्स्मु’ इति । ‘धुडभा
लिट्स्मु’ इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
लिट्-लिङ्	लिहौ	लिहः	लिहा	लिङ्भ्याम्	लिङ्भि
लिहम्	लिहौ	लिहः	लिहे	लिङ्भ्याम्	लिङ्भ्य

कहे गये) इगन्त (इक् हो अन्त में जिसके ऐसे) नपुंसक शब्दस्वरूप को पुंवद्भाव (पुंसि
के समान रूप तथा कार्य) होता है । सुलु-अच्छा काटनेवाला, नाऊ वा खेतीहर । धातृ
धारण या पालन पोषण करनेवाला । ज्ञातृ-ज्ञानी कुल । १-आदिश्यमान ह्रस्वों के मध्य
एच् के स्थान में ह्रस्व इक् ही होता है । प्ररि-धनी कुल । मुनु-सुन्दर नौकायुक्त कुल ।

२-शल्परक एवं पदान्त ‘इकार’ के स्थान में ‘ढकार’ होता है । लिट्-चाटनेवाला

दादेर्धातोर्घः ८ । २ । ३२ ॥ 'उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्जलि पदान्ते च ।

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्थवोः ८ । २ । ३७ ॥ 'धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात् से ध्वे पदान्ते च । धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । धुग्भ्याम् । धुक्षु ।

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८ । २ । ३३ ॥ एषा हस्य वा घः स्याज्जलि पदान्ते च । ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु, ध्रुट्सु, 'ध्रुट्सु' । एवं-मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादि ।

लिहः	लिङ्भ्याम्	लिङ्भ्यः	लिह	लिहोः	लिट्सु-लिट्सु
लिहः	लिहोः	लिहाम्	हे लिट्-ङ् !	हे लिहौ !	हे लिहः !

धुक्षु-दुह्शब्दात् सुपि, अनुबन्धलोपे, 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे, 'एकाचो-०' इत्यादिना दकारस्य घकारे, 'खरि च' इति चत्वेन घस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षकारे, कषसंयोगेन क्षत्वे जाते सिद्धं रूपम् 'धुक्षु' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
धुक्-धुग्	दुहौ	दुहः	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
दुहम्	दुहौ	दुहः	दुहः	दुहोः	दुहाम्
दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	दुहि	दुहोः	धुक्षु
दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः	हे धुक्, हे धुग् ! हे दुहौ !		हे दुहः !

धुक्षु-इत्यादि । द्रुह्, शब्दात्सुप्नुबन्धलोपे 'वा द्रुह'-० इत्यादिना वैकल्पिकेन हकारस्य घकारे, 'खरि च' इति चत्वेन घस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति घत्वे, 'धुक्षु' इति । घकारामावपक्षे 'होढः' इति हस्य ङत्वे, 'एकाचो-०' इति मष्भावे, 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन ङस्य ङकारे, तस्य चत्वे ध्रुट्सु । ध्रुट्पक्षे 'ध्रुट्सु' इति त्रोरिण रूपाणि भवन्ति ।

एक०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
ध्रुक्-ध्रुग्	दुहौ	द्रुहः	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्	ध्रुग्भिः
ध्रुट् ध्रुड्			ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्याम्	
द्रुहम्	द्रुहौ	द्रुहः	द्रुहे	ध्रुड्भ्याम्	ध्रुड्भ्यः

१-झल् परे या पदान्त में उपदेश अवस्था (प्रथम उच्चारणावस्था) में जो दादि धातु का अवयव हकार उसको घकार होता है । २-सकार या ध्व परे या पदान्त में जो धातु का अवयव एकाच्, झषन्त, तदवयव बश् को भ्भाव होता है । धुक्-दूहनेवाला । ३-झल्

धात्वादेः षः सः ६।१।६४ ॥ धातोरादेः षस्य सः स्यात् ।
स्तुक, स्तुग् । स्तुट्, स्तुड् । एवं-स्तिक्, स्तिग् । स्तिट्, स्तिड् । विश्ववाट्,
विश्ववाड् । विश्ववाहौ । विश्ववाहः । विश्ववाहम् । विश्ववाहौ ।

इयणः सम्प्रसारणम् १।१।४५ ॥ यणः स्थाने प्रयुज्यमानो
इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् ।

वाह ऊठ् ६।४।१३२ ॥ भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात् ।

सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ ॥ सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपे
मेकादेशः स्यात् । एत्येधत्पूठ्स्विति वृद्धिः । विश्वौहः इत्यादि ।

चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८ ॥ अनयोराम् स्यात्सर्वनाम
स्थाने परे ।

द्रुहः	ध्रुग्भ्याम् } ध्रुग्भ्यः }	द्रुहि	द्रुहोः ध्रुक्षु-ध्रुट्सु-ध्रुड्
	ध्रुड्भ्याम् } ध्रुड्भ्यः }	हे ध्रुक् ! हे ध्रुग् !	हे ध्रुहो ! हे ध्रुह
द्रुहः	द्रुहोः	हे ध्रुट् ! हे ध्रुड् !	
	द्रुहाम्		

एवमेव णुह् णिह्-शब्दावपि ज्ञेयो ।

विश्वौहः—विश्ववाह्-शब्दाच्छसि, 'वाह ऊठ्' इत्यनेन-ऊठि, सम्प्रसारण
'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे, 'एत्येधत्पूठ्मु' इति वृद्धौ, सस्य रत्वे विसर्गो
नत्सिद्धिः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहो	विश्ववाहः	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
विश्ववाहम्	विश्ववाहो	विश्वौहः	विश्वौहि	विश्वौहोः	(विश्ववाट् विश्ववाट्)
विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः	विश्वौहि	विश्वौहोः	(विश्ववाट् विश्ववाट्)
विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः	हे विश्ववाट् !		
विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः	हे विश्ववाट् !	हे विश्ववाहो हे विश्व	

पर में हो या पदान्त में जो द्रुह्, मुह्, णुह् या णिह् सम्बन्धी हकार उसको षकार वि
से होता है । ध्रुक् वर करनेवाला । मुक्-भोहनेवाला ।

१—धातु के आदि के षकार का सकार होता है । स्तिक्-प्यार करनेवाला । विश्व
संसारका भार ढोनेवाला । २—यण् के स्थान में प्रयुज्यमान (किया गया) 'इक्' सम्प्र
संज्ञक होता है । ३—भसंज्ञक वाह् शब्दावयव वकार को ऊठ् सम्प्रसारण होता है ।
सम्प्रसारण से अच् पर में हो तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । ४—
नामस्थान पर में रहे तो चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् होता है (मित् होने से
अच् से पर में होता है) ।

सावनडुहः ७ । १ । ८२ ॥ 'अस्य नुम् स्यात् सौ परे । अनड्वान् ।
अम् सम्बुद्धौ ७ । १ । ९९ ॥ 'चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ । हे अन-
ड्वन् । हे अनड्वाहौ । हे अनड्वाहः । अनडुहः । अनडुहा ।

वसुलंसुध्वंस्वनडुहां दः ८ । २ । ७२ ॥ 'सान्तवस्वन्तस्य स्रसादेश्च दः
स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्तेति
किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् ।

सहेः साडः सः ८ । ३ । ५६ ॥ 'साड् रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः
स्यात् । तुराषाट्, तुराषाड् । तुरामाहौ । तुरामाहः । तुराषाड्भ्यामित्यादि ।
दिव औत् ७ । १ । ८४ ॥ 'दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ परे ।
सुद्यौः । सुदिवौ ।

अनड्वान्-अनडुह् शब्दात् सौ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति-आमि, 'सावनडुहः'
इति नुमि, अनुबन्धलोपे, 'अनडुह् आन् मु' इति स्थिते विभक्तेरुकारस्य लोपे, हल्-
ङ्यादिना सस्य लोपे, 'संयोगशास्त्रस्य दृष्ट्या 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति शास्त्रबलेन संयो-
गान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपामावे 'इको यणचि' इति यणा वकारे कृते तत्सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः	हे अनड्वन् ! हे अनड्वाहौ ! हे अनड्वाहः !		
एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
सुदिवम्	सुदिवौ	सुदिवः	सुदिवः	सुदिवोः	सुदिवाम्
सुदिवि	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	सुदिवि	सुदिवोः	सुद्युषु
सुदिवे	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः	हे सुद्यौः !	हे सुदिवौ ! हे सुदिवः !	

१-'सु' विभक्ति पर में रहे तो अनडुह् शब्द को नुम् का आगम होता है । अनड्वान्-
वेल । २-सम्बुद्धि पर में रहे तो चतुर् और अनडुह् शब्द को 'अन्' का आगम होता है ।
३-पदान्त में वर्तमान जो सान्त (सकारान्त) वसु-प्रत्ययान्त तथा वंस्वादियों को दकार होता
है । विद्वान्-पण्डित । स्रस्तम्-गिरा पड़ा । ध्वस्तम्-नष्टभष्ट । ४-साड् रूप सह के सकार
के स्थान में मूर्धन्य षकार होता है । तुराषाड् इन्द्र । ५-सु परे रहते दिव् शब्द को औकार
अन्तादेश होता है (अर्थात् वकार के स्थान में औकार होता है) । सुद्यौः-स्वच्छ आकाश ।

दिव उत् ६।१।१३१ ॥ ^१दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते ।
मुद्गुभ्यामित्यादि । चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः । चतुर्भ्यः ।

षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५ ॥ ^२षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्याऽऽमो नुङ्ग-
गमः स्यात् ।

रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१ ॥ [^३रेफकाराभ्यां परस्य
नस्य णः स्यादेकपदे] ।

अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६ ॥ ^४अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां
परस्य यरो द्वे वा स्तः । चतुर्णाम् । चतुर्णाम् ।

रोः सुप् ८।३।१६ ॥ ^५सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्त-
रेफस्य । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते ।

शरोऽचि ८।४।४९ ॥ ^६अचि परे शरो न द्वे स्तः । चतुर्षु ।

मो नो धातोः ८।२।६४ ॥ ^७धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते । प्रशान्

किमः कः ७।२।१०३ ॥ ^८किमः कः स्याद्विभक्तौ । कः । कौ

चतुर्णाम्—चतुर्शब्दात् आमि, 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुङ्गागमे अनुबन्धलो-
'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति नस्य णत्वे, 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णकार-
द्वित्वपक्षे चतुर्णाम्, द्वित्वाभावे तु 'चतुर्णाम्' इति रूपद्वयं भवति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
कः	कौ	के	कस्मात्-द्	काभ्याम्	केभ्यः
कम्	कौ	कान्	कस्य	कयोः	केषाम्
केन	काभ्याम्	कैः	कस्मिन्	कयोः	केषु
कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः			

त्यदादीनां सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः (पूर्वमेवोक्तः) ।

१—पदान्त में स्थित दिव् शब्द के वकार के स्थान में उकार अन्तादेश होता है।
२—षट् संज्ञक शब्दों से और चतुर् शब्द से परे आम् को नुङ् का आगम होता है।
३—समानपद (एक पद) में स्थित रेफ और षकार से परे जो नकार उसको णकार होता है।
४—अच् से पर में स्थित रेफ या हकार से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है।
५—सप्तमी का बहुवचन सुप् पर में रहे तो रु के ही रेफ का विसर्ग होता है, अन्य रेफ नहीं।
६—'अच्' पर में रहे तो 'शर्' को द्वित्व नहीं होता।
७—पदान्त में स्थित सम्बन्धी मकार को नकार होता है। प्रशान्-शान्त।
८—विभक्ति पर में रहे तो 'कि' स्थान में 'क' आदेश हाता है। कः-कौन।

के । [कम् । कौ । कान्] इत्यादि । शेषं सर्ववत् ।

इदमो मः ७ । २ । १०८ ॥ ^१इदमो दस्य मः स्यात् सौ परे ।
त्यदाद्यत्वापवादः ।

इदोऽय् पुंसि ७ । २ । १११ ॥ ^२इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि ।
[मोर्लोपः] । अयम् । त्यदाद्यत्वे ।

अतो गुणे ६ । १ । ९७ ॥ ^३अपदान्तादतो गुणे परतः पररूपमेका-
देशः स्यात् ।

दश्च ७ । २ । १०९ ॥ ^४इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे ।
त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

अनाप्यकः ७ । २ । ११२ ॥ ^५अककारस्येदम इदोऽय् स्यादापि
विभक्तौ । आविति प्रत्याहारः । अनेन ।

हलि लोपः ७ । २ । ११३ ॥ ^६अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि
हलादौ । ^७नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

आद्यन्तवदेकस्मिन् १ । २ । २१ ॥ ^८एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादा-
विवाज्जन्त इव स्यात् । सुपि चेति दीर्घः । आभ्याम् ।

अनेन—इदं शब्दात्—‘टा’ विभक्तौ ‘त्यदादीनामः’ इत्यत्वे, पररूपे, ‘अना-
प्यकः’ इति इदभागस्यानादेशे, ‘अतो गुणे’ इति पररूपे, ‘टाङ्सिडसामिनात्स्याः’
इति टा—इत्यस्येनादेशे गुणे कृते ‘अनेन’ इति सिद्धं भवति ।

नानर्थके—अनर्थकेऽलोऽन्त्यसूत्रं न प्रवर्तते, अभ्यासविकारे तु—अनर्थके प्रवर्तते ।
यथा ‘विभक्ति’—इति ।

आभ्याम्—इदं शब्दाद् भ्यामि, त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते, ‘हलि लोपः’

१—‘सु’ विभक्ति पर में रहे तो इदम् के दकार को मकार होता है (त्यदादीनामः का
बाधक सूत्र है) । २—‘सु’ विभक्ति पर में हो तो ‘इदम्’ शब्दावयव इद् को ‘अय्’ आदेश
होता है । अयम्—यह । ३—पदान्तभिन्न अकार से गुण पर में रहे तो पूर्व-पर के स्थान में
पररूप एकादेश होता है । ४—विभक्ति पर में रहे तो इदम् के दकार को मकार होता है ।
इमौ—ये दोनों । इमे—ये सब । ५—आप् (अर्थात् तृतीया के टा से सुप् तक की कोई विभक्ति)
पर में रहे तो ककार-रहित इदम् शब्द के ‘इद्’ के स्थान में अन् आदेश होता है । ६—
हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति पर में रहे तो ककार-रहित ‘इदम्’ शब्द के इद् का
लोप होता है । ७—अभ्यास के विकार (रूपान्तरोत्पत्ति) को छोड़कर अनर्थके में
अलोऽन्त्यस्य सूत्रादिष्ट विधि नहीं होती है । ८—एक (असहाय) के विषय में किया जाने
वाला कार्य आदि की तरह और अन्त की तरह होता है ।

नेदमदसोरकोः ७ । १ । ११ ॥ १अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐम् न
स्यात् । एभिः । अस्मै । [आभ्याम्] । एभ्यः । अस्मात् । [अभ्याम् ।
एभ्यः] । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । अनयोः । एषु ।

द्वितीयाटोस्त्वेनः २ । ४ । ३४ ॥ २द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेत
दोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातु
पुनरुपादानमन्वादेशः । यथा अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति
अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन
एनयोः । एनयोः । राजा ।

न डिसम्बुद्धयोः ८ । २ । ८ ॥ ३नस्य लोपो न स्यान्डौ सम्बुद्धौ च
हे राजन् । ४ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानो
राजानः । राज्ञः ।

इतीदृशस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति बलेनान्त्यस्यैव स्यादित्याशङ्क्य
नानर्थके लोन्त्यविधिरिति नियमेनालोन्त्यस्याप्राप्तौ—इदृशस्य लोपे, प्रवृत्ति
कारस्य 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति सहकारेण सुपि चेति दीर्घे सिद्धम् आभ्यामिति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
अयम्	इमौ	इमे	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
इमम्	इमौ	इमान्	अस्माद्		अनयोः
अनेन	आभ्याम्	एभिः	अस्य	अनयोः	एषु
अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः	अस्मिन्	अनयोः	एषु

अन्वादेशे—अमौट्छस्ता—ओस् विभक्तिषु भिन्नान्यपि रूपाणि—
एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः, एनयोः ।

१—ककार-रहित इदम् और अदस् शब्द से पर में जो भिस् उसको ऐस् आदेश
होता । २—द्वितीया विभक्ति या टा या ओस् पर में रहे तो इदम् और एतद् शब्द
स्थान में एन अःदेश होता है अन्वादेश में । ३—अनु-पश्चाद् आदेशः—अन्वादेशः । कि
कार्य के करने में किसी को प्रवृत्त करा दिया जाय (और वह उसमें लग गया हो)
उसी को अन्य कार्य के लिए आज्ञा देने का नाम अन्वादेश है । जैसे—इसने व्याकरण
लिया इसको छन्दःशास्त्र पढ़ाओ । ४—ङि या सम्बुद्धि पर में रहे तो नकार का लोप
होता है । ५—जिस ङि विभक्ति से पर में कोई पद (उत्तरपद) हो, ऐसी ङि विभक्ति
में रहे तो नकारलोपके निषेध का प्रतिषेध कहना चाहिये । अर्थात् 'न डिसम्बुद्धयोः' नि
नहीं होता किन्तु लोप ही हो जाता है । ब्रह्मनिष्ठः—ब्रह्म-ईश्वर में प्रेम करनेवाला ।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२ ॥ ^१सुप्स्वित्त्वात् स्व-
विधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र—राजाश्च
इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वञ्च न । राजभ्याम् । राजभिः ।
राजभ्यः । राज्ञि, राजनि । राजसु । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ।

न संयोगाद्दमन्तात् ६।४।१३७ ॥ ^२वकारमकारान्तसंयोगात्परस्या-
ऽनोऽकारस्य लोपो न स्यात् । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः ।
ब्रह्मणा ।

इहन्पूषाऽर्यमणां शौ ६।४।१२ ॥ ^३एषां शावेवोपधाया दीर्घो
नाऽन्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते ।

आत्वमेत्वमैस्त्वं च न—राजभ्यामित्यत्रात्वम् । राजभिरित्वत्रैत्वम् । राजभ्यः
इत्यत्रैस्त्वं च नेत्यर्थः ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
राजा	राजानौ	राजानः	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
राजानम्	राजानौ	राज्ञः	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु
राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः	हे राजन् !	हे राजानौ !	हे राजानः !

यज्वनः—यज्वन्—शब्दात् प्रातिपदिकत्वेन शसि अनुबन्धलोपे, 'यच्चि मम्'—
इति मत्वेन 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते, 'न संयोगाद् दमन्तात्' इति
निषेधे, शकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'यज्वनः' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
यज्वानम्	यज्वानौ	यज्वनः	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम्
यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	यज्वनि	यज्वनोः	यज्वसु
यज्वने	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः	हे यज्वन् !	हे यज्वानौ !	हे यज्वानः !

एवमेव ब्रह्मन्—शब्दस्यापि बोध्यानि ।

१—सुप्-विधि, स्वर-विधि, संज्ञा-विधि और कृत्-प्रत्यय सम्बन्धी तुग्-विधि में भी
नकार का लोप असिद्ध होता है किन्तु अन्यत्र नहीं । यज्वा—यज्ञकर्ता । २—वकारान्त,
मकारान्त संयोग से परे जो 'अन्'—सम्बन्धी अकार, उसका लोप नहीं होता है । ३—केवल
'शि' पर में हो ता इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है,
अन्यत्र नहीं ।

सौ च ६।४।१३ ॥ ^१इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ।

एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२ ॥ ^२एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात् वृत्रहणौ ।

हो हन्तेऽङ्गिन्नेषु ७।३।५४ ॥ ^३त्रिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः—इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन् यशस्विन् । अर्यमन् । पूषन् ।

मघवा बहुलम् ६।४।१२८ ॥ ^४मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत् ।

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७० ॥ ^५अधातोःरुगितो वलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ ।

वृत्रघ्नः—वृत्रहन्-शब्दात्-शसि-अनुबन्धलोपे, 'अल्लोपोऽनः' इति हकारो नरवर्त्यकारस्य लापे, 'हा हन्तेऽङ्गिन्नेषु' इति हस्य घकारे, सस्य रुत्वे विसर्गो कृते 'वृत्रघ्नः' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
वृत्रहणम्	वृत्रहणौ	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	वृत्रघ्नि, वृत्रहणि	वृत्रघ्नोः	वृत्रहमु
वृत्रघ्न	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः	हे वृत्रहन् ! हे वृत्रहणौ ! हे वृत्रहणः ।		

एवमेव शार्ङ्गिन्-यशस्विन्-अर्यमन्-पूषन्-शब्दानामपि रूपाणि ज्ञेयानि ।

मघवान्, मघवा—मघवन्-शब्दात् सौ 'मघवा बहुलम्' इति 'तृ' अन्तादेश 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, अनुबन्धलापे, हल्ङ्यादिना सोऽन्ति

१—सम्बुद्धि निमित्तक 'सु' पर में रहे तो इन्, हन् आदि की उपधा को दीर्घ होता है वृत्रहा—इन्द्र । २—एक अच् है उत्तरपद में जिसके, ऐसे समास के पूर्वपद में स्थित निमित्त (रेफ, षकार) उससे परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्थ नकार को णक होता है समानपद (एकपद) में । ३—जित् (वकार इत्संज्ञक) णित् (णकार इत्संज्ञक) प्रत्यय पर में रहे या नकार पर हो तो हन् धातु के हकार को कुत्व होता है । शार्ङ्गिन् धनुर्धारी भगवान् । अर्यमा देवविशेष । पूषा—सूर्य । ४—मघवन् शब्द को विकल्प से अन्तादेश होता है । ५—सर्वनामस्थान-संज्ञक कोई विभक्ति पर में रहे तो धातु से णि

मघवन्तः । हे मघवन् । मघवद्भ्याम् । तृत्वाऽभावे मघवा । सुटि-राजवत् ।

श्वयुवमघोनामतद्धिते ६ । ४ । १३३ ॥ 'अन्नन्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । मघोनः । मघवभ्याम् । एवं श्वन् । युवन् ।

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६ । १ । ३७ ॥ 'सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् । इति यकारस्य नेत्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम् । यूनः । यूना । युवभ्याम् इत्यादि ।

'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारलोपे, तस्य च बहुलग्रहणादसिद्धत्वाभावेन 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे 'मघवान्' इति । तृत्वामावे तु नलोपेन 'मघवा' इति सिद्धयति ।

मघोनः-मघवन्-शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे, 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'आद् गुणः' इति गुणे, तस्य रुत्वे विसर्गे च मघोनः इति ।

मघवन्-शब्दस्य तृत्वे, तृत्वाभावे च सर्वविभक्तिषु रूपाणि भवन्ति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः	मघवा	मघवानौ	मघवानः
मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः	मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
मघवतः	मघवतोः	मघवताम्	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
मघवति	मघवतोः	मघवत्सु	मघोनि	मघोनोः	मघवसु
हे मघवन् ! हे मघवन्तौ ! हे मघवन्तः !			हे मघवन् ! हे मघवानौ ! हे मघवानः !		

एवं श्वन्-युवन् शब्दयोरपि रूपाणि । तथाहि—श्वान्, श्वानौ, श्वानः । श्वानम्, श्वानो, श्वानः । श्वाना, श्वभ्याम् इत्यादि ।

युवा, युवानौ, युवानः । युवानम्, युवानो, यूनः । यूना, युवभ्याम्, युवभिः । यूने इत्यादि बोध्यम् ।

यूनः—युवन् शब्दाच्छसि-अनुबन्धलोपे, 'युवन्-अस्' इति स्थिते, 'श्वयुवम-

उगित् और नलोपी अच् धातु से नुम् का आगम होता है । मघवान्-इन्द्र ।

१--तद्धित से भिन्न प्रत्यय पर में रहे तो अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन्; मघवन् शब्दों (शब्दनिष्ठ वकारों) को सम्प्रसारण होता है । श्वा-कुत्ता । युवा-युवक । २--सम्प्रसारण

अर्वा । हे अर्वन् ।

अर्वणस्त्रसावनञः ६ । ४ । १२७ ॥ 'नत्रा रहितस्याऽर्वन्नित्यस्याऽङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् सौ । अर्वन्ती । अर्वन्तः । अर्वद्भ्यामित्यादि ।

पथिमथ्यभुक्षामात् ७ । १ । ८५ ॥ 'एषामाकारः स्यात् सौ परे ।

इतोऽसर्वनामस्थाने ७ । १ । ८६ ॥ 'पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

थो न्यः ७ । १ । ८७ ॥ 'पथिमथोस्थस्य न्यादेशः स्यात् सर्वनामस्थाने परे । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः ।

भस्य टेलोपः ७ । १ । ८८ ॥ 'भसञ्जकस्य पथ्यादेष्टेलोपः स्यात् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । एवं मथिन् । ऋभुक्षिन् ।

घोनामतद्धिते' इति वकारस्य सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'अकः सवर्णे दीर्घः'-इति दीर्घे, 'यून्-अस्' इत्यवस्थायां पुनः यकारस्य रुत्वे प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्य न 'सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधे, रुत्वे विसर्गे च 'यूनः' इति सिद्धम् ।

पन्थाः—पथिन्-शब्दात्सौ 'पथिमथ्यभुक्षामात्' इति नकारस्यात्वे, 'इतोऽसर्वनामस्थाने' इति यकारोत्तरनिष्ठ-इकारस्य अकारे, 'थो न्यः' इति थस्य न्यादेशे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च पन्थाः इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पन्थानम्	पन्थानौ	पथः	पथः	पथोः	पथाम्
पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	पथि	पथोः	पथिषु
पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः	हे पन्थाः !	हे पन्थानौ !	हे पन्थानः !

एवं मथिन्, ऋभुक्षिन्-आदि शब्दानामपि रूपाणि बोध्यानि ।

पर में हो तो पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता है । अर्वा-घोड़ा ।

१-'सु' विभक्ति को छोड़कर (अन्यत्र) नञ्-रहित 'अर्वन्' शब्द को 'तृ' अन्तादेश होता है । २-'सु' विभक्ति पर में पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों को आकार अन्तादेश होता है । ३—सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति पर में रहे तो पथिन् आदि शब्दों के इकार के अकार अन्तादेश होता है । ४—सर्वनामस्थान विभक्ति पर में रहे तो पथिन् और मथिन् के 'थकार' के स्थान में 'न्य' आदेश होता है । पन्थाः—रास्ता । ५—भसंज्ञा वाले पथिन् आदि शब्दों की 'टि' (अन्त्य अच्) का लोप होता है । मन्थाः—मथनी, 'रही' । ऋभुक्षा-इन्द्र

ष्णान्ता षट् १ । १ । २४ ॥ 'षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्चनशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चभ्यः । नुद् ।

नोपधायाः ६ । ४ । ७ ॥ 'नान्तस्योपधायाः दीर्घः स्यादामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चमु ।

अष्टन आ विभक्तौ ७ । २ । ८४ ॥ 'अष्टन आत्वं वा स्याद्वलादौ विभक्तौ ।

अष्टाभ्य औश् ७ । १ । २१ ॥ 'कृताऽऽकारादष्टनः परयोर्जशसोरौश् स्यात् । 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जशसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । अष्टौ । अष्टौ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टाभ्यः । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाऽभावे अष्ट, अष्ट इत्यादि पञ्चवत् ।

ऋत्विग्दधृक्त्विग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाञ्च ३ । २ । ५९ ॥ 'एभ्यः किन् स्यात्, अञ्चः सुप्युपपदे, युजिक्रुञ्चोः केवल्योः । क्रुञ्चेर्नलोपाऽभावश्च निपात्यते । कनावितौ ।

अष्टौ—अष्टन्-शब्दात्-जसि 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यात्वे, अष्ट + आ + जस् इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'अष्टाभ्य औश्' इति जसः औशि, अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां तत्सिद्धिः ।

अष्टानाम्—अष्टन् शब्दाद् आमि 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञा षट्चतुर्भ्यश्चेति नुडागमे, अनुबन्धलोपे, 'नोपधायाः' इत्युपधादीर्घे, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नकारलोपे 'अष्टानाम्' इति ।

प्र०	द्वि०	तृ०
अष्टौ (अष्ट)	अष्टौ (अष्ट)	अष्टाभिः (अष्टभिः)
च०	ष०	स०
अष्टाभ्यः	अष्टानाम्	अष्टासु
अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः	अष्टसु
		हे अष्टौ !
		हे अष्ट !

१—षान्त (षकारान्त) और नान्त (नकारान्त) जो संख्यावाची शब्द उनकी षट्-संज्ञा होती है । पञ्च—पाँच । २—नाम् पर में रहे तो नान्त पद की उपधा को दीर्घ होता है । ३—हलादि विभक्ति पर में रहे तो विकल्प से अष्टन् शब्द को आत्व होता है । ४—कर दिया गया है आकार जिसको ऐसे अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् के स्थान में औश् आदेश होता है । ५—ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक्, उष्णिक्, अञ्चु, युजि और क्रुञ्च से क्विन् प्रत्यय होता है । सुप् (सुबन्त) उपपद (पद के समीप) रहे तो अञ्चु धातु से, और केवल युज्,

कृदतिङ् ३।१।२३ ॥ ^१अत्र सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात् ।

वेरपृक्तस्य ६।१।६७ ॥ ^२अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात् ।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२ ॥ ^३क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते । अस्याऽसिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वम् । ऋत्विक्, ऋत्विग् । ऋत्विजौ । [ऋत्विजः] । ऋत्विग्भ्याम् ।

युजेरसमासे ७।१।७१ ॥ ^४युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । कुत्वेन नस्य डः । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ । युञ्जौ । युञ्जः । युग्भ्याम् ।

ऋत्विक्—ऋतु-उपपद-यज् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्-' इत्यादिना क्विनि, अनुबन्धलोपे, इकारस्योच्चारणार्थकत्वे, यणः सम्प्रसारणे, यणि वेरपृक्तस्येति वस्य लोपे, 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, उकारलोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् चोः कुरिति कुत्वेन गकारे, 'वाऽवसाने' इति चर्त्वाविकल्पेन 'ऋत्विक्—ऋत्विग्' इति सिद्धयतः ।

ऋत्विक्ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
ऋत्विजम्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्—	इत्यादि ।

युङ्—युज् धातोः ऋत्विग्दधृक् इत्यादिना क्विनि अनुबन्धलोपे, वेरपृक्तस्य इति वकारलोपे-युज् शब्दात् सौ, उकारलोपे, 'युजेरसमासे' इति नुमि-उमावितौ लोपे च, 'हल्ङ्यादिना—सोर्लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति जलोपे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन डकारे 'युङ्' इति सिद्धम् ।

ऋञ्च् से भी क्विन् प्रत्यय होता है और ऋञ्च् धातु में रहनेवाले 'न' के लोप का अभाव भी निपातन से करते हैं ।

१—यहाँ सन्निकटस्थ धात्वधिकार (धातोः सूत्र के अधिकार) में पढ़े गये तिङ्-भिन्न प्रत्ययों को कृत्-संज्ञा होती है । २—अपृक्त संज्ञक वकार का लोप होता है । ३—क्विन् प्रत्यय जिससे किया जाय, उसको कवर्ग अन्तादेश होता है पदान्त में । ४—समास को छोड़कर (अन्यत्र) सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति पर में रहे तो युज् धातु से नुम् होता है । युङ्-योगी ।

चोः कुः ८ । २ । ३० ॥ १चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च ।
सुयुक्, सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् ।

व्रश्चभ्रस्जमृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८ । २ । ३६ ॥ २व्रश्चादीनां
सप्तानां छशाज्जन्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्यात् झलि पदान्ते च । जश्त्व-
चत्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् ।
विश्वसृट् । ३परौ व्रजेः षः पदान्ते । ४परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्यादीर्घश्च ।
पदान्ते षत्वमपि । परिव्राट् । परिव्राजौ ।

विश्वस्य वसुराटोः ६ । ३ । १२८ ॥ ५विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः
स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे । विश्वाराट्, विश्वाराड् । विश्वराजौ । विश्वाराड्-
भ्याम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
युङ्	युञ्जौ	युञ्जः	युजः	युग्भ्याम्	युग्भ्यः
युञ्जम्	युञ्जी	युजः	युजः	युजोः	युजाम्
युजा	युग्भ्याम्	युग्भिः	युजि	युजोः	युक्षु
युजे	युग्भ्याम्	युग्भ्यः	हे युङ् !	हे युञ्जौ !	हे युञ्जः !

एवं सुयुक्-ग्, सुयुजौ, सुयुजः—इत्यादीनामपि रूपाणि ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
राट्-ड्	राजौ	राजः	राजः	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
राजम्	राजौ	राजः	राजः	राजोः	राजाम्
राजा	राड्भ्याम्	राड्भिः	राजि	राजोः	राट्सु-राट्सु
राजे	राड्भ्याम्	राड्भ्यः	हे राट्-ड् !	हे राजौ !	हे राजः !

राड्वि विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्, विश्वाराट्, परिव्राट्-शब्दा ज्ञेयाः ।

१—झल् प्रत्याहार पर में हो या पदान्त में स्थित जो चवर्ग उसको कवर्ग आदेश होता है । सुयुक्-सुयोगी । खन्-लँगड़ा । २—झल् (प्रत्याहार) पर में हो या पदान्त में वर्तमान, व्रश्च आदि सातों को तथा व्रकारान्तों को एवं शकारान्तों को षकार अन्तादेश होता है । राट्-राजा । विभ्राट्-अत्यन्त शोभायुक्त । देवेट्-देवपूजक । विश्वसृट्-ब्रह्मा, संसार के सृष्टिकर्ता । ३—परि उपपद व्रज धातु से क्विप् प्रत्यय और दीर्घ भी होता है, एवं पदान्त में षत्व भी होता है । परिव्राट्-संन्यासी । ४-वसु या राट् शब्द पर में रहे तो विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है । विश्वाराट्-विश्वप्रकाशक, सूर्य ।

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९ ॥ 'पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात् । भृट् । सस्य इचुत्वेन शः । झलाञ्जश् झशीति शस्य जः । भृज्जौ । भृङ्भ्याम् । त्यदाद्यत्वं च ।

तदोः सः सावनन्त्योः ७।२।१०६ ॥ 'त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते ।

डे प्रथमयोरम् ७।१।२८ ॥ 'युष्मदस्मद्भ्यां परस्य डे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः स्यात् ।

त्वाहौ सौ ७।२।९४ ॥ 'अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे ।

शेषे लोपः ७।२।९० ॥ 'आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । त्वम् । अहम् ।

भृट्-भृङ्—भृज् सु इति दशायां हृङ्यादिना सोर्लोपि 'स्कोः—० इत्यादिना सकारलोपे 'ब्रह्च-०' इत्यादिना षकारे, 'भ्रलां-जशाऽन्ते' इति जश्त्वे 'वाऽवसाने इति चत्वंविकल्पे, भृट्, भृङ् इति रूपद्वयं सिद्धम् ।

भृट्-भृङ्, भृज्जौ, भृज्जः । भृज्जम्, भृज्जौ, भृज्जः । भृजा इत्यादि ।

त्यद्-शब्दस्य—स्यः, त्यौ, त्ये । त्यम्, त्यौ, त्यान्—इत्यादि रामवत् ।

तद्-शब्दस्य—

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
सः	तौ	ते	तस्मात्-द्	ताभ्याम्	तेभ्यः
तम्	तौ	तान्	तस्य	तयोः	तेषाम्
तेन	ताभ्याम्	तैः	तस्मिन्	तयोः	तेषु
तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः	त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति-इति स्मर ।		

यः, यौ, ये । यम्, यौ, यान् । येन, याभ्यां, यैः—इत्यादि तद्वत् ।

१—पदान्त में स्थित या झल् हो पर में जिसके ऐसा जो 'संयोग' उसके आदि के सकार और ककार का लोप होता है । २—'सु' विभक्ति पर में हो तो त्यदादियों के अनन्त्य (अर्थात् अन्त्य में नहीं ऐसे) तकार, एवं दकार को सकार होता है । स्यः, सः—वह । यः—जो । एषः—यह । ३—युष्मद् और अस्मद् शब्द से पर में जो डे और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति उसको अम् आदेश होता है । ४—'सु' विभक्ति पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त (युष्म, अस्म) को (क्रम से) 'त्व' 'अह' आदेश होते हैं । ५—आत्व या यत्व के निमित्त से भिन्न 'विभक्ति' पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द के अन्त भाग का लोप होता है । त्वम्—तू । अहम्—मैं ।

युवावौ द्विवचने ७।२।९२ ॥ ^१द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८ ॥ ^२औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।

यूयवयौ जसि ७।२।९३ ॥ ^३अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि । यूयम् । वयम् ।

त्वमावेकवचने ७।२।९७ ॥ ^४एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

द्वितीयायां च ७।२।८७ ॥ ^५अनयोरात्स्यात् [द्वितीयायाम्] । त्वाम् । माम् । शसो न ७।१।२९ ॥ ^६आभ्यां परस्य शसो नः स्यात् । अमोऽप्रवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ।

योऽचि ७।२।८९ ॥ ^७अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ।

आवाम्—अस्मद्-शब्दात् औ विभक्तौ 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे, 'युवावौ द्विवचने' इति मपर्यन्तस्य 'आव' आदेशे, अतो गुणे, पररूपे, 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इति दस्यात्वे, 'अकः सवर्णे दीर्घ' इति दीर्घे, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'आवाम्' इति । युवादेशे 'युवाम्' इति ।

युष्मान्—युष्मच्छब्दाच्छसि 'द्वितीयायाश्च' इति आत्वे दीर्घे च 'युष्मा अस्' इति स्थिते, 'आदेः परस्ये'ति साहाय्येन 'शसो नः' इति शसोऽकारस्य नकारे, सकारस्य च संयोगान्तलोपे, 'युष्मान्' इति सिद्धम् ।

त्वया—युष्मद् शब्दात् 'टा' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे, 'त्वमावेकवचने' मपर्यन्तस्य त्वादेशे, 'योऽचि' इति यकारादेशे सिद्धम् 'त्वया' इति ।

१—द्वित्व की उक्ति (दो व्यक्तियों की प्रतिपादनेच्छा) में विभक्ति पर रहे तो युष्मद् शब्द को युव और अस्मद् शब्द को आव आदेश होता है । २—प्रथमा का द्विवचन पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है भाषा (लोक) में । ३—जस् (विभक्ति) पर रहे तो युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को (क्रम से) यूय, वय आदेश होते हैं । ४—एकत्व की विवक्षा होने पर विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् को 'त्व' 'म' आदेश होते हैं । ५—द्वितीया विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् को आकार (अन्तादेश) होता है । ६—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे 'शस्' को नकार आदेश होता है । ७—आदेश से रहित अजादि विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् शब्द को यकार आदेश होता है ।

युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६ ॥ ^१अनयोरात्स्यादनादेशे हलादी विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

तुभ्यमह्यौ डयि ७।२।९५ ॥ ^२अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो डयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३० ॥ ^३आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

एकवचनस्य चं ७।१।३२ ॥ ^४आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य डसेरत् स्यात् । त्वत् । मत् ।

पञ्चम्या अत् ७।१।३१ ॥ ^५आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् ।

तवममौ डसि ७।२।९६ ॥ ^६अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो डसि ।

युष्मदस्मदभ्यां डसोऽश् ७।१।२७ ॥ ^७[युष्मदस्मद्भ्यां परस्य डसोऽशादेशः स्यात्] । तव । मम । युवयोः । आवयोः ।

साम आकम् ७।१।३३ ॥ ^८आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

युष्मभ्यम्—युष्मद-शब्दात् भ्यसि दकारलोपे, 'भ्यसोऽभ्यम्' इत्यभ्यमादेशे, 'अतो गुणे' इति पररूपे युष्मभ्यमिति ।

युष्माकम्—युष्मच्छब्दादादिम आमः साम् बुद्ध्या 'साम आकम्' इत्याकमादेशे, 'शेषे लोपः' इति टिलोपे 'युष्माकम्' इति ।

१—आदेश-रहित हलादि विभक्ति पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है । २—'डे' विभक्ति पर में रहे तो युष्मद्, अस्मद् के म-पर्यन्त को (क्रम से) तुभ्यमह्य आदेश होते हैं । ३—युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे 'भ्यस्' को ('भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है । ४—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी के एकवचन 'डसि' को अत् आदेश होता है । ५—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होता है । ६—'डस्' विभक्ति पर रहे तो युष्मद्, अस्मद् के म-पर्यन्त को तव, मम आदेश होते हैं । ७—युष्मद्, अस्मद् शब्द से परे डस्, को 'अश्' आदेश होता है । ८—युष्मद्, अस्मद् से परे 'साम्' को आकम् आदेश होता है ।

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वाभावौ ८।१।२० ॥ ^१पदा-
त्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वाम् नौ इत्यादेशौ स्तः ।

बहुवचनस्य वस्नसो ८।१।२१ ॥ ^२उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादि-
बहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२ ॥ ^३उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येक-
वचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।

त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३ ॥ ^४द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा
इत्यादेशौ स्तः ।

^५श्रीशस्त्वाऽवतु मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः ।

स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥ १ ॥

युष्मच्छब्दः—			अस्मच्छब्दः—		
एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
त्वम्	युवाम्	यूयम्	अहम्	आवाम्	वयम्
त्वाम्	युवाम्	युष्माम्	माम्	आवाम्	अस्मान्
त्वया	युवाभ्याम्	युष्मामिः	मया	आवाभ्याम्	अस्मामिः
तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्यभ्यम्	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
तव	युवयोः	युष्माकम्	मम	आवयोः	अस्माकम्
त्वयि	युवयोः	युष्मासु	मयि	आवयोः	अस्मासु

१—पद से पर में हो और किसी पाद के आदि में स्थित न हो ऐसे षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया विशिष्ट युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) वाम्, नौ आदेश होते हैं । २—उक्त विधि से परे अपादादिमें (पाद के आदि में नहीं) स्थित षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया के बहुवचनान्त से विशिष्ट युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) वस्, नस् आदेश होते हैं । ३—पद से परे एद् अपादादि में स्थित (अर्थात् पाद के आदि में नहीं रहनेवाले) षष्ठी, चतुर्थी के एकवचनान्त युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) ते, मे आदेश होते हैं । ४—पद से परे अपादादि में स्थित (अर्थात् पाद के आदि में नहीं रहनेवाले) द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद्, अस्मद् शब्द को (क्रम से) त्वा, मा आदेश होते हैं । ५—श्रीशः—लक्ष्मीपति

‘सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः ।

सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात्सेव्योऽत्र वः स नः ॥ २ ॥

ॐ समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः । ॐ एकतिङ् वाक्यम् ॥
तेनेह न । ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव । शालीनां ते ओदनं
दास्यामि ।

ॐ एते वान्नावादेय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः । अनन्वादेशे तु
नित्यं स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा । तस्मै ते
नम इत्येव । सुपात्, सुपाद् । सुपादौ ।

भगवान् । इह-इस जगत् में । त्वा-तुमको (तेरी) । मा-मुझको (मेरी) । अपि-भी ।
अवतु-रक्षा करें । सः-वह, भगवान् । ते-तुम्हारे लिए । मे-मेरे लिए । अपि-भी । शर्म-सुख
को । दत्तात्-देवें । स हरिः-वह विष्णु । ते-तुम्हारा । मे-मेरा । अपि-भी । स्वामी-प्रभु है ।
विभुः-वे व्यापक प्रभु । वाम्-तुम दोनों को । नौ-हम दोनों को (की) । पातु-रक्षा करें ॥१॥

१-ईशः-वह ईश्वर । वाम्-तुम दोनों के लिए । नौ-हम दोनों के लिए । सुखं-सुख को
ददातु-देवें । हरिः-वे विष्णु । वाम्-तुम दोनों के । नौ-हम दोनों के भी । पतिः-रक्षक है ।
सः-वह प्रभु । वः-तुम सबों को । नः-हम सबों का (की) । अव्यात्-रक्षा करें । सः-वह
प्रभु । वः-तुम सबों के लिए । नः-हम सबों के लिए । शिवं-कल्याण को । दद्यात्-दे । अन-
यहाँ इस संसार में । सः-वह प्रभु । वः-तुम्हारे । नः-हमारे । सेव्यः-सेवा (उपासना) करते
योग्य हैं ॥ २ ॥ २-युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान में कहे गये आदेश एकवाक्य में
होते हैं ऐसा कहना चाहिए । ‘एक तिङ्’ को वाक्य कहते हैं । जैसे-रामः गच्छति, राम जाता
है । यह वाक्य है । भात बनाओ, तुम्हारा होगा । यहाँ एक वाक्य नहीं है, ‘ते’ नहीं होगा ।
शाली (अगहनी जड़हन) का भात तुम्हें दुंगा । यह एक वाक्य है, अतः ‘ते’ आदेश
जाता है इति निष्कर्षः । ३-पूर्वोक्त ‘वाम्’ ‘नौ’ आदि आदेश अनन्वादेश में विकल्प से होते
हैं और अनन्वादेश में नित्य ही होते हैं । जैसे-ब्रह्मा तुम्हारे भक्त है, यहाँ ‘ते’ तव दोनों को
है । तस्मै ते नमः में नित्य ही ‘ते’ आदेश हो गया । सुपात्, सुपाद्-सुन्दर पैर वाला ।

ॐ द्वारों को यह ध्यान रखना चाहिए कि इन दोनों पदों में ‘युष्मदस्मदोः’ सूत्र से लेकर
‘त्वांमौ द्वितीयायाः’ तक के आदेश वर्णित हैं । उन्हें एकवचन, द्विवचन, बहुवचन-क्रम
नीचे दिया जाता है, समझें—द्वितीया के एकवचन में त्वा=त्वाम् । मा=माम् । चतुर्थी
ते=तुभ्यम् । मे=मह्यम् । षष्ठी में ते=तव । मे=मम । द्वितीया के द्विवचन में वां=युवाम् ।
नौ=आवाम् । चतुर्थी में वाम्=युवाभ्याम् । नौ=आवाभ्याम् । षष्ठी में वाम्=युवयोः । नौ
आवयोः । द्वितीया के बहुवचन में वः=युष्मान् । नः=अस्मान् । चतुर्थी में वः=युष्मभ्यम् ।
नः=अस्मभ्यम् । षष्ठी में वः=युष्माकम् । नः=अस्माकम् ।

पादः पत् ६।४।१३० ॥ ^१पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात् । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् । अग्निमत्, अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमथः ।

अनिदितां हल उपधायाः किङ्ति ६।४।२४ ॥ ^२हलन्तानाम-निदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः स्यात् किति डिति च । नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन डः । प्राड् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ।

अचः ६।४।१३८ ॥ ^३लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः स्यात् ।

चौ ६।३।१३८ ॥ ^४लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ।

प्राड्--प्रकर्षेण अञ्चतीति विग्रहे 'प्र अञ्च' इत्यस्माद् 'ऋत्विगित्यादिना क्विन्ति, तस्य सर्वापहारिलोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'अनिदितां हल उपाधायाः--०' इति नलोपे, दीर्घे, 'उगिदचाम्'--इति नुमि, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, चकारस्य च संयोगान्तलोपे, नकारस्य कुत्वेन डकारे 'प्राड्' इति सिद्धम् । (अयं प्रकारः पूजार्थके न, तत्र तु नाञ्चेः पूजायामिति नलोपनिषेध इति ज्ञेयम्) ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्राड्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राचः	प्राचः	प्राचोः	प्राचाम्
प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः	प्राचि	प्राचोः	प्राक्षु
प्राचे	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः	हे प्राड् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

एवं प्रत्यङ्, सध्रचङ्, उदङ्, सम्यङ्, तिर्यङ्, न्यङ्, अर्वाङ्--इत्यादीनां शब्दानां साधुत्वं तथा रूपाणि च बोध्यानि ।

१—पाद् शब्द है अन्त में जिसके ऐसा जो भसंज्ञक अङ्ग तदवयव पाद् शब्द को पद आदेश होता है । अग्निमत्-यज्ञ में अग्नि आदि द्वारा अग्नि को पैदा करनेवाला । २—कि १ (ककार इत्संज्ञक) डित् (डकार-इत्संज्ञक) पर में रहे तो हलन्त अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है । प्राड्-प्राचीन वा सुपुज्य । ३—जिसके नकारका लोप हो गया हो ऐसे अञ्च धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है । ४-नकार और अकार का लोप हो गया हो ऐसा अञ्च धातु पर में रहे तो पूर्व अण् को दीर्घ होता है । प्रत्यङ्-पच्छिम दिशा । उदङ्-उत्तर दिया ।

उद ईत् ६।४।१३१ ॥ ^१उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्या-
ञ्कारस्य ईत् स्यात् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ।

समः समि ६।३।९३ ॥ ^२वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [समः सम्यादेशः] ।
सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् ।

सहस्य सध्रिः ६।३।९५ ॥ ^३तथा [वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे सहस्य
सध्रयादेशः स्यात्] । सध्रयङ् ।

तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४ ॥ ^४अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे
तिरसस्तिर्यदेशः स्यात् । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्भ्याम् ।

नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३० ॥ ^५पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो
न स्यात् । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाऽभावादल्लोपो न । प्राञ्चः । प्राङ्भ्याम् ।

उदीचः—उत्पूर्वकादञ्चतेः 'ऋत्विग्—' इत्यादिना क्विनि सर्वापहारिलोपे,
'अनिदिताम्-०' इति नलोपे, 'कृत्तद्धित—०' इति प्रातिपदिकत्वे—शसि अनुबन्ध-
लोपे, 'उद् ईत्' इति ईत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे, सकारस्य रूत्वे
विसर्गं च तत्सिद्धिः ।

प्राङ्ङु—इत्यादि । प्रपूर्वक-पूजार्थक-अञ्चतेः—ऋत्विगित्यादिना क्विनि, तस्य
सर्वापहारिलोपे नलोपस्य 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषेधे प्राञ्च् इत्यस्मात् सुपि,
अनुबन्धलोपे, पदत्वेन चकारस्य संयोगान्तलोपे, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-
पायः' इति न्यायेनानुस्वारपरसवर्णयोरप्यभावे (अकारणे) नकारस्थितौ प्राञ् सु इति
दशयां नकारस्य कुत्वेन डकारे 'ङ्णोः कुक्कुक् शरि' कुगागमे, सकारस्य षत्वे,
'चयो द्वितीयाः०' इत्यादिना ककारस्य खकारे 'प्राङ्ख्षु' इति । द्वितीयाभावे
कषसंयोगिक्षत्वे 'प्राङ्क्षु' इति । कुगागमामावे 'प्राङ्षु' इति रूपत्रयं सम्पद्यते ।
पूजार्थक-प्रत्यञ्चादिशब्दानामप्येष एव क्रमः । अत्र रूपाणि—

१—जो अञ्च् धातु उद् से पर में हो और उसके नकार का लोप हो गया हो ऐसे
(अञ्च्) धातु के भ-संज्ञक अकार को ईकार होता है । २—व-प्रत्यययान्त अञ्च् धातु पर
में रहे तो, 'सम्' को/ समि आदेश होता है । ३—व-प्रत्ययान्त अञ्च् धातु पर में रहे तो
'सह' को 'सध्रि' आदेश होता है । सध्रयङ्—साथ रहने चलने वाला (मित्र) । ४—जिस
अञ्च् धातु के अकार का लोप नहीं हुआ हो ऐसा 'व-प्रत्ययान्त अञ्च् धातु' पर में रहे तो
'तिरस्' शब्द को 'तिरि' आदेश होता है । तिर्यङ्—टेढ़ा-मेढ़ा चलनेवाला, पक्षी, पशु ।
५—पूजा अर्थवाले अञ्च् धातु के उपधा के भकार का लोप नहीं होता है । कुङ्—कौश
नामक चिड़िया । पयोमुक्—बादल ।

प्राङ्क्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुङ्भ्याम् । पयोमुक्, पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुग्भ्याम् । उगित्वान्नुम् ।

सान्तमहतः संयोगस्य ६ । ४ । १० ॥ ^१सान्तसंयोगस्य महत्श्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महद्भ्याम् ।

अत्वसन्तस्य चाऽधातोः ६ । ४ । १४ ॥ ^२अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नाऽसन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सी परे । उगित्वान्नुम् । धीमान् । धीमन्तौ ।

एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	प्राञ्चः	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः			
प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः	प्राञ्चि	प्राञ्चोः	{ प्राङ्ख्षु प्राङ्क्षु प्राङ्ख्षु
प्राञ्चे	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः			
प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	

एवमेव पूजार्थक-प्रत्यञ्चादीनामपि रूपाणि ।

क्रुङ्—क्रुञ्च् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्-०' इत्यादिना क्विनि, तद्विधानसामर्थ्यादस्य अकारोपधत्वेन नलोपो न, कृदन्तत्वेन प्रातिपादिकस्वात्सौ हलङ्यादिना सोर्लोपः, षस्य च संयोगान्तलोपे, अस्य कुत्वेन डकारे 'क्रुङ्' इति । पूजार्थक-प्राञ्च्-शब्द-बद् रूपाणि । अस्यापि सुपि त्रीणि रूपाणि बोध्यानि ।

महान्—महच्छब्दात्सौ अनुबन्धलोपे, 'उगिदचाम्-०' नुमागमे, अनुबन्धलोपे, हलङ्यादिना सोर्लोपे, तकारस्य च संयोगान्तलोपे, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति उपधादीर्घे 'महान्' इति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
महान्	महान्तौ	महान्तः	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
महान्तम्	महान्तौ	महतः	महतः	महतोः	महताम्
महता	महद्भ्याम्	महद्भिः	महति	महतोः	महत्सु
महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः	हे महन् !	हे महान्तौ !	हे महान्तः !

धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्तः । धीमन्तम्, धीमन्तौ, धीमतः । धीमता—आदि महदवत् ।

१-सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान पर में रहे तो सकारान्त संयोग के और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ होता है । महान्-श्रेष्ठ, बड़ा । २-सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' पर में रहे तो

धीमन्तः । हे धीमान् । शसादौ महद्वत् । ^१डित्वसामथ्यादिभस्यापि टेलोपः । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । शत्रन्तस्य भवन् ।

उभे अभ्यस्तम् ६ । १ । ५ ॥ ^३षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः ।

नाभ्यस्ताच्छतुः ७ । १ । ७८ ॥ ^३अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्, ददद् । ददतौ । ददतः ।

जक्षित्यादयः षट् ६ । १ । ६ ॥ ^४षड् धातवोज्ये जक्षितिश्च सप्त एते अभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत्, जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । गुप्, गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३ । २ । ६० ॥ ^५त्यदादिषूपपदेष्वाज्ञानार्थाद् दृशः कञ् स्याच्चात् क्विन् ।

आ सर्वनाम्नः ६ । ३ । ९१ ॥ ^६सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । तादृक्, तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः । जश्त्वचत्वे । विट्, विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ।

भवान्, भवन्तौ, भवन्तः । भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः । भवता—इत्यादि महच्छब्दवत् । शत्रन्तस्य त्वन्तत्वाभावात् दीर्घः । तेन शत्रन्ते भवन्, भवन्तौ, भवन्तः । भवन्तम्, भवन्तौ—इत्यादि ।

तादृक्—‘तद्-दृश्’ इत्यस्मात् ‘त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च’ इति क्विन्, तस्य सर्वापहारिलोपे, ‘आ सर्वनाम्नः’ इति तदो दकारस्याकारे दीर्घे च, प्रातिपदिकत्वात्सौ सोलोपि, शकारस्य व्रश्चेत्यादिना षत्वे, तस्य जश्त्वेन डकारे, ‘क्विन्प्रत्ययस्य कुः’ इति कुत्वेन गकारे, ‘वाऽवसाने’ इति चत्वे-विकल्पे ‘तादृक्, तादृग्’ इति

अत्वन्त की उपधा को और धातु-भिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है । धीमान्-बुद्धिमान् ।

१—भ-संज्ञा नहीं होने पर भी डकार-इत्संज्ञक होने के कारण टि का लोप होता है । भवान्-आप । भवन्-होता हुआ । २—छठवें अध्याय के द्वित्व विधान प्रकरण में जो दोनो विहित हैं, वे दोनों समुदाय अभ्यस्त—संज्ञक होते हैं । ३—अभ्यस्त—संज्ञक शब्द से परे जो ‘शत्’ उसको नुम् नहीं होता है । ददत्-देता हुआ । ४—छह अन्य धातु और सातवाँ जश् धातु ये अभ्यस्त—संज्ञक होते हैं । जक्षत्-खाता हुआ । जाग्रत्-जागता हुआ । दरिद्रत्-दरिद्र होता हुआ । शासत्-शासन करता हुआ । चकासत्-अत्यन्त शोभा युक्त होता हुआ । गुप्-रक्षक । ५—त्यद्-आदि शब्द उपपद (पद के समीप) में रहें तो अज्ञानार्थक दृश् धातु से क्व तथा चकारात् क्विन् प्रत्यय होता है । ६—दृग्, दृश् या वतु प्रत्यय पर में रहे तो सर्वनाम संज्ञक शब्दों को आकार अन्तादेश होता है । तादृक्-वैसा । विट्-वैश्य ।

नशेर्वा ८ । २ । ६३ ॥ नशोः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते ।
नक्, नग् । नट्, नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ।

स्पृशोऽनुदके क्विन् ३ । २ । ५८ ॥ अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्
स्यात् । घृतस्पृक्, घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्, दधृग् ।
दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्, रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुड्भ्याम् ।
पट्, षड् । पट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः । षड्भ्यः । षण्णाम् । पट्सु ।
रुत्वं प्रति षत्वस्याऽसिद्धत्वःत्ससजुपोरिति रुत्वम् ।

वोरूपधाया दीर्घ इक् ८ । २ । ७६ ॥ रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको
दीर्घः स्यात् पदान्ते । पिपठीः । पिपठीषौ । पिपठीर्भ्याम् ।

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवापेऽपि ८ । ३ । ५८ ॥ एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि
इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । घृत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्णु,

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
तादृक्	तादृशौ	तादृशः	तादृशः	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
तादृग्			तादृशः	तादृशोः	तादृशाम्
तादृशम्	तादृशौ	तादृशः	तादृशि	तादृशोः	तादृक्षु
तादृशा	तादृग्भ्याम्	तादृग्भिः	हे तादृक् !	हे तादृशौ ! हे तादृशः !	
तादृशे	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः	हे तादृग् !		

नक्—इत्यत्रापि कुत्वपक्षे षत्व-ढत्व-गत्व-कत्वानां प्रक्रिया तादृग्बज्जेया । एवं
'घृतस्पृक्' इत्यत्रापि ।

दधृक्—ऋत्विगित्यादिना क्विन्नन्त-दधृष् शब्दात्सौ, तस्य लोपे, पस्य
जश्त्वेन डकारे, कुत्वेन गकारे, वैकल्पिके चत्वे 'दधृक्, दधृग्' इति रूपद्वयम् ।

पिपठीष्णु, पिपठीःषु—पिपठीष्-शब्दात्सुप्यनुबन्धलोपे, 'स्वादिष्ण्वसर्वनाम-
स्थाने' इति पदसंज्ञायां 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुपो रुः' इति
रुत्वेऽनुबन्धलोपे, 'वोरूपधाया दीर्घ इक्ः' इति दीर्घे, 'रोः सुपि' इति रोविसर्गे,
तस्य 'वा शरि' इति नियमेन पाक्षिकस्थितौ अभावे विसर्गस्य सकारादेशे, 'नुम्वि-

१—पदान्त में नश् को कवर्ग अन्तादेश विकल्प से होता है । नक्-नष्ट होने वाला ।
२—उदक भिन्न सुबन्त उपपद रहे तो स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है । घृतस्पृक्-घी
स्पर्श करनेवाला । रत्नमुट्-रत्न को चुरानेवाला चोर । षट्-छह । ३—पदान्त में
रेफान्त औ वान्त धातुओं की उपधा के इक् को दीर्घ होता है । पिपठीः-पढ़ने की इच्छा
करनेवाला । ४—नुम् विसर्ग या शर् प्रत्याहार इनके प्रत्येक के व्यवधान रहने पर भी इण्

पिपठीःषु । चिकीः । चिकीर्षी । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु । विद्वान् । विद्वांसौ ।
हे विद्वन् ।

वसोः सम्प्रसारणम् ६ । ४ । १३१ ॥ ^१वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारण
स्यात् । विदुषः । वसुस्रंस्विति दः । विद्वद्भ्याम् ।

पुंसोऽसुङ् ७ । १ । ८९ ॥ ^२सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात् ।
पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुम्भ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् ।

सर्जनीयशब्दार्थेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे, 'पिपठीःषु पिपठीष्णु' इति स्थिते
द्वितीयलक्ष्ये ष्टुत्वेन पूर्वसकारस्य षकारे सिद्धं रूपद्वयम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
पिपठिषम्	पिपठिषौ	पिपठिषः	पिपठिषि	पिपठिषोः	{ पिपठीष्णु पिपठी.षु
पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्मिः	हे पिपठीः !	हे पिपठिषौ !	
पिपठिषे	पिपठिर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः			
पिपठिषः	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः			

एवं-चिकीः, -चिकीर्षी, चिकीर्षः-इत्यादि ।

चिकीः—चिकीष्—शब्दात्सौ तस्य लोपे, षत्वस्यासिद्धत्वात् 'रात्सस्य' इति
संयोगान्तलोपे, रेफस्य च विसर्गे 'चिकीः' इति ।

विदुषः—विद्वस्-शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे, 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्र-
सारणे, सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षकारे,
विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'विदुषः' इति सिद्ध्यति ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहु०
विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्विद्भिः	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः	हे विद्वन् !	हे विद्वांसौ !	हे विद्वांसः !

पुमान्—पुंस्—शब्दात्सौ 'पुंसोऽसुङ्' इति सस्यासुङि, अनुबन्धलोपे, 'उगिदवां
सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमागमे, अनुबन्धलोपे, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधा-

कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य षकार होता है । चिकीः—(किसी कार्य के) करने की इच्छा
करने वाला । विद्वान् पण्डित, ज्ञानकार ।

१-वस्वन्त भसञ्जक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है । २-सर्वनामस्थान की विवक्षा (कर्तृ

उशना । उशनसौ । ❀ अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः । हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः । हे उशनसौ । उशनोभ्याम् । उशनस्सु । अनेहा । अनेहसौ । हे अनेहः । वेधाः । वेधसौ । हे वेधः । वेधोभ्याम् ।

अदस औ सुलोपश्च ७ । २ । १०७ ॥ 'अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे, सुलोपश्च । तदोरिति सः । असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धिः ।

अदसोऽसेर्दादुदो मः ८ । २ । ८० ॥ 'अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूती स्तो दस्य मश्च । आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः । अमू । जसः शी । गुणः ।

दोर्धे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'संयोगान्तस्य लोपः' सलोपे 'पुमान्' इति सिद्धम् ।

एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०	
पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	उशना	उशनसौ	उशनसः	
पुमांसम्	पुमांसौ	पुंसः	उशनसम्	उशनसौ	उशनसः	
पुंसा	पुम्भ्याम्	पुम्मिः	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः	
पुंसे	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः	उशनसे	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः	
पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः	उशनसः	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः	
पुंसः	पुंसोः	पुंसाम्	उशनसि	उशनसोः	उशनसाम्	
पुंसिः	पुंसोः	पुंसु	उशनसोः	उशनसोः	उशनसाम्	
हे पुमान् !	हे पुमांसौ !	हे पुमांसः !	हे उशन !	} हे उशनसौ ! हे उशनसः !		
			हे उशनन् !			
			हे उशनः !			

एवं-अनेहस्, वेधस् शब्दयोरपि रूपाणि ज्ञेयानि । केवलं सौ सम्बोधने भेदः । हे अनेहः, हे वेधः हति ।

असौ—अदस्-शब्दात्सौ 'अदस औ सुलोपश्च' इति सस्यौत्वे, सोर्लोपे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दकारस्य सकारे, 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'असौ' इति ।

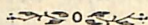
की इच्छा) में 'पुंस्' को 'असुङ्' आदेश होता है । पुमान्-पुरुष । उशनाः-शुक्राचार्य । सम्बोधन में उशना शब्द को अनङ् का आगम विकल्प से होता है और नकार का लोप भी विकल्प से कहना चाहिए । अनेहा-समय । वेधाः-ब्रह्मा ।

१—'सु' पर में रहे तो अदस् शब्द के अन्त्य अल् को औकार आदेश होता है और स का लोप भी हो जाता है । असौ-वह । २—सकारान्त से भिन्न (अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त)

एत ईद् बहुवचने ८।२।८१ ॥ ^१अदसो दात्परस्यैत ईद्स्य च मो
बह्वर्थोक्तौ । अमी । पूर्वत्राऽसिद्धमिति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे ।
अमुम् । अमू । अमून् । मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः ।

न मु ने ८।२।३ ॥ ^२नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नाऽसिद्धः
अमुना । अमूभ्याम् । अमूभ्याम् । अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुष्मैः ।
अमीभ्यः । अमीभ्यः । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः । अमुयोः । अमीषाम् ।
अमुष्मिन् । अमीषु ।

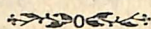
* इति हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् *



अमुना—अदस्-शब्दात् टा-विभक्तावनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते
'अदसोऽसेः-०' इति मुत्वे 'अमु आ' इति जाते, घिसंज्ञायां 'आडो नाऽस्त्रियात्
इति नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वं प्राप्तं 'न मु ने' इत्यनेन निषिध्यते, ततश्च
नाभावे कृते 'अमुना' इति सिद्धयति । मुत्वस्वासिद्धत्वात् 'मुपि च' इति दीर्घत्वं
न शङ्क्यः, तेनैव नाभावे जातेऽपि मुत्वस्यासिद्धत्वनिषेधात् ।

असौ	अमू	अमी	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
अमुम्	अमू	अमून्	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
			अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु

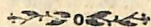
* इति हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् *



अदस् शब्द के दकार से परे ह्रस्व को 'उ' और दीर्घ को 'ऊ' आदेश होता है और 'द' को 'म' आदेश भी होता है ।

१-बहुत्व अर्थ के प्रतिपादन (अर्थात् बहुवचन) में अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार होता है और द को म भी हो जाता है । २-'ना' भाव करना हो या कर लिया गया हो तो भी 'मु' भाव असिद्ध नहीं होता है ।

* इस प्रकार हलन्तपुँल्लिङ्ग-प्रकरण समाप्त हुआ *



अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

नहो घः ८ । २ । ३४ ॥ ^१नहो हस्य घः स्याज्जलि पदान्ते च ।

नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु कौ ६ । ३ । ११६ ॥ ^२क्विबन्तेषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः स्यात् । उपानत्, उपानद् । उपानहौ । उपानत्सु । क्विबन्तत्वात्कुत्वेन घः । उष्णिक्, उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । एवं पूः । चतस्रः । चतसृणाम् । का के । काः । सर्वावित् ।

यः सौ ७ । २ । ११० ॥ ^३इदमो दस्य यः स्यात् सौ । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । टाप् । दश्चेति मः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया ।

उपानत्—उपपूर्वक नह् धातोः । क्वपि नहिवृति-इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घे, क्विबपोऽनुबन्धलोपे, 'वेरपृक्तस्य' इति वकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ उकारलोपे, 'नहो घः' इति हस्य घत्वे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, 'झलां जशोऽन्ते' इति घकारस्य दकारे, 'वावसाने' इति चत्वे 'उपानत्' इति ।

उपानत्-द्	उपानहौ	उपानहः	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
उपानहम्	उपानहौ	उपानहः	उपानहः	उपानहोः	उपानहाम्
उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	उपानहि	उपानहोः	उपानत्सु
उपानहे	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः	हे उपानत्-द् ! हे उपानहौ ! हे उपानहः !		

एवम्—उष्णिह्—शब्दस्यापि रूपाणि । सुपि 'उष्णिक्षु' इति ।

द्यौः	दिवौ	दिवः	गीः	गिरौ	गिरः
दिवम्	दिवौ	दिवः	गिरम्	गिरौ	गिरः
दिवा	द्युभ्याम्	इत्यादि	सुपि—द्युषुइति । गिरा गीभ्याम् गीभिः इत्यादि ।		

चतसृणाम्—चतुर्-शब्दादामि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति चतुरः—चतस्रादेशे, नुडागमे, अनुबन्धलोपे, नामीति दीर्घे प्राप्ते, 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे, 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'चतसृणाम्' इति ।

१—झल् पर में हो या पदान्त में स्थित जो 'नह्' धातु का हकार उसको घकार होता है ।
२—क्विप् प्रत्ययान्त नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि तनि-ये पर में रहें तो पूर्वपद को दीर्घ होता है । उपानत्=जूता । उष्णिक्=मुरेठा, पगड़ी (उष्णिक् छन्द) । द्यौः=भाकाश । गीः=वाणी । पूः=नगरी । चतस्रः=चार स्त्रियाँ । का=कौन स्त्री । ३—स्त्रीलिङ्ग में सु विभक्ति पर में रहे तो इदम् शब्द के दकार को यकार आदेश होता है । इयम्=एषा, यह स्त्री

हलि लोपः । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः । अस्याः । अनयोः । अनयोः । आसाम् । अस्याम् । आसु । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवं तद्, यद्, एतद् । वाक्, वाग् । वाचौ । वाग्भ्याम् । वाक्षु । अप् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । अप्तृन्निति दीर्घः । आपः । अपः ।

अपो भि ७ । ४ । ४८ ॥ 'अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे । अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक्, दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक्, दृग् । दृशौ । दृग्भ्याम् । त्विट्, त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् । ससजुषोरिति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् । आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । उत्त्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभ्याम् । अमूभ्याम् ।

अस्याः—इदम् शब्दात्-इसि अनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि अनुबन्धलोपे, सवर्ण-दीर्घे, 'सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वरा' इति स्याडागमे ह्रस्वे च कृते, 'हलि लोपः'—इतीदृभागस्य लोपे, 'अकः सवर्णदीर्घः' इति दीर्घे, सत्व रुत्वे विसर्गे च 'अस्याः' इति ।

अस्याम्—इदम्-शब्दात् डौ विभक्त्यावनुबन्धलोपे, त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते टापि दीर्घे, 'डेराम्-' इति डेरामि 'सर्वनाम्नः स्याड्-' इति स्याडागमे आपत् ह्रस्वे, हलिलोपे, आमा सह सवर्णदीर्घे 'अस्याम्' इति सिद्धम् ।

इयम्	इमे	इमाः	अस्याः	आभ्याम्	आभ्याम्
इमाम्	इमे	इमाः	अस्याः	अनयोः	आभ्याम्
अनया	आभ्याम्	आभिः	अस्याम्	अनयोः	आभ्याम्
अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः	अस्याम्	अनयोः	आभ्याम्

अद्भिः—अप्-शब्दाद् भिसि 'अपो भि' इति—अपः पकारस्य तकारे, 'अप जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे, विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'अदिमः' इति

दिक्—ऋत्विगित्यादिना क्विन्नन्त दिश्-शब्दात् सौ, तस्य लोपे, व्रश्चेत्यादि शस्य षत्वे, जश्त्वे, क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन गकारे, पक्षे आवसानिकचत्वे 'दिक्, दिक्' इति । एवं 'दृक्, दृग्' इत्यपि बोध्यम् ।

'आडिः चापः' इत्येत्वेऽयादेशे, उत्त्वमत्वे च कृते 'अमुया' इति ।

(वा सामग्री आदि) । स्या=सा=वह-स्त्री । या=जो, स्त्री । वाक्=वाणी । आपः=जल । शब्द नित्य ही बहुवचनान्त होता है ।

१-भादि (भिस्, भ्यस्) प्रत्यय पर में रहें तो अप् शब्द को तकार अन्तादेश होता

अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमुयोः ।
अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

* इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् *



अथहलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहो-

अमुष्यै—अदस्-शब्दात् डे-विभक्तौ, त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते, 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्यनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे, 'सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वथेति' स्याडागमे ह्रस्वे च, वृद्धिरेचीति वृद्धौ, अदसो०—इत्यादिना उत्त्वमत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अमुष्यै' इति ।

अमूषाम्—अदस्-शब्दादामि त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते, टापि अनुबन्धलोपे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि, अनुबन्धलोपे, 'अदसोऽसे-' रिति उत्त्वमत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षकारे अमूषाम् इति सिद्धयति ।

असौ	अमू	अमूः	अमुष्याः	अनूम्याम्	अमूभ्यः
अमुम्	अमू	अमूः	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम्
अमुया	अमूम्याम्	अमूमिः	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम्
अमुष्यै	अमूम्याम्	अमूभ्यः	अमुष्याम्	अमुयोः	अमूषु

* इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् *



स्वनडुत्-द	स्वनडुही	स्वनड्वांहि	स्वनडुहः	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः
स्वनडुत्-द	स्वनडुही	स्वनड्वांहि	स्वनडुहः	स्वनडुहोः	स्वनडुहाम्
स्वनडुहा	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भिः	स्वनडुहि	स्वनडुहोः	स्वनडुत्सु
स्वनडुहे	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः	हे स्वनडुत्-द!	हे स्वनडुही !	हे स्वनड्वांहि!

दिक्=दिशा । डक्=नेत्र । स्विट्=कान्ति । सजूः=सखी । आशीः=आशीर्वाद । असौ=वह स्त्री ।

* इस प्रकार हलन्तस्त्रीलिङ्ग समाप्त हुआ *



१—नपुंसक में सु और अम् का लोप हो जाता है । स्वनडुद्=अच्छा बैलवाला

रित्याम् । स्वनङ्वाहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि ।
वार्याम् । चत्वारि । किम् । के कानि इदम् । इमे । इमानि ।

❀ 'अन्वादेशे नपुंसके वा एनद्वक्तव्यः❀ । एनत् । एने । एनानि ।
एनेन । एनयोः । अहः । “विभाषा डिश्योः” । अह्नी, अहनी अहानि ।

अहन् ८।२।६८ ॥ २ अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते । अहोभ्याम् ।
दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । दण्डिना । दण्डिभ्याम् । सुपथि । टेलोपः ।
सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क्, ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊर्जि । न-र-जानां संयोगः ।

वाः	वारी	वारि	वारः	वार्याम्	वार्यः
वाः	वारी	वारि	वारः	वारोः	वारो
वारा	वार्याम्	वारिमः	वारि	वारोः	वारो
वारे	वार्याम्	वार्यः	हे वाः !	हे वारी !	हे वारि

किम्—नात्र किमः कादेशो विभक्तेरभावात् । न लुमतेति निषेधात्प्रत्यय-
लक्षणमपि न प्रवर्तते । एवम्—इदम्, त्यद्, तद्, यद्, एतद्—आदिशब्दानाम् ।
स्वमोर्लुकि अत्वसत्वाद्यभावः ।

अहोभ्याम्—अहन्-शब्दात् भ्यामि अहन्नित्यस्य 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने
इति पदसंज्ञायाम् 'अहन्' इति नकारस्य रुत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे, 'आद् गुण-
इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति ।

सुपन्थानि—सुपथिन्-शब्दाज्जशसोः श्यादेशे, सर्वनामस्थानत्वेन 'इतोत्सव-
नामस्थाने' इति अत्वे, 'थो न्यः' इति थस्य न्यादेशे, 'सर्वनामस्थाने-०' इत्यादि-
दीर्घे 'सुपन्थानि' इति ।

सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि । सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि । सुपथा, सुपथिभ्याम् ।
इत्यादि ।

(कुल) । वाः=पानी । चत्वारि=चार (वस्तुएँ) । किम्=कौन (वस्तु) । इदम्=
(वस्तु कुल आदि) ।

१—नपुंसकलिङ्ग में, अन्वादेश में इदम् शब्द को एनद् आदेश कहना चाहिए
(होता है) । एनत्=यह । अहः=दिन । २—पदान्त में अहन् शब्द के न् को रु होता है ।
दण्डि=दण्डवाला । सुपथि=सुन्दर रास्तावाला (नगर) वा वन । ऊर्क्=बल । तद्=तुम्हारे
यद्=जो । एतद्=यह । गवाक्=गोपूजक, रक्षक । शकृत्=मल ।

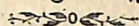
तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । गवाक्,
गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तस्तु । गोचा । गवाग्भ्याम् । शकृत् ।
शकृती । शकृन्ति । ददत् । ददती ।

वा नपुंसकस्य ७ । १ । ७९ ॥ ^१अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य
क्लीबस्य वा नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे । ददन्ति, ददति । तुदत् ।

आच्छीनद्योर्नुम् ७ । १ । ८० ॥ ^२अवर्णान्ताद्ङ्गात्परो यः शतुरवय-
वस्तदन्तस्य नुम् वा स्यात्, शी-नद्योः परतः । तुदन्ती । तुदन्ति ।

शप्-श्यर्नोर्नित्यम् ७ । १ । ८१ ॥ ^३शप्-श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्त-
दन्तस्य नित्यं नुम् स्यात् शी-नद्योः परतः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् ।
दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । सान्तेति दीर्घः । नुम्-विसर्जनीयेति
षः । धनूषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पयः । पयसी
पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्ति-
कार्यम् । उत्त्वमत्वे । अम् । अम्नि । शेषं पुवत् ।

❀ इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ❀



गवाक्—शब्दस्य रूपाणि संक्षेपतया—

गवाक्-ग्	गोची	गवाञ्चि	गोचः	गवाग्भ्याम्	गवाग्भ्यः
गवाक्-ग्	गोची	गवाञ्चि	गोचः	गोचोः	गोचाम्
गोचा	गवाग्भ्याम्	गवाग्भिः	गोचि	गोचोः	गवाक्षु
गोचे	गवाग्भ्याम्	गवाग्भ्यः	गोचि	गोचोः	गवाक्षु

* इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् *

—:०:—

१—सर्वनामस्थान पर में रहे तो अभ्यस्त संज्ञक से परे शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग
को विकल्प से नुम् होता है । तुदत्=दुःख देता हुआ । २—शी या नदीसंज्ञक (वर्ण) पर
में रहें तो अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृ का अवयव तदन्त शब्दस्वरूप को नुम् होता है
विकल्प से । ३—शी या नदीसंज्ञक वर्ण पर में हो तो शप्, श्यन् सन्बन्धी अकार से परे जो
शतृ का अवयव तदन्त शब्दस्वरूप को नित्य ही नुम् होता है । पचत्=पकाता हुआ ।
दीव्यत्=खेलता हुआ, प्रकाशमान होता हुआ । चक्षुः=भौंड़ । हविः=हवनार्थ खीर आदि
सामग्री । पयः=दूध या पानी । सुपुम्=अच्छे पुरुषों वाला । अदः=यह ।

* इस प्रकार हलन्तनपुंसकलिङ्ग समाप्त हुआ *

—:०:—

अथाऽव्ययप्रकरणम्

स्वरादिनिपातमव्ययम् १ । १ । ३७ ॥ १स्वरादयो निपाताश्चाऽव्यय-
संज्ञाः स्युः । स्वर । अन्तर । प्रातर । पुनर । सनुतर । उच्चैस् । नीचैस् ।
शनैस् । ऋधक् । ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । स्वस् । दिवा ।
रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । वहिस् ।
अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्वा ।
अद्वा । सामि । वत् । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् । सना । सनात् ।
सनात् । उपधा । तिरस् । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् ।
सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् ।
वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा ।
मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रवाहुकम् ।
[प्रवाहिका] । आर्यहलम् । अभीक्षणम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् ।

१-स्वरादिगण में पढ़े गये शब्द और निपात-संज्ञक शब्द 'अव्यय' संज्ञक होते हैं।
अन्तर=बीच । प्रातर=प्रातःकाल । पुनर=फिर, बार-बार । सनुतर=छिपना । उच्चैस्=ऊँचा
बड़ा । नीचैस्=नीचा, छोटा । शनैस्=धीरे-धीरे, विलम्ब । ऋधक्=सत्य । ऋते=विना
युगपत्=एक साथ । आरात्=दूर और नजदीक । पृथक्=अलग, विना । ह्यस्=बीता हुआ
कल का दिन । श्वस्=आगामी (कल का) दिन । दिवा=दिन । रात्रौ=रात । सायम्
सायंकाल । चिरम्=बहुत दिन । मनाक्=ईषत्=थोड़ा । जोषम्=चुप रहना, सुख । तूष्णीम्
=न बोलना, चुपचाप । वहिस्, अवस्=बाहर । समया, निकषा=नजदीक, मध्य । स्वयम्
अपने । वृथा=व्यर्थ । नक्तम्=रात्रि । नञ्=नहीं । हेतौ=कारण । इद्वा=स्पष्ट । अद्वा
स्पष्टार्थ, विनिश्चय (साक्षात्) । सामि=आधा । वत्=समान, तुल्य । ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण के
समान । क्षत्रियवत्=क्षत्रियके समान । सना, सनात्=नित्य । उपधा=भेद या पूर
तिरस्=टेढ़ा, छिप जाना । अन्तरेण, अन्तरा=विना (छोड़कर) बीच में । ज्योक्
अतिशीघ्रता । कम्=पानी, शिर, सुख, निन्दा । शम्=कल्याण (भलाई), सुख
सहसा=एकाएक (अचानक), विना=विना । नाना=अनेक प्रकार । स्वस्ति=शुभ, कल्याण
स्वधा=पितरों के तृप्ति के लिए श्राद्धादिकों में प्रयुक्त किया जाने वाला (प्रतिष्ठित
पद । अलम्='बस', और की इच्छा (आवश्यकता) न रहने पर यह शब्द कहा जाता है ।
आभूषण, परिपूर्णता । वषट्=देवताओं के तृप्त्यर्थ 'हवि' दान में । अन्यत्-अन्य और
अस्ति=है । उपांशु=अन्तः उच्चारण (जैसे गायत्री मन्त्रके जपमें) एकान्त । क्षमा=माफ
विहायसा=आकाश । दोषा=रात । मिथ्या=मृषा, असत्य । मुधा=व्यर्थ, प्रायः । पुरा=पहले
मिथो, मिथस्=परस्पर । प्रायस्=अत्यन्त । मुहुस्=पुनः । प्रवाहुकम् वा प्रवाहिका
एक कालमें वा ऊँचाई में । आर्यहलम्=बलात्कार करने में, रोकने में । अभीक्षणम्=निरन्त

धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । [प्रशान्] प्रतान् । मा । माङ् ।
आकृतिगणोज्यम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् ।
युगपत् । भूयस् । कूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । कच्चित् । यत्र । नह ।
हन्त । माकिः । माकिम् । नाकिः । नाकिम् । माङ् । नञ् । यावत् । तावत् ।
त्वै । द्वै । [न्वै] । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । तुम् । तथाहि । खलु ।
किल । अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह ।

❀ 'उपसर्ग-विभक्ति-स्वरप्रतिरूपकाश्च ❀

अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए ।
ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथाकथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है ।
हे । भोः । अये । च । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः ।

वारंवार । साकम्=सार्धम्-साथ में । नमस्=नमस्कार । हिरूक्=विना । धिक्=धिकार ।
अथ=मंगल । अन्=अतिशीघ्रता । आम्=स्वीकार करना । प्रताम्=पश्चात्ताप वा प्रारम्भ ।
प्रशाम्=तुल्य । प्रतान्=विस्तार । मा, माङ्=रोकना, खण्डन करना । ये पूर्वोक्त स्वर आदि
अव्यय आकृतिगण हैं । अर्थात् आकृत्या स्वरूपेणैव गण्यते इति, अपने स्वरूपसे ही जाने
जाते हैं । प्रशाम्के स्थान में प्रशान् का पाठ कुछ लोग मानते हैं । किन्तु वह साम्प्रदायिक
नहीं है । इसी प्रकार के कुछ और भी स्वरादि हैं । ग्रन्थविस्तार के भय से नहीं दिये जाते हैं ।
च=भी, और (समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर योग-समाहार, और । व=अथवा, विकल्प । ह=
प्रसिद्ध, निश्चय । अह=स्पष्ट । एव=निश्चय । एवं=इसी प्रकार । नूनम्=निश्चय, अवश्य ।
शश्वत्=सब दिन । युगपत्—एक समय । भूयस्=अत्यधिक, पुनः । कूपत्=प्रश्न, बड़ाई ।
कुवित्=अत्यधिक, प्रशंसा । नेत्=निषेध, विचार, सन्देह । चेत्=यदि । क्वचित्=कदाचित्,
अनुकूल प्रश्न । यत्र=जहाँ । तत्र=तहाँ, वहाँ । नह=नहीं । हन्त=प्रसन्नता, प्रस्तुत पर दुःख
प्रकट करना । माकिः, माकिम्=प्रतिषेध (रोकना) । नाकिः, नाकिम्=सही-सही । माङ्,
नञ्=निषेध । यावत्=जितना, जब तक । तावत्=तब तक, उतना । त्वै, द्वै न्वै=विशिष्ट
विचार (तर्क) । न्वै पाठ-भेद है । रै=दान, आदर । श्रौषट् वौषट् स्वाहा=देवताओं के
वृत्त्यर्थ हवि आदि के प्रदान आदि में । तुम्=तू । तथाहि=जैसे, उदाहरण के अर्थ में । खलु,
किल=निश्चय । सुष्ठु=सुन्दर । स्म=भूतकालवाचक, पाद की पूर्ति में । आदह=प्रारम्भ,
निन्दा, हिंसा ।

१-उपसर्ग प्रतिरूपक (सदृश) सुबन्त-सुप्प्रतिरूपक, तिङन्तप्रतिरूपक एवं स्वर-प्रति-
रूपक शब्द भी अव्यय संज्ञक होते हैं । अवदत्तम्=दिया गया । अहंयुः=अभिमानि । अस्ति-
क्षीरा=दूधवाली । 'अ' से औ तक के स्वर । पशु=सम्यक् । शुकम्=शीघ्र । यथाकथाच=अनादर,
7 किसी तरहसे । पाट्, प्याट्, अङ्ग, है, हे, भोः अये सम्बोधन अर्थ में । च=सम्बोधन

^१तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः १।१।३८ ॥ यस्मात् सर्वा विभक्ति-
नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः
प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोर्थाः ।
तसिवती । नानात्रौ । एतदन्तमप्यव्ययम् ।

कृन्मेजन्तः १।१।३९ ॥ ^२कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं
थ्यात् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिवध्यै ।

क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १।१।४० ॥ ^३एतदन्तमव्ययं स्यात् । कृत्वा ।
उदेतोः । विसृपः ।

अव्ययीभावश्च १।१।४१ ॥ [^४अव्ययीभावश्चाऽव्ययसंज्ञः स्यात् ।]
अधिहरि ।

अव्ययादाप्सुपः २।४।८२ ॥ ^५अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक्
स्यात् । तत्र शालायाम् ।

^६सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्यति तदव्ययम् ॥ १ ॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

हिंसा, पादपूरण, उलटा । विपु=अनेक । एकपदे=एक वा एकत्र, सहसा, अकस्मात् । युत्-
निन्दा । आतः=हसलिए । चादि=च है आदि में जिनके वे भी आकृतिगण हैं ।

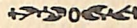
१-तद्धित के जिस शब्द से सभी विभक्तियाँ न हों ऐसा तद्धितान्त पद भी अव्यय-
संज्ञक होता है । उनकी गणना करनी चाहिए । तसिल् प्रत्यय तक के (तद्धितान्त) अव्यय-
संज्ञक होते हैं । और शस् से लेकर समासान्त प्रत्ययों के पूर्व के अव्यय संज्ञक होते हैं ।

२-मान्त और एजन्त जो कृत् तदन्त की अव्यय संज्ञा होती है । स्मारं स्मारम्=स्मार-
स्मरण कर के । जीवसे=जीने के लिए । ३-क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय-
संज्ञक होते हैं । कृत्वा=करके । उदेतोः=उदय हांकर । विसृपः=फैलकर । ४-अव्ययीभाव
समास की अव्ययसंज्ञा होती है । अधिहरि=हरि में । ५-अव्यय से लाये गये आप् जौर सुप्
का लोप होता है । तत्र शालायाम्=उस भवन में । ६-जो शब्द तीनों (पुं० स्त्री० नपुंसक)

लिङ्गों में प्रथमा से सप्तमी तक के सब विभक्तियों में एवं सब वचनों एकवचन द्विवचन
बहुवचनों में विकृत (रूपान्त को प्राप्त) नहीं होता वही अव्यय कहलाता है । भागुरि
आचार्य कहते हैं कि अव और अपि—इन उपसर्गों के अकार का लोप होता है और हलन्त
शब्दों से आप् प्रत्यय होता है, जैसा वाचा, (वाणी) निशा (रात्रि), दिशा आदि में आ
हो गया ।

वगाहः, अवगाहः । पिधानम्, अपिधानम् ।

० इति लघुसिद्धान्तकौमुद्यामव्ययप्रकरणम् ०



अथ तिङन्ते भ्वादिप्रकरणम्

लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् ।—^१एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः ।

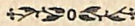
लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ३ । ४ । ६९ ॥ ^२लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ।

वर्तमाने लट् ३ । २ । १२३ ॥ ^३वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् । अटावितौ । ^४उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते—

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्ताऽस्ताञ्जथासाथान्ध्वमिड्वहिमहिङ् ३ । ४ । ७८ ॥ ^५एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ।

अव, अपि उपसर्गों का उदाहरण दे रहे हैं । वगाह=स्तान । पिधानम्=डकना । दोनों में अकार का लोप हो गया है ।

* इस प्रकार अव्ययप्रकरण समाप्त *



१-इन दशों लकारों में से पाँचवें (लेट्) लकार का प्रयोग केवल वेद में ही होता है ।
२-'लकार' सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव एवं कर्ता में होते हैं ।

बच्चों को यह ध्यान रखना चाहिये कि काल (समय) के प्रधानतया तीन विभाग हैं-भूत, वर्तमान और भविष्यत् । बीते हुए समय को भूतकाल कहते हैं, जैसे—स जगाम=वह गया, यह भूतकाल है । देवदत्तः पठति=देवदत्त पढ़ता है, यह वर्तमान काल है । यज्ञदत्तः पठिष्यति=यज्ञदत्त पढ़ेगा, यह भविष्यत् काल है । ये तीनों काल सामान्य एवं विशेष भेद वाले भी होते हैं ।

३-वर्तमान कालिक क्रियावृत्ति (क्रिया के व्यवहार में) धातु से लट् लकार होता है ।
४-'लशक्वतद्धिते' से 'ल' की इत्संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु उच्चारण के सामर्थ्य से नहीं होता है ।
५-लकार के स्थान में ये तिप् तस् आदि अठारहों आदेश होते हैं । (जैन व्याकरण में पहले उत्तम पुरुष, तब मध्यम, तत्पश्चात् अन्य पुरुष होता है । यह सूत्र वहाँ मिब्वस् से है) ।

लः परस्मैपदम् १।४।९९।^१लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्यः ।

तडानावात्मनेपदम् १।४।१०० ॥^२तड् प्रत्याहारः शानच्कानचौ
चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञाऽपवादः ।

अनुदात्तङित् आत्मनेपदम् १।३।१२ ॥^३अनुदात्तेतो ङितश्च धातो-
रात्मनेपदं स्यात् ।

स्वरितङितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२ ॥^४स्वरितेतो ङितश्च
धातोरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले ।

शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८ ॥^५आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः
कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।

तिङ्स्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१ ॥^६तिङ् उभयोः
पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः ।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२ ॥^७लब्धप्रथमादि-
संज्ञानि तिङ्स्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः ।

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५ ॥
^८तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः स्यात् ।

अस्मद्युत्तमः १।४।१०७ ॥^९तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्यात् ।

शेषे प्रथमः १।४।१०८ ॥^{१०}मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् ।
भू-ति इति जाते ।

१-लकार के स्थान में होने वाले तिप् आदि आदेश परस्मैपद-संज्ञक होते हैं । २-तड् प्रत्याहार और शानच्, कानच् प्रत्यय आत्मनेपद-संज्ञक होते हैं । यह परस्मैपद का बाधक है । ३-अनुदात्तेत् और ङित् धातु से आत्मनेपद होता है । ४-कार्य का फल कर्ता में जाता (प्राप्त होता) हो तो स्वरितेत् ङित् धातु से आत्मनेपद होता है (जैसे-कोई मनुष्य भोजन बना रहा है, वह यदि अपने लिए बनाता है, तब तो 'पचते' ऐसा आत्मनेपद होगा और यदि दूसरे के लिए बना रहा है तो वहाँ 'पचति' ऐसा परस्मैपदका प्रयोग होगा) । ५-आत्मनेपद के निमित्त से हीन धातु से कर्ता में परस्मैपद होता है । ६-तिङ् के परस्मैपद और आत्मनेपद सम्बन्धी तीन-तीन त्रिकों को क्रम से प्रथम, मध्यम, उत्तम (पुरुष) संज्ञा होती है । ७-उन प्राप्त प्रथमादि संज्ञावाले तीन तीन त्रिकों की (प्रत्येक में) क्रम से एक वचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा होती है । ८-तिङ् से वाच्य जो कारक, तद् (कारक) वाची युष्मद् शब्द का प्रयोग (उच्चारण) किया जाय या नहीं, तो मध्यमपुरुष होता है (अर्थात् युष्मद् शब्द और मध्यम पुरुष से अभेद है) । ९-तिङ्वाच्यकारकवाची अस्मद् शब्द प्रयुज्यमान हो या अप्रयुज्यमान हो तो धातु से उत्तम पुरुष होता है । १०-मध्यम और उत्तम पुरुष के अविषय अर्थात् अन्य व्यक्ति में प्रथम पुरुष होता है ।

तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३ ॥ ^१तिङः शितश्च धात्वधिका-
रोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ।

कर्तरि शप् ३।१।६८ ॥ ^२कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् ।

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ ॥ ^३अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य
गुणः स्यात् । अवादेशः । भवति । भवतः ।

झोऽन्तः ७।१।३ ॥ ^४प्रत्ययावयवस्य झस्याऽन्तादेशः स्यात् । अतो
गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ ।

अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१ ॥ ^५अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्याद्यत्रादौ
सार्वधातुके । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते
भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां
भवामः । वयं भवामः ।

परोक्षे लिट् ३।२।११५ ॥ ^६भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् ।
लस्य तिवादयः ।

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणत्वमाः ३।४।८२ ॥ ^७लिट्स्ति-
वादीनां नवानां णलादयो नव स्युः । भू अ इति स्थिते ।

भुवो वुग् लुङ्लिटोः ६।४।८८ ॥ ^८भुवो वुगागमः स्याल्लुङ्-
लिटोरचि ।

लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८ ॥ ^९लिटि परेऽनभ्यासधात्ववयव-
स्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । भूव् भूव्
अ इति स्थिते ।

१-धातु के अधिकार में पठित तिङ् और शित् सार्वधातुक-संज्ञक होते हैं । २-कर्त्रर्थक अर्थात् कर्ता को कहनेवाला सार्वधातुक पर में रहे तो धातुसे शप् प्रत्यय होता है । ३-सार्व-
धातुक या आर्धधातुक पर में रहें तो इगन्त अङ्ग को गुण होता है । भवति=होता है, हो रहा
है । ४-प्रत्यय के अवयव झ को 'अन्त' आदेश होता है । ५-यञादि सार्वधातुक पर में रहे
तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है । ६-भूत अनद्यतन (आज से पूर्व) परोक्ष (आँख से
न देखा गया) अर्थ में व्यवहार होने पर धातु से लिट् लकार होता है । ७-लिट् के तिप्
आदि नवों के स्थान में णल्-आदि नव होते हैं । ८-लुङ् या लिट् सम्बन्धी अच् पर में रहे तो
भू धातु से वुक् का आगम होता है । ९-लिट् पर में रहे तो अभ्यासरहित धातु का अवयव
जो एकाच् उसको द्वित्व होता है, आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ।

पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४ ॥ ^१अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् ।

हलादिः शेषः ७।४।६० ॥ ^२अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः ।

ह्रस्वः ७।४।५९ ॥ ^३अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात् ।

भवतेरः ७।४।७३ ॥ ^४भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि ।

अभ्यासे चर्चं ८।४।५४ ॥ ^५अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । जशां

जशः, खयां चर इति विवेकः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

लिट् च ३।४।११५ ॥ ^६लिङादेशास्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५ ॥ ^७वलादेरार्धधातुकस्येडागमः

स्यात् । बभूविथ । बभूवथुः । बभूव । बभूव । बभूविव । बभूविम ।

अनद्यतने लुट् ३।३।१५ ॥ ^८भविष्यत् अनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात् ।

बभूव—सत्तार्थवाची धातुसंज्ञक 'भू' इत्यस्माल्लिटि तस्य स्थाने 'तिसस्' इत्यादिना तिपि, 'परस्मैपदानां णलतुस्-', इत्यादिना तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे, 'भ्रुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति वुगागमे, उकाविती, लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भूव् इत्यस्य द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्य ह्रस्वे, 'भवतेरः' इति उकारस्य अकारे, 'अभ्यासे चर्चं' इति चर्त्वेन भस्य बत्वे 'बभूव' इति ।

बभूविथ—भू धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, अनुबन्धलोपे, तस्य सिपि, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे परस्मैपदानामित्यदिना सिपस्थलादेशे 'भू थ' इति दशायां स्थानिवस्त्वेन थस्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, अनुबन्धलोपे, भ्रुवो वुगिति वुगागमे, लिटि धातोरित्यादिना भूव् इत्यस्य द्वित्वे, 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे, 'हलादिः शेषः' इति वस्य लोपे, 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे, 'अभ्यासे चर्चं' इति चर्त्वेन भस्य बकारे 'बभूविथ' इति ।

१-यहाँ जो द्वित्व-विधान किये हैं, उनमें से पूर्व की अभ्यास-संज्ञा होती है । २-अभ्यास के आदि हल् का शेष रहता है अन्य हलों का लोप हो जाता है । ३-अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है । ४-लिट् पर में रहे तो 'भू' धातु के अभ्यास-सम्बन्धी उकार को अकार होता है । ५-अभ्यास में झलों को चर् तथा जश् भी होते हैं । ६-लिट् के स्थान में आदेश होने वाला जो तिङ् उसकी, आर्धधातुक संज्ञा होती है । ७-वल् प्रत्याहार हो आदि में जिसके ऐसे आर्धधातुक से इट् का आगम होता है । ८-भविष्यत् अनद्यतन (आज से आगे) अर्थ में धातु से 'लुट्' लकार होता है ।

स्यतासी लृलुटो ३ । १ । ३३ ॥ ^१धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तो लृलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । 'लृ' लृङ्-लृटोर्ग्रहणम् ।

आर्धधातुकं शेषः ३ । ४ । ११४ ॥ ^२तिङ्शिङ्घोऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः २ । ४ । ८५ ॥ ^३डा रौ रस् एते क्रमात्स्युः । ^४डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपः । भविता ।

तासस्त्योलोपः ७ । ४ । ५० ॥ ^५तासेरस्तंश्च सस्य लोपः स्यात्सादौ प्रत्यये परे ।

रि च ७ । ४ । ५१ ॥ ^६रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ।

लृट् शेषे च ३ । ३ । १३ ॥ ^७भविष्यदर्थद्वातोर्लृट् स्यात् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्यां वा । स्यः । इट् । भविष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्यावः । भविष्यामः ।

लोट् च ३ । ३ । १६२ ॥ ^८विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् स्यात् ।

भवितारौ—'भू' धातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि लस्य तिस्रसादिना तसा-देशे कृते, शपं प्रवाध्य 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, तासः 'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे, धातोर्गुणावादेशयोः कृतयोः तसः 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति रौमादे, 'रि च' इति सस्य लोपे 'भवितारौ' इति ।

१-लृट् तथा लृट् को स्य और तास् प्रत्यय क्रमशः होते हैं । २-तिङ् और शित् से भिन्न और 'धातोः' इसके अधिकार में विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है । ३-लृट्सम्बन्धी प्रथम पुरुष (तिप् तस् श्चि) के स्थान में क्रम से डा, रौ, रस् आदेश होते हैं । ४-('डा' प्रत्यय) डकार की इत्संज्ञा होने डित् है अतः भसंज्ञक न होने पर भी टि का लोप होता है । ५-सादि (सकार हो आदि में जिसके ऐसा) प्रत्यय पर में रहे तो तास् प्रत्यय एवं अस् धातु-सम्बन्धी सकार का लोप होता है । ६-रादि प्रत्यय भी पर में रहे तो वैसा ही जानना । ७-क्रिया क्रियार्थक हो या नहीं हो भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है । ८-विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न प्रार्थना-इन अर्थों में धातु से लोट् लकार होता है ।

आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।१७३ ॥ [^१आशिषि धातोर्लिङ्लोटौ स्तः] ।

एरुः ३।४।८६ ॥ ^२लोट इकारस्य उः स्यात् । भवतु ।

तुह्योस्तातडङ्गशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५ ॥ ^३आशिषि तुह्योस्ता-
तड् वा स्यात् । परत्वात्सवदिशः । भवतात् ।

लोटो लङ्वत् ३।४।८५ ॥ ^४लोटो लङ् इव कार्यं स्यात् । तेन
तामादयः सलोपश्च ।

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३।४।१०१ ॥ ^५डितश्चतुर्णां तामादयः
क्रमात्स्युः । भवताम् । भवन्तु ।

सेर्ह्यपिच्च ३।४।८७ ॥ ^६लोटः सेर्हिः स्यात् सोऽपिच्च ।

अतो हेः ६।४।१०५ ॥ ^७अतः परस्य हेर्लुकं स्यात् । भव, भवतात् ।
भवतम् । भवत ।

मेर्निः ३।४।८९ ॥ ^८लोटो मेर्निः स्यात् ।

आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२ ॥ ^९लोडुत्तमस्याऽऽट् स्यात्स पिच्च ।
मवानि । ^{१०}हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।

ते प्राग्धातोः १।४।८० ॥ ^{११}ते = गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव
प्रयोक्तव्याः ।

आनि लोट् ८।४।१६ ॥ ^{१२}उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्या-

१—आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं । २—लोट् सम्बन्धी इकारके स्थान में उकार होता है । ३—आशीर्वाद अर्थ में 'तु' एवं 'हि' को तातड् आदेश विकल्प से होता है । ४—लोट्-सम्बन्धी कार्यं लङ् की तरह होते हैं । अतः तस्-आदि के स्थान में ताम्-आदि आदेश और सकार का लोप भी होता है । ५—डित् सम्बन्धी तम, थस्, थ, मिप्-इन चारों के स्थान में क्रम से ताम्, तम्, त, अम् आदेश होते हैं । ६—लोट्-सम्बन्धी 'सि' के स्थान में 'हि' होता है और वह 'अपित्' संज्ञक होता है । ७—अदन्त (ह्रस्व अकारान्त) से परे 'हि' का लोप होता है । ८—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थान में 'नि' आदेश होता है । ९—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष से 'आट्' का आगम होता है और वह 'पित्' संज्ञक होता है । १०—'सेर्ह्यपिच्च, मेर्निः' से विहित 'हि' 'नि' के 'श्' को 'उ' नहीं होना, इकारोच्चारण के सामर्थ्य से अर्थात् यदि उकार ही करना इष्ट होता तो उकार-युक्त ही उच्चारण किया गया होता । ११—गति-संज्ञक एवं उपसर्ग-संज्ञकों का धातु में पहले ही प्रयोग करना चाहिए । १२—उपसर्ग में रहने वाले निमित्त (अर्थात् णत्स निमित्त रेफ, षकार) से परे लोडादेश 'आनि' के नकार को णकार होता है ।

ऽऽनीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । ॐ^१दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्व-
प्रतिषेधो वक्तव्यः । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । ॐ^२अन्तशब्दस्याऽङ्कवि-
धिणत्वेऽप्युपसर्गत्वं वाच्यम् । अन्तर्भवाणि ।

नित्यं ङितः ३ । ४ । ९९ ॥ ^३सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः
स्यात् । अलोऽन्त्यस्येति सलोपः । भवाव । भवाम् ।

अनद्यतने लङ् ३ । २ । १११ ॥ ^४अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् ।

लुङ् लङ् लृङ् ङ्वडुदात्तः ६ । ४ । ७१ ॥ ^५एङ्ङस्याऽडागमः स्यात्,
स चोदात्तः ।

इतश्च ३ । ४ । १०० ॥ ^६ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तदन्तस्य
लोपः स्यात् । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् ।
अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम् ।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३ । ३ । १६१ ॥
^७एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् स्यात् ।

भवानि, प्रभवाणि—भू धातोः 'लाट् च' 'आशिषि' इति वा लोटि, अनु-
बन्धलोपे, तस्य सार्वधातुकत्वेन शपि गुणेऽवादेशे च जाते, 'मेनिः' इति 'मि'
इत्यस्य 'नि' इत्यादेशे, 'आहुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमे दीर्घे 'भवानि' इति ।
मेनिरित्यत्रेकारोच्चारणान्न 'एरुः' इत्यस्य' प्रवृत्तिः । 'ते प्राग्धातोः' इति सूत्रेण
शब्दस्य प्राक्प्रयोगे 'आनि लोट्' इति नस्य णत्वे 'प्रभवाणि' इति ।

अभवत्—भू—धातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, तस्य तिपि, लस्य स्थानि-
वत्त्वे 'लुङ् लङ् लृङ् ङ्वडुदात्तः' इति-एडागमे, भू इत्यस्मात्-शपि गुणेऽवादेशे, 'ति'-
निष्-इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अभवत्' इति ।

१—षत्वऔर णत्व के विधान में 'दुर' के उपसर्गत्व का प्रतिषेध कहना चाहिए ।
२—अङ् विधि, किविधि एवं णत्व-विधान में अन्तर् शब्द की उपसर्गसंज्ञा कहनी चाहिए ।
३—ङित् (लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्) सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुष का नित्य ही
लोप होता है । ४—अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से 'लङ्' लकार होता है । ५—लुङ्,
लृङ् या लृङ् पर मे रहे तो अङ् से अट् का आगम होता है और वह उदात्त-संज्ञक होता है ।
६—ङित् सम्बन्धी इकार के स्थान में जो इकारान्त परस्मैपद (ति, पि, मि—आदि)
तदन्त (अर्थात् इकार) का लोप होता है । ७—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न,
प्रार्थना, इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है । विधि-नौकर आदि को किसी कार्य के
लिए प्रेरित करना । निमन्त्रण-नियोगकरण, श्राद्धादिमें दौहित्र (पुत्री के पुत्र) आदि का
प्रेम श्रद्धापूर्वक आह्वान । आमन्त्रण-जैसा चाहो करो, ऐसा कहना । अधीष्ट-सत्कारपूर्वक

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्च ३।४।१०३ ॥ ^१लिङः परस्मैपदान्
यासुडागमः स्यात्स चोदात्तो ङिञ्च ।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२।७९ ॥ ^२सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य
सस्य लोपः स्यात् । इति प्राप्ते ।

अतो येयः ७।२।८० ॥ ^३अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यासु
इत्यस्य इय् स्यात् । गुणः ।

लोपो व्योर्वलि ६।१।६६ ॥ ^४[वकारयकारयोर्लोपः स्याद्वलि]
भवेत् । भवेताम् ।

झेर्जुस् ३।४।१०८ ॥ ^५लिङो ज्ञेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवे-
भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ।

लिङाशिषि ३।४।११६ ॥ ^६आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात्
किदाशिषि ३।४।१०४ ॥ ^७आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात्
स्कोः संयोगाद्योरिति सलोपः ।

ग्विङिति च १।१।५ ॥ ^८गित्किञ्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी-
स्तः । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त-
भूयासम् । भूयास्व । भूयास्म ।

भवेयुः—भू धातोः 'विधिनिमन्त्रणाधीष्ट' इत्यादिना लिङि, तस्य प्रथमपुंस-
बहुवचने 'ञि' आदेशे, सार्वधातुकत्वे च 'झेर्जुस्' 'इति भि इत्यस्य जुसि केव-
जकारस्येत्वलोपो, सकारस्य 'न विभक्तौ—' इति निषेधात्—लोपो न भवति
'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्च' इति यासुडागमे, अनुबन्धलोपे, धातोः शि-
गुणेऽवादेशे च 'भव यास् उस्' इति स्थिते 'अतो येयः' इति यासः इयादेशे, गु-
रुत्वे, विसर्गे च 'भवेयुः' इति ।

गुरु आदि को पढ़ाने के लिए प्रवृत्त कराना ।

१—लिङ्-सम्बन्धी परस्मैपद को यासुट् का आगम होता है और वह उदात्त एवं ङित् होता
है । २—सार्वधातुक लिङ्-सम्बन्धी अनन्त्य सकार का लोप होता है । ३—अत् से परे
सार्वधातुक का अवयव 'यास्' उसको इय् होता है । ४—वल् प्रत्याहार पर में हो तो वल्
एवं यकार का लोप होता है । ५—लिङ् सम्बन्धी शि के स्थान में जुस् होता है । ६—लिङ्
स्थान में जो 'तिङ्' उसकी आशीर्वाद अर्थ में आर्धधातुक-संज्ञा होती है । ७—आशीर्वाद
में लिङ्-सम्बन्धी यासुट् कित्-संज्ञक होता है । ८—गित्, कित् या ङित्-निमित्त इग्लक्षण
गुण या वृद्धि नहीं होती है ।

लुङ् ३ । २ । ११० ॥ ^१भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात् ।

माङि लुङ् ३ । ३ । १७५ ॥ ^२[माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात्] ।

सर्वलकारापवादः ।

स्मोत्तरे लङ् च ३ । ३ । १७६ ॥ ^३स्मोत्तरे माङि लङ् स्याच्चाल्लुङ् ।

ञ्चि लुङि ३ । १ । ४३ ॥ ^४[धातोश्चिप्रत्ययः स्याल्लुङि] ।

शवाद्यपवादः ।

ञ्च्लेः सिच् ३ । १ । ४४ ॥ ^५[ञ्च्लेः सिजादेशः स्यात्] । इचावितौ ।

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २ । ४ । ७७ ॥ ^६एभ्यः सिचो

लुक् स्यात् । गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते ।

भूसुवोस्तिङि ७ । ३ । ८८ ॥ ^७भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे

गुणो न स्यात् । अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् । अभूत ।

अभूवम् । अभूव । अभूम ।

अभूत्—भूधातोर्लुङि, तस्य तिपि, 'लुङ्लङ्लृङ्ङ्वङुदात्तः' इत्यङागमे, टकार-

लोपे, 'ञ्चि लुङि' इति ञ्च्लौ, 'ञ्च्लेः सिच्' इति सिचि, गातिस्थेति सिचो लुकि,

'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य गुणस्य 'भूसुवोस्तिङि' इति निषेधे,

'इतश्च' इतीकारलोपे 'अभूत्' इति ।

अभूवन्—भू धातोः लुङि, तस्य झि प्रत्यये, लुङ् लङ्—इत्यादिना अङागमे,

टकारलोपे, 'ञ्चि लुङि' इति ञ्च्लौ, 'ञ्च्लेः सिच्' इति सिचि, 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः

सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य

गुणस्य 'भूसुवोस्तिङि' इति निषेधे, 'झोन्तः' इति झस्यान्तादेशे, 'भुवो वुग्लुङ्-

लिटोः' इति वुगागमे, अनुबन्धलोपे, तकारस्य च संयोगान्तलोपे 'अभूवन्' इति ।

अभूवम्—भूधातोर्लुङि, अङागमे, लुङो मिपि 'तस्यस्थमिपाम्'—इति अमि,

१—भूत—कालार्थ-वृत्ति धातु से लुङ् लकार होता है । २—माङ् (मा) शब्द उपपद (पद

के समीप) हो तो धातु से लुङ् लकार होता है । सभी लकारों का बाधक है । ३—'स्म'

शब्द उत्तर (बाद) में हो ऐसे माङ् [मा स्म ऐसे] के योग में लङ् लकार तथा (चका

रात्) लुङ् लकार भी होता है । ४—लुङ् परे रहते धातु से 'ञ्चि' प्रत्यय होता है । यह

शब्द—आदि का बाधक है । ५—'ञ्चि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है । ६—गा, स्था,

सुसंज्ञक धातु, पा एवं भू धातु से परे सिच् का लोप होता है । यहाँ इणादेश 'गा' धातु

तथा पिबादेश 'पा' धातु का ही गा और पा से ग्रहण है । ७—सार्वधातुक तिङ् पर में रहे

तो 'भू' 'सु' धातु को गुण नहीं होता है ।

न माङ्योगे ६।४।७४ ॥ 'अडाटौ न स्तः । मा भवान् भूत् ।
स्म भवत् । मा स्म भूत् ।

लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३ । ३ । १३९ ॥ 'हेतुहेतुमद्भावा
लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमा
याम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभवि
तम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । 'सुवृष्टि
भविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । अत सातत्यगमने । अत

'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, गातिस्थेति लि
लुकि, 'भ्रुवो वुग्-लुङ्' इत्यादिना वुगागमे, अनुबन्धलोपे, 'अभूवम्' इति ।

'भू' धातुरूपाणां सङ्कलनम्—

लट् लकारे—भवति, भवतः, भवन्ति । भवसि, भवथः, भवथ । भव
मवावः, भवामः । लिट् लकारे—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः । बभूविय, बभूव
बभूव । बभूव, बभूविव, बभूविम । लृट् लकारे—भविता, भवितारौ, भविता
भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्
लृट् लकारे—भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति । भविष्यसि, भविष्य
भविष्यथ । भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः । लोट् लकारे—भवतु—भव
भवताम्, भवन्तु । भव—भवतात्, भवतम्, भवत । भवानि, भवाव, भवा
लृङ् लकारे—अभवत्, अभवताम्, अभवन् । अभवः, अभवतम्, अभवत । अ
अमवाव, अमवाम । विधिलिङि—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः । भवेः, भवे
भवेत । भवेयम्, भवेव, भवेम । आशिषि लिङि—भूयात्, भूयास्ताम्, भूया
भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त । भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म । लुङि—अभूत्,
ताम्, अभूवन् । अमूः, अभूतम्, अमूत । अभूवम्, अभूव, अभूम । लृङि—
विष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन् । अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभवि
अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम ।

परस्मैपदे प्रायः सर्वेषां धातूनामेव विधान्येव रूपाणि भवन्ति । विशि
तु यानि भिन्नरूपाणि तानि तु प्रदर्शयिष्यन्ते ।

अतति—निरन्तरं गच्छति इत्यादि प्रतिलकारं कालभेदश्च ज्ञेयः ।

१—माङ् (मा) के योग में अट् या आट् नहीं होते हैं । २—क्रिया की निश्चित हो तो हेतुहेतुमद्भावादि जो लिङ् के निमित्त उन अर्थों में, भविष्यत्काल के व्यवहार में धातु से 'लृङ्' लकार होता है । अत-धातु निरन्तर चलने अर्थ में है ।

अत आदेः ७ । ४ । ७० ॥ ^१अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात् । आत, आततुः, आतुः । आतिथ, आतथुः, आत । आत, आतिव, आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु ।

आडजादीनाम् ६ । ४ । ७२ ॥ ^२अजादेरङ्गस्याऽऽट् स्यात् लुङ्लङ्लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात् । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते । अस्तिसिचोऽपृक्ते ७ । ३ । ९६ ॥ ^३विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल ईडागमः । स्यात् ।

इट ईटि ८ । २ । २८ ॥ ^४इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि परे ।
* ^५सिजलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः । आतीत् । आतिष्टाम् ।

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३ । ४ । १०९ ॥ ^६सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य डित्सम्बन्धिनो ज्ञेर्जुस् स्यात् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट । आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । विध गत्याम् ।

आतीत्—सततगमनार्थक-अत घातोर्लुङि, तस्य तिपि, अनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे, आटश्चेति वृद्धौ, आर्धघातुकस्येड् वलादेरितीटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति-ईडागमे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, तस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घभावः प्राप्तः, किन्तु 'सिजलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति बलेन दीर्घे 'आतीत्' इति ।

आतिषुः—निरन्तर-गमनार्थक 'अत्' घातोर्लुङि तस्य इयादेशे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे, आटश्चेति वृद्धौ, 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति ज्ञेर्जुंसादेशे, सिच इडागमे, सस्य षत्वे, ह्रस्वे, विसर्गे च 'आतिषुः' इति ।

'अत' घातो रूपाणि—

लटि-अतति, अततः, अतन्ति । अतसि, अतथः, अतथ । अतामि, अतावः,

१—अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ होता है । २—लुङ् लङ् या लृङ् लकार पर में रहे तो अजादि अङ्ग से आट् का आगम होता है (टित् है अतः आदि में होगा) । ३—विद्यमान् सिच् या अस्ति (अस् धातु) से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है । ४—ईट् पर में रहे तो इट् से परे जो सकार उसका लोप होता है । ५—एकादेश करने में सिच् का लोप सिद्ध ही रहता है (ऐसा कहना चाहिए) । ६—सिच् (प्रत्यय), अभ्यस्त (संभक्त) और विद् धातु से परे डित् सम्बन्धी 'क्षि' के स्थान में 'जुस्' होता है ।

ह्रस्वं लघु १।४।१० ॥ १ [ह्रस्वं लघुसञ्ज्ञं स्यात्] ।

संयोगे गुरु १।४।११ ॥ २ संयोगे परे ह्रस्वं गुरु [सञ्ज्ञं] स्यात् ।

दीर्घञ्च १।४।१२ ॥ ३ दीर्घञ्च गुरु [सञ्ज्ञं] स्यात् ।

पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६ ॥ ४ पुगन्तस्य लघूपधस्य चाऽऽस्येको गुणः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः । धात्वादेरिति सः । सेधति षत्वम् । सिषेध ।

असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५ ॥ ५ असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित् स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः । सिषेधित्थ । सिषिधित्थुः । सिषिध । सिषेध सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । एवम्-चित्ती संज्ञाने । शुच शोके गद व्यक्तायां वाचि । गदति ।

आतामः । लिटि-आत, आतनुः, आतुः । आतिथ, आतथुः, आत । आत, आति आतिम । लृटि-अतिता, अतितारौ, अतितारः । अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ । अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः । लृटि-अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति । अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ । अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः । लोटि-अततु-अततात्, अतताम्, अतन्तु । अत-अततात्, अततम्, अतत । अताव, अताम । लङि-आतत्, आतताम्, आतन् । आतः, आततम्, आततम्, आताव, आताम । विधिलिङि-अतेत्, अतेताम्, अतेयुः । अतेः, अतेतम्, अतेत । अतेयम्, अतेव, अतेम । आशिषि लिङि-अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः । अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त । अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म । लुङि-आतीम्, आतिष्टाम्, आतिषुः । आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट । आतिषम्, आतिष्व, आतिष्यत्, आतिष्यताम्, आतिष्यन् । आतिष्यः, आतिष्यतम्, आतिष्यतम्, आतिष्यम्, आतिष्याव, आतिष्याम ।

चित्ती संज्ञाने—

लटि-चेतति, चेततः, चेतन्ति । चेतसि, चेतथः, चेतथ । चेतामि, चेताम

१—ह्रस्व वर्ण लघुसंज्ञक होता है । २—संयुक्त वर्ण पर में रहे तो ह्रस्व वर्ण गुरु-संज्ञक होता है । ३—दीर्घ की भी गुरु संज्ञा होती है । ४—सार्वधातुक या आर्धधातुक पर में हो पुगन्त एवं लघूपध अङ्ग के अवयव इक् को गुण होता है । ५—असंयोग से परे पितृ-लिट् की कित् संज्ञा होती है । चित्ती-धातु सम्यग्-ज्ञान के अर्थ में । शुच-धातु शोक के अर्थ में ।

नेर्गदनदपतपदधुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्य-
तिचिनोतिदेग्धिषु च ८।४।१७ ॥ ^१उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्नस्य
णः स्याद् गदादिषु परेषु प्रणिगदति ।

कुहोश्चुः ७।४।६२ ॥ ^२अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवगदिशः स्यात् ।

अत उपधायाः ७।२।११६ ॥ ^३उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् त्रिति
णिचि च प्रत्यये परे । जगाद । जगदतुः । जगद्दुः । जगदिथ । जगदथुः ।
जगद ।

चेतामः । लिटि-चिचेत, चिचिततुः, चिचितुः । चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित ।
चिचेत, चिचितिव, चिचितिम । लुटि-चेतिता, चेतितारौ, चेतितारः । चेत्ति-
तासि, चेतितास्थः, चेतितास्थ । चेतितास्मि, चेतितास्वः, चेतितास्मः ।
लृटि-चेतिष्यति, चेतिष्यतः, चेतिष्यन्ति । चेतिष्यसि, चेतिष्यथः, चेतिष्यथ ।
चेतिष्यामि, चेतिष्यावः, चेतिष्यामः । लोटि-चेततु-चेततात्, चेतताम्, चेतन्तु ।
चेत-चेततात्, चेततम्, चेतत । चेतानि, चेताव, चेताम । लडि-अचेतत्, अचेतताम्,
अचेतन् । अचेतः, अचेततम्, अचेतत । अचेतम्, अचेताव, अचेताम । विधिलिङि-
चेतेत्, चेतताम्, चेत्युः । चेतैः, चेततम्, चेतैत । चेतैश्च, चेतैव, चेतैम । आशि-
लिङि-चित्यात्, चित्यास्ताम्, चित्यासुः । चित्याः, चित्यास्तम्, चित्यास्त ।
चित्यासम्, चित्यास्व, चित्यास्म । लुङि-अचेतीत्, अचेतिष्टाम्, अचेतिषुः । अचेतीः,
अचेतिष्टम्, अचेतिष्ट । अचेतिषम्, अचेतिष्व, अचेतिष्म । लृङि-अचेतिष्यत्, अचेति-
ष्यताम्, अचेतिष्यन् । अचेतिष्यः, अचेतिष्यतम्, अचेतिष्यत । अचेतिष्यम्,
अचेतिष्याव, अचेतिष्याम । एवं शुच शोके-शोचति । शुशोच । शोचिता ।
शोचिष्यति । शोचनु । अशोचत् । शोचेत् । शुच्यात् । अशोचीत् । अशोचिष्यत् ।

गद धातुः स्पष्टोच्चारणे एव प्रयुज्यते तेन गौर्गदतीति न भवति ।

जगाद —व्यक्तबचनार्थक गद् धातोर्लिटि, तस्य तिपि, तस्य च परस्मैपदानाम्
इति णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये,
'कुहोश्चुः' इति कवर्गस्य चवर्गदिशे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां
'जगाद' इति ।

१—गद, नद आदि धातु पर में रहे तो उपसर्गस्थ निमित्त (णत्व निमित्त रेफ षकार)
से परे 'नि' के नकार को णकार होता है । गद-धातु स्पष्ट बोलने अर्थ में । २—अभ्यास-
सम्बन्धी कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश होता है । ३—बित् या णित् प्रत्यय पर में
रहे तो उपधा के हस्वाकार को वृद्धि होती है ।

णलुत्तमो वा ७।१।९१ ॥ १उत्तमो णल् वा णित्स्यात् । जगाद-
जगद । जगदिव । जगदिम । गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् ।
गद्यात् ।

अतो हलादेर्लघोः ७।२।७ ॥ २हलादेर्लघोरकारस्य इडादौ परस्मैपदे
सिचि वृद्धिर्वा स्यात् । अगादीत्-अगदीत् । अगदिष्यत् । णद् अव्यक्ते शब्दे ।

णो नः ६।१।६५ ॥ ३धातोरादेर्णस्य नः ४णोपदेशास्त्वनर्दानाटि-
नाथ्नाध्नुन्दनक्कनृनृतः ।

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४ ॥ ५उपसर्गस्थान्निमित्ता-
त्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात् समासे असमासे च । प्रणदति ।
प्रणिनदति । नदति । ननाद ।

अगादीत्—गदधातोरुङि, तस्य तिपि, पकारलोपे, इतश्चेतीकारलोपे, 'लुङ्-
लङ्लङ्-०' इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति
सिचि, इचावितौ, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीडागमे, 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इत्य-
पृक्तहल ईडागमे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे,
'अतो हलादेर्लघोः' इति वा वृद्धौ च अगादीत्-अगदीत् इति ।

गद धातोः रूपाणि

लटि—गदति, गदतः, गदन्ति । गदसि, गदथः, गदथ । गदामि गदावः,
गदामः । लिटि—जगद, जगदतुः, जगदुः । जगदिय, जगदथुः, जगद । जगाद-
जगद, जगदिव, जगदिम । लृटि—गदिता, गदितारौ, गदितारः । गदितासि,
गदितास्थः, गदितास्थ । गदितास्मि, गदितास्वः, गदितास्मः । लृटि—गदिष्यति,
गदिष्यतः, गदिष्यन्ति । गदिष्यसि, गदिष्यथः, गदिष्यथ । गदिष्यामि, गदिष्यावः,
गदिष्यामः । लोटि—गदतु-गदतात्, गदताम्, गदन्तु । गद-गदतात्, गदतम्, गदत ।
गदानि, गदाव, गदाम । लङि—अगदत्, अगदताम्, अगदन् । अगदः, अगदतम्,
अगदत । अगदम्, अगदाव, अगदाम । बिधिलिङि—गदेत्, गदेताम्, गदेयुः । गदेः,

१—उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है । २—इडादि परस्मैपद सिच् पर से
हो तो हलादि धातु के ह्रस्व अकार को वृद्धि विकल्प से होती है । ३—धातु के आदि णकार
को नकार होता है । ४—नर्द, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द, नक्क, नृ और नृत—इन धातुओं
को झोड़कर अन्व नकारादि धातु णोपदेश कहलाते हैं । ५—समास तथा असमास में भी
उपसर्गस्थ निमित्त से परे णकारोपदेश धातु के नकार को णकार होता है ।

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२० ॥ ^१लिण्निमित्तादेशा-
दिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्यासंयुक्तहल्मध्येस्थस्याऽकारस्य एकारः
स्यादभ्यासलोपश्च किति लिटि । नेदतुः । नेदुः ।

थलि च सेटि ६।४।१२१ ॥ ^२प्रागुक्तं स्यात् । नेदित्थ । नेदथुः ।
नेद । ननाद, ननद । नेदिव । नेदिम । नदिता । नदिष्यति । नदतु । अन-
दत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत्, अनदीत् । अनदिष्यत् । दुनदि समृद्धौ ।

आदित्रिटुडवः १।३।५ ॥ ^३उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ।

इदितो नुम् धातोः ७।१।५८ ॥ ^४[इदितो धातोर्नुमागमः स्यत्] ।

गदेतम्, गदेत । गदेयम्, गदेव, गदेम । आशीर्लिङि-गद्यात्, गद्यास्ताम्, गद्यासुः ।
गद्याः, गद्यास्तम्, गद्यास्त । गद्यासम्, गद्यास्व, गद्यास्म । लुङि-अगादीत्, अगा-
दिष्टाम्, अगादिषुः । अगादीः, अगादिष्टम्, अगादिष्ट । अगादिषम्, अगादिष्व,
अगादिष्म । बृद्धचभावपक्षे-अगदीत्, अगदिष्टाम्, अगदिषुः । अगदीः--इत्यादि ।
लृङि-अगदिष्यत्, अगदिष्यताम्, अगदिष्यन् । अगदिष्यः, अगदिष्यतम्, अगदि-
ष्यत । अगदिष्यम्, अगदिष्याव, अगदिष्याम ।

एवमव णद् धातोरेपि—नदति । ननाद । नदिता । नदिष्यति । नदतु ।
अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनदीत् । अनदिष्यत् इत्यादि क्रमः ।

लिण्निमित्तादेशादिकम्—लिण्निमित्तो यः 'कुहोश्चुः' 'अभ्यासे चर्च' इति
शास्त्रकृत आदेशादिः तदभिन्नं यदङ्गं तदवयवस्यासंयुक्तहल्मध्येस्थस्याकार-
स्यैवमित्यादिः । यथा—नेदुतुरित्यत्र नद् धातोर्लिटि, तसि, तस्यातुसि, द्वित्वे-
ऽभ्यासादिकार्ये ततः 'न नद् अतुस्' इति दशायां 'ननद्' इति अङ्गं लिण्निमित्ता-
देशादिभिन्नं तदवयवोऽसंयुक्तहल्मध्येऽकारो द्वितीयनकारोत्तरोऽकारस्तस्यैत्वम्,
आद्यनकारस्य लोपे च 'नेदतुः' इति सिद्धयति ।

दुनदि समृद्धौ—एतस्मादेव 'आनन्द'-शब्दस्य निष्पत्तिः । समृद्धिः धनधान्य-
यशादिवृद्धिः ।

१—लिट् का निमित्त मानकर आदेश आदि न हुए हों ऐसा जो अङ्ग तदवयव असंयुक्त
हल्मध्येस्थ जो अकार उसको एत्व होता है और अभ्यास का लोप भी होता है कित्-लिट्
परे रहते । २-इट् सहित थल् प्रत्यय पर में रहे तो लिट् को मानकर आदेश आदि
न हुए हों ऐसा जो अङ्ग तदवयव असंयुक्त हल्मध्येस्थ अकार को एकार होता है तथा
अभ्यास का लोप भी हो जाता है । ३ इत्संज्ञक नद्-धातु अभिवृद्धि अर्थात् आनन्द अर्थ में ।
४-उपदेश-पाणिनि आदि के प्रथमोच्चारण में धातु के आदि-में जो नि, ट, ड, उनको
४ इत्संज्ञा होती है । ४--इदित् (इकारेत्संज्ञक) धातु से नुम् का आगम होता है ।

नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् ।
नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् । अर्च पूजायाम् । अर्चति ।

तस्मान्नुङ् द्विहलः ७ । ४ । ७१ ॥ ^१द्विहलो धातोर्दीर्घाभूतादकारात्परस्य
नुट् स्यात् । आनर्चं । आनर्चंतुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चंतु । आर्चत् ।
अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् । व्रज गतौ । व्रजति । वव्राज ।
व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु । अव्रजत् । व्रजेत् । व्रज्यात् ।

वदव्रजहलन्तस्याचः ७ । २ । ३ ॥ ^२वदेर्व्रजेर्हलन्तस्य चाऽङ्गस्याञ्चः
स्याने वृद्धिः स्यात्सिचि परस्मैपदेषु । अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् । कटे वर्षा-

आनर्चं—पूजाथक 'अर्चं' धातोलिटि, तस्य तिपि, तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे,
'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'अ अर्चं अ' इति स्थिते,
'अतो गुणे' इति प्राप्तं पररूपं प्रवाध्य 'अत आदेः' इति अभ्यासस्य दीर्घे, तस्मा-
न्नुङ् द्विहलः' इति नुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'आनर्चं' इति ।

अर्चं धातोः रुगणि—

लटि—अर्चति, अर्चतः, अर्चन्ति । अर्चसि, अर्चथः, अर्चथ । अर्चामि, अर्चावः,
अर्चामः । लिटि—आनर्चं, आनर्चंतुः, आनर्चुः । आनर्चिथ, आनर्चंतुः, आनर्चं ।
आनर्चं, आनर्चिव, आनर्चिम । लुटि—अर्चिता, अर्चितारो, अर्चितारः । अर्चितासि,
अर्चितास्यः, अर्चितास्य । अर्चितास्मि, अर्चितास्वः, अर्चितास्मः । लृटि—अर्चिष्यति,
अर्चिष्यतः, अर्चिष्यन्ति । अर्चिष्यसि, अर्चिष्यथः, अर्चिष्यथ । अर्चिष्यामि, अर्चि-
ष्यावः, अर्चिष्यामः । लोटि—अर्चंतु—अर्चंतात्, अर्चंताम्, अर्चन्तु । अर्चं—अर्चंतात्,
अर्चंतम्, अर्चंत । अर्चानि, अर्चाव, अर्चाम । लङि—आर्चत्, आर्चंताम्, आर्चन् ।
आर्चः, आर्चंतम्, आर्चंत । आर्चंम्, आर्चाव, आर्चाम । विधिलिङि—अर्चेत्,
अर्चेताम्, अर्चेयुः । अर्चेः, अर्चेतम्, अर्चेत । अर्चेयम्, अर्चेव, अर्चेम । आशीर्लिङि—
अर्च्यात्, अर्च्यास्ताम्, अर्च्यासुः । अर्च्याः, अर्च्यास्तम्, अर्च्यास्त । अर्च्यासम्,
अर्च्यास्व, अर्च्यास्म । लुङि—आर्चीत्, आर्चिष्टाम्, आर्चिषुः । आर्चीः, आर्चिष्टम्,
आर्चिष्ट । आर्चिषम्, आर्चिष्व, आर्चिष्म । लृङि—आर्चिष्यत्, आर्चिष्यताम्, आर्चि-
ष्यन् । आर्चिष्यः, आर्चिष्यतम्, आर्चिष्यत । आर्चिष्यम्, आर्चिष्याव, आर्चिष्याम ।

अव्राजीत्—गत्यर्थक व्रज धातोरुङि, तस्य तिपि, 'लुङ्-लङ्-०' इत्यादिना

अर्चं-धातु पूजा अर्थ में है ।

१-द्विहल् अर्थात् दो हल् हों जिसमें ऐसे धातु के दीर्घाभूत अकार से परे नुट् का आगम
होता है । २-परस्मैपद में सिच् परे रहते वद, व्रज और हलन्त धातु के अङ्गावयव अच् को

ऽऽवरणयोः । कटति । चकाट । चकटतुः । कटिता । कटिष्यति । कटतु ।
अकटत् । कटेत् । कट्यात् ।

ह्यचन्तक्षणभ्रसजागृणिश्च्येदिताम् ७ । २ । ५ ॥ 'हमयान्तस्य क्षणा-
देर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्न स्यादिडादौ सिचि । अकटीत् ।
अकटिष्यत् । गुप् रक्षणे ।

अटि, अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे,
'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि, पुनः 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि, 'इट ईटि'
इति सस्य लोपे, वदव्रजेति वृद्धौ, इतश्चेति तिप इकारस्य लोपे 'अवाजीत्' इति ।

व्रज घातोः रूपानि—

लटि—व्रजति, व्रजतः, व्रजन्ति । व्रजसि, व्रजथः, व्रजथ । व्रजामि, व्रजावः,
व्रजामः । लिटि—वव्राज, वव्रजतुः, वव्रजुः । वव्रजिय, वव्रजयुः, वव्रज । वव्राज-
वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम । लुटि—व्रजिता, व्रजितारौ, व्रजितारः । व्रजितासि, व्रजि-
तास्थः, व्रजितास्थः । व्रजितास्मि, व्रजितास्वः । व्रजितास्मः । लृटि—व्रजिष्यति,
व्रजिष्यतः, व्रजिष्यन्ति । व्रजिष्यसि, व्रजिष्यथः, व्रजिष्यथ । व्रजिष्यामि, व्रजिष्यावः,
व्रजिष्यामः । लोटि—व्रजतु-व्रजतात्, व्रजताम्, व्रजन्तु । व्रज-व्रजतात्, व्रजतम्,
व्रजत । व्रजानि, व्रजाव, व्रजाम । लङि—अव्रजत्, अव्रजताम्, अव्रजन् । अव्रजः,
अव्रजतम्, अव्रजत । अव्रजम्, अव्रजाव, अव्रजाम । विधिलिङि—व्रजेत्, व्रजेताम्,
व्रजेयुः । व्रजेः, व्रजेतम्, व्रजेत । व्रजेयम्, व्रजेव, व्रजेम । आशीलिङि—व्रज्यात्,
व्रज्यास्ताम्, व्रज्यासुः । व्रज्याः, व्रज्यास्तम्, व्रज्यास्त । व्रज्यासम्, व्रज्यास्व,
व्रज्यास्म । लुङि—अव्राजीत्, अव्राजिष्टाम्, अव्राजिषुः । अव्राजीः, अव्राजिष्टम्,
अव्राजिष्ट । अव्राजिषम्, अव्राजिष्व, अव्राजिष्म । लृङि—अव्रजिष्यत्, अव्रजिष्यताम्,
अव्रजिष्यन् । अव्रजिष्यः, अव्रजिष्यतम्, अव्रजिष्यत । अव्रजिष्यम्, अव्रजिष्याव,
अव्रजिष्याम । एवं कटेधातोरपि कटति, कटतः, कटन्ति-इत्यादि रूपानि ।

अकटोत्—वर्षा तथा-आवरणार्थक कट् घातोर्लुङि, तिपि, अटि, च्लौ, सिचि,
इटि, ईटि, सलोपे 'च कृते हलन्तत्वाद् 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ प्रासायां
ह्यचन्तेति निषेधे, 'अकटोत्' इति ।

वृद्धि होती है । कटे-धातु वर्षा और आवरण=आच्छादन अर्थ में है ।

१—इडादि सिच् पर में रहे तो इकारान्त, मकारान्त, यकारान्त धातु और क्षणादि
(क्षण, स्वस, जागृ) और ण्यन्त, शिव एवं एदित धातु को वृद्धि नहीं होती है । गुप्-धातु
रक्षा करने अर्थ में ।

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३।१।२८ ॥ ^१एभ्यः आयप्रत्ययः स्यात्स्वार्थे ।

सनाद्यन्ता धात्वः ३।१।३२ । ^२सनादयः कर्मेणिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः स्युः । धातुत्वाल्लडादयः । गोपायति ।

आयादय आर्धधातुके वा ३।१।३१ ॥ ^३आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः । ^४कास्यनेकाच् आम् वक्तव्यो लिटि । आस्कासोरास्विधानान्मस्य नेत्वम् ।

अतो लोपः ६।४।४८ ॥ ^५आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तं तस्याऽकारस्य लोपः स्यादार्धधातुके ।

आमः २।४।८१ ॥ ^६आमः परस्य लुक् यात् ।

कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४० ॥ ^७आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि ।

उरत् ७।४।६६ ॥ ^८अभ्यासऋवर्णस्यात्स्यात्प्रत्यये परे । रपरः । हलादिः शपः । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाच्चणि प्राप्ते—

सनादय—इति—सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यपोऽथाऽऽचारक्विब्वणिज्यङस्तथा ।

यगाय-ईयङ्-गिङ्-चेति द्वादशामी सनादयः ॥

गोपायाञ्चकार—उकारेत्संज्ञक 'गुप्' धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति सहकारेण 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति वैकल्पिक आय-प्रत्यये, 'पुगन्त-लघूपधस्य' च इति गुणे, सनाद्यन्तेति धातुसंज्ञायां लिटि 'गोपाय' इत्यस्य अनेका-

१—गुप्, धूप, विच्छ्, पण्, पन्-इन धातुओं से स्वार्थ में आय प्रत्यय होता है ।
 २—सन्, क्यच्, काम्यच् आदि से लेकर 'कर्मेणिङ्' तक के (कोई) प्रत्यय जिनके अन्त में हों वें (शब्द) धातु संज्ञक होते हैं । ३—आर्धधातुक की विवक्षा में आय-आदिक प्रत्यय विकल्प से होते हैं । ४—लिट् पर में हो तो कास् धातु एवं अनेकाच् धातु से आम् होता है (कहना चाहिए) । आस् तथा कास् धातुसे 'आम्' किये जाने के कारण (आम् के) मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है । अर्थात् मकारोच्चारण का अन्य प्रयोजन है नहीं । एवं यदि इत्संज्ञा ही इष्ट होती तो 'आ' ऐसा ही पढ़े होते । ५—आर्धधातुक प्रत्यय पर में रहे तो उपदेश (प्रथमोच्चारण) काल में अकारान्त जो धातु उसके अकार का लोप होता है । ६—आम् से पर में जो लिट् उसका लोप होता है । ७—आमन्त से परे लिट् परक कृभू, अस् का अनु (पश्चात्) प्रयोग होता है । ८—प्रत्यय पर में रहे तो अभ्यास ऋवर्णों को अत् (अ) होता है ।

द्विर्वचनेऽचि १ । १ । ५९ ॥ ^१द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः ।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७ । २ । १० ॥ ^२उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च ततः परस्यार्धधातुकस्येण स्यात् ।

^३ऊदन्तैर्यौतिरुक्षणुशीस्तुनुक्षुश्रिडोड्श्रिभिः ।

वृड्-वृज्-भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥

^४कान्तेषु शक्ल्-एकः । चान्तेषु-पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिच्ः पट् । छान्तेषु-प्रच्छेकः । जान्तेषु-त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रुञ्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज्-सृज्ः पञ्चदश । दान्तेषु-अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-

च्वात् 'कास्यनेकाच्-०' इति वार्तिकेन आमि मकारत्येतसंज्ञालोपी प्राप्ता किन्तु 'आस्कासोराभिवधानान्मस्य नेत्वम्' इति लोपाभावे, 'अतो लोपः' इति यकाराकारलोपे, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'गोपायाम्' इति स्थिते, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति कृञोऽनुप्रयोगे, लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, कृञो 'लिटि धातोः-०' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्य अकारे, रपरे, हलादिशेषे, 'कुहोश्चुः' इति पूर्वककारस्य चकारे, 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुत्कारे, परसवर्णे, 'अचो ङिति' इति वृद्धौ रपरे (वा आर् वृद्धौ) च तत्सिद्धिः । पक्षे 'जुगोप' इति ।

गोपायाञ्चक्रतुः—उकारेतसंज्ञक-रक्षार्थक-गुप् धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति नियमेन वैकल्पिक आय प्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वेन लघूपधगुणे 'गोपाय' इति 'सनाद्यन्ताः-०' इति धातुत्वेन लिटि 'कास्यनेकाच्-' इत्यामि 'अतो लोपः' इति यकाराकारलोपे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते'—इति लिट्परकृ-अनुयोगे, लिटस्तसादेशे, तस्य 'परस्मैपदानाम्-' इति अतुसि, 'इको यणचि' इति यणि द्वित्वे च प्राप्ते, (कतरेण भाव्यम् इति) 'द्विर्वचनेऽचि' इति यणादि निषेधे, द्वित्वे, 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्याकारे रपरे, हलादिना रलोपे, 'कुहोश्चुः' इति चकारे, आमो मस्यानुस्वारे परसवर्णे च । ततः ऋकारस्य यणि सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'गोपायाञ्चक्रतुः' । पक्षे 'जुगुपतुः' इति ।

१—द्वित्वकर्तव्य में द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहे तो अच् के स्थान में आदेश नहीं होता है । २—उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् या अनुदात्त हो उससे परे आर्धधातुक को इट् नहीं होता है । ३—अजन्त धातुओं में ऊदन्त एवं ऋदन्त धातु, यु, रु, क्षु, शीड्, स्तु, नु, ड्क्षु, श्रि, डीड् श्रिञ्, वृड् और वृज् इन धातुओं को छोड़कर अन्य एकाच् धातु अनुदात्त संज्ञक होते हैं । ४—ककारान्त धातुओं में एक शक् धातु—इत्यादि स्पष्ट है । ये सभी अनुदात्त होते हैं ।

नुद्-पद्य-भिद्-विद्यतिविनद्-विन्द-शद्-सद्-स्विद्य-स्कन्द-हृदः षोडश । धान्तेषु-
 क्रुध्-क्षुध्-बुध्-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश । नान्तेषु-
 मन्यहन्तौ द्वौ । पान्तेषु-आप्-क्षुप्-क्षिप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-त्रप्-शप्-स्वप्-
 सृपस्त्रयोदश । मान्तेषु-यभ्-रभ्-लभस्त्रयः । मान्तेषु-गम्-नम् यम्-रमश्चत्वारः ।
 शान्तेषु-क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश । पान्तेषु-कृष्-
 त्विष्-त्तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या-एकादश । सान्तेषु-घस्-
 वसती द्वौ । हान्तेषु-दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ ।

१ अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् [१०३] ।

गोपायाञ्चकर्थ । गोपायाञ्चक्रथुः । गोपाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्च-
 कर । गोपायाञ्चकृव । गोपायाञ्चकृम । गोपायाम्बभूव । गोपायामास ।
 जुगोप । जुगुपतुः । जुगुपुः ।

स्वरतिसूतिसूयतिधूञ्जदितो वा ७ । २ । ४४ ॥ ३ स्वरत्यादेरुदितश्च
 परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । जुगोपिथ, जुगोप्य । गोपायिता,
 गोपिता, गोप्ता । गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति । गोपायतु ।
 अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात्, गुप्यात् । अगोपायीत् ।

नेटि ७ । २ । ४ ॥ ३ इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न स्यात् । अगो-
 पीत् । अगोप्सीत् ।

जुगोपिथ—गुप् धातोर्लिटि, तस्य सिपि, सिपो थलि, 'लिटि धातोः-०' इति
 द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, कुहोश्चुरिति गकारस्य जत्वे, 'आर्धधातुक-०' इति नित्य-
 मिटं बाधित्वा 'स्वरतिसूति-०' इति वैकल्पिक इटि, पुगन्तलघूप-० इति गुणे
 'जुगोपिथ' इति । इडभावे 'जुगोप्य' इति ।

अगोपीत्—उकारेत्संज्ञक गुप् धातोर्लुङि तस्य तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ,
 'च्लेः सिच्' इति सिचि, अनुबन्धलोपे, लुङ्लङ्—इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'स्वरति
 सूति'—इति वैकल्पिके इटि, पुनः 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यपृक्तहल ईडागमे, 'इट
 ईटि' इति सस्य लोपे, वदन्नजेति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषेधे, पुगन्तेति गुणे,
 इतश्चेतीकारलोपे तत्सिद्धिः । इडभावे तु वृद्धिर्भवति, सलोपस्तु न इति 'अगो-
 पीत्' सिद्धयति ।

१—इस प्रकार हलन्त धातुओं में एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं । २—स्वरत्यादि
 (स्वरति, सूति, सूयति, धूय्) एवं ऊदित धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से
 इट् का आगम होता है । ३—इडादि सिच् परे रहते हलन्त को वृद्धि नहीं होती है ।

झलो झलि ८ । २ । २६ ॥ 'झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि । अगौ-
प्तम् । अगौप्सुः । अगौप्सीः । अगौप्तम् । अगौप्त । अगौप्सम् । अगौप्स्व ।
अगौप्सम् । अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत् । क्षि क्षये । क्षयति ।
चिक्षाय । चिक्षियतुः । चिक्षियुः । 'एकाच' इतीप्निषेधे प्राप्ते—

अगौप्तम्—गुप् धातोलुङि, तस्य तसि, 'तस्थस्थ-०' इति तसस्तामादेशे, 'चिञ्
लुङि' इति च्लौ, तस्य सिचि, अनुबन्धलोपे, 'लुङ्लङ्लृङ्-०' इत्यङगमेऽनुबन्ध-
लोपे, 'स्वरतिसूति-०' इति-इङमावे 'झलो झलि' इति सलोपे, वदन्नज-इति वृद्धौ
तत्सिद्धिः !

गुप् धातोः रूपाणि—

लटि—गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति । गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ । गोपा-
यामि, गोपायावः, गोपायामः । लिटि—गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चक्रतुः, गोपाया-
ञ्चक्रुः । गोपायाञ्चकथं, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार-गोपायाञ्च-
कर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम । एवम्-गोपायामास, गोपायाम्बभूव इत्यादयोऽपि
बोद्ध्याः । आयाभावे—जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः । जुगोपिथ-जुगोप्य, जुगुपथुः, जुगुप ।
जुगोप, जुगुपिव-जुगुप्व, जुगुपिम-जुगुप्म । लुटि—गोपायिता-गोपिता-गोप्ता, गोपा-
यितारौ-गोपितारौ-गोप्तारौ, गोपायितारः-गोपितारः-गोप्तारः । गोपायितासि-
गोपितासि-गोप्तसि, गोपायितास्थः-गोपितास्थः-गोप्तस्थः, गोपायितास्थ-गोपितास्थ-
गोप्तस्थ । गोपायितास्मि-गोपितास्मि-गोप्तस्मि, गोपायितास्वः-गोपितास्वः-
गोप्तस्वः, गोपायितास्मः-गोपितास्मः-गोप्तस्मः । लृटि—गोपायिष्यति-गोपिष्यति-
गोप्स्यति, गोपायिष्यतः-गोपिष्यतः-गोप्स्यतः, गोपायिष्यन्ति-गोपिष्यन्ति-गोप्स्यन्ति ।
गोपायिष्यसि-गोपिष्यसि-गोप्स्यसि, गोपायिष्यथः-गोपिष्यथः-गोप्स्यथः, गोपा-
यिष्यथ-गोपिष्यथ-गोप्स्यथ । गोपायिष्यामि-गोपिष्यामि-गोप्स्यामि, गोपायिष्यावः-
गोपिष्यावः-गोप्स्यावः, गोपायिष्यामः-गोपिष्यामः-गोप्स्यामः । लोटि—गोपायतु-
गोपायतात्, गोपायताम्, गोपायन्तु । गोपाय-गोपायतात्, गोपायतम्, गोपायत ।
गोपायानि, गोपायाव, गोपायाम । लङि—अगोपायत्, अगोपायताम्, अगोपायन् ।
अगोपायः, अगोपायतम्, अगोपायत । अगोपायम्, अगोपायाव, अगोपायाम ।
बिचिलिङि—गोपायेत्, गोपायेताम्, गोपायेयुः । गोपायेः, गोपायेतम्, गोपायेत ।
गोपायेयम्, गोपायेव, गोपायेम । आशीलिङि—गोपाय्यात्-गुप्यात्, गोपाय्यास्ताम्-
गुप्यास्ताम्, गोपाय्यासुः-गुप्यासुः । गोपाय्याः-गुप्याः, गोपाय्यास्तम्-गुप्यास्तम्,

१—झल् परे रहते शल् से परे जा सकार उसका लोप होता है ।

कृसृभृवृस्तुद्भुवो लिटि ७ । २ । १३ ॥ ^१क्रादिभ्य एव लिट् इण्
स्यादन्यस्मादनितोऽपि स्यात् ।

अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७ । २ । ६१ ॥ ^२उपदेशेऽजन्तो यो धातु-
स्तासौ नित्याऽनित् ततस्थल इण् स्यात् ।

उपदेशेऽस्वतः ७ । २ । ६२ ॥ ^३उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्याऽनितः
परस्य थल इण् न स्यात् ।

ऋतो भारद्वाजस्य ७ । २ । ६३ ॥ ^४तासौ नित्याऽनित् ऋदन्तादेव
थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन । तेनाऽन्यस्य स्यादेव ।

अयमत्र सङ् ग्रहः—

"अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनित् थलि वेडयम् ।

ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनित् क्राद्यन्यो लिटि सेङ् भवेत् ॥

गोपाय्यास्त-गुप्यास्त । गोपाय्यासम्-गुप्यासम्, गोपाय्यास्व-गुप्यास्व, गोपाय्यास्म-
गुप्यास्म । लृङि—अगोपायीत्-अगोपीत्-अगोप्सीत्, अगोपायिष्टाम्-अगोपिष्टाम्-
अगोप्ताम्, अगोपायिषुः-अगोपिषुः-अगोप्सुः । अगोपायीः-अगोपीः-अगोप्सीः, अगोपा-
यिष्टम् अगोपिष्टम् अगोप्ताम्, अगोपायिष्ट-अगोपिष्ट-अगोप्ताम् । अगोपायिषम्-अगोपिषम्-
अगोप्ताम्, अगोपायिष्व-अगोपिष्व-अगोप्स्व, अगोपायिष्म-अगोपिष्म-अगोप्स्म ।
लृङि—अगोपायिष्यत्-अगोपिष्यत्-अगोप्स्यत्, अगोपायिष्यताम्-अगोपिष्यताम्-
अगोप्स्यताम्, अगोपायिष्यन्-अगोपिष्यन्-अगोप्स्यन् । अगोपायिष्यः-अगोपिष्यः-
अगोप्स्यः, अगोपायिष्यतम्-अगोपिष्यतम्-अगोप्स्यतम्, अगोपायिष्यत-अगोपिष्यत-
अगोप्स्यत । अगोपायिष्यम्-अगोपिष्यम्-अगोप्स्यम्, अगोपायिष्याव-अगोपिष्याव-

१—क्रादियों से परे ही लिट् को इट् नहीं होता, अन्य अनिट् धातुओं से परे भी लिट्
को इट् होता है । २—उपदेश में जो अजन्त धातु तास् परे नित्य अनिट् हो उससे परे थल्
को नित्य इट् नहीं होता ३—उपदेश में जो अकारवान् धातु, तास् परे नित्य अनिट् हो
उसको थल् परे रहते इट् नहीं होता है । ४—तास् प्रत्यय परे रहते नित्य ही अनिट् जो
ऋदन्त धातु उसीको थल् प्रत्यय परे रहते भारद्वाज के मत से इट् नहीं होता है । अर्थात्
अन्य धातुओं को तो होता ही है । ५—अजन्त जैसे क्षि, जि, नी-इत्यादि अथवा अका-
रवान् जैसे प्रच्छ्, भ्रस्ज्, त्यज्, भस्स् इत्यादि जो धातु वह तास् (अर्थात् लुट् लकार में)
अनिट् हो तब भी उसको थल् में विकल्प से इट् होता है, जो धातु ह्रस्व ऋकारान्त जैसे
हृ, ह्र् अदि जिनको तास् में इट् भी नहीं होता है, उससे थल् में इट् नहीं होता है । (व-मादि
में तो होता ही है) । क्रादि (कृसृभृ आदि) से लिट् में कहीं भी इट् नहीं होता है, कृसृभृ-
सूत्र में पठित धातुओं से भिन्न धातु से लिट् परे रहते इट् होता ही है ।

चिक्षयिथ-चिक्षेथ । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय-चिक्षय । चिक्षि-
यिव । चिक्षियिम । क्षेता । क्षेप्यति । क्षयतु । अक्षयत् । क्षयेत् ।

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७ । ४ । २५ । ^१अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्या-
द्यादौ प्रत्यये परे न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् ।

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७ । २ । १ ॥ ^२इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात्
परस्मैपदपरे सिचि । अक्षेपीत् । अक्षेप्यत् । तप सन्तापे । तपति । तताप ।
तेपतुः । तेपुः । तेपिथ, ततप्य । तेपिव । तेपिम । तप्ता । तप्स्यति । तप-
पतु । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अताप्सीत् । अताप्ताम् । अतप्स्यत् । क्रमु
पादविक्षेपे ।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसिन्नुटिलषः ३ । १ । ७० ॥ ^३एभ्यः
श्यन्वा स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । पक्षे शप् ।

क्रमः परस्मैपदेषु ७ । ३ । ३६ ॥ ^४क्रमेर्दीर्घः स्यात् परस्मैपदे शिति ।
क्राम्यति-क्रामति । चक्राम । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु-क्रामतु ।
अक्राम्यत्-अक्रामत् । क्राम्येत्-क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् ।
पा पाने ।

अगोप्स्याव, अगोपायिष्याम-अगोपिष्याम-अगोप्स्याम ।

चिक्षयिथ—क्षि धातोर्लिटि, तस्य सिचि, तस्य च परस्मैपदानाम्—इति थलि,
अनुबन्धलोपे, लिटि धातोः इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, ततो भारद्वाजमतेन इडागमेऽ-
नुबन्धलोपे 'चिक्षयिथ' इति । मतान्तरे 'अचस्तास्वत्'—इति तन्निषेधे गुणे च
'चिक्षेथ' इति ।

क्राम्यति, क्रामति—पादविक्षेपार्थक-उकारेत्संज्ञक-क्रम् धातोर्लिटि, तस्य तिप्य-
नुबन्धलोपे, 'वा भ्राश-०' इति विकल्पेन श्यनि, 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घे
'क्राम्यति' इति । श्यनोऽभावे 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे, दीर्घे च 'क्रामति'
इति । लोटि, लडि, विधिलडि च समानक्रमः । अनेनेव धातुना 'आक्रमण' शब्द-
स्य निष्पत्तिः ।

१—यकारादि प्रत्यय पर में रहे तो अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है कृत्सार्वधातुक को
छोड़कर । २—परस्मैपद-परक सिच् पर में हो तो इगन्त अङ्ग की वृद्धि होती है । क्रमु-
धातु पैर से चलने अर्थ में । ३—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर में हो तो इन (भ्राश्, भ्लाश्
आदि) धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है । ४—परस्मैपद सम्बन्धी शित् पर में हो तो
क्रम धातु को दीर्घ होता है । पा-धातु पानी, रस आदि के पीने के अर्थ में ।

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्डृश्यति सर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ-
पश्यच्छ्वौशीयसीदाः ७।३।७८ ॥ ^१पादीनां पिवादयः स्युरित्संज्ञकश-
कारादौ प्रत्यये । पिवादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः । पिबति ।

आत औ णलः ७।१।३४ ॥ ^२आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः
स्यात् । पपौ ।

आतो लोप इटि च ६।४।६४ ॥ ^३अजाद्योर्धधातुकयोः—किङ्-
दिटोः परयोरातो लोपः स्यात् । पपतुः । पपुः । पपिथ—पपाथ । पपथुः ।
पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् ।

एलिङि ६।४।६७ ॥ ^४धुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्यादार्ध-
धातुके किति लिङि । पेयात् । गातिस्थेति सिचो लुक् । अपात् । आपाताम् ।

पिबति—पानार्थक 'पा' धातोर्लटि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा-०' इति
'पा' इत्यस्य पिवादेशे, शप्यनुबन्धलोपे 'पिबति' इति ।

अपुः—पा धातोर्लुङि तस्य ति-प्रत्यये, 'लुङ्लङ्-०' इत्यङागमेऽनुबन्धलोपे,
'च्ल लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिच्यनुबन्धलोपे, 'गातिस्था-०' इति
सिचो लुकि, 'आतः' इति झेर्जुंसि, अनुबन्धलोपे, 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे, सस्य
रूपे विसर्गे च 'अपुः' इति ।

'पा' धातोः रूपाणि—

लटि—पिबति, पिबतः, पिबन्ति । पिबसि, पिबथः, पिबथ । पिबामि, पिबावः,
पिबामः । लिटि—पपौ, पपतुः, पपुः । पपिथ—पपाथ, पपथुः, पप । पपौ, पपिव,
पपिम । लुटि—पाता, पातारो, पातारः । पातासि, पातास्थः, पातास्थ । पाता-
स्मि, पातास्वः, पातास्मः । लृटि—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति । पास्यसि,
पास्यथः, पास्यथ । पास्यामि, पास्यावः, पास्यामः । लोटि—पिबतु—पिबतात्,
पिबताम्, पिबन्तु । पिब—पिबतात्, पिबतम्, पिबत । पिबानि, पिबाव, पिबाम ।
लङि—अपिबत्, अपिबताम्, अपिबन् । अपिबः, अपिबतम्, अपिबत । अपिबम्,
अपिबाव, अपिबाम । विधिलिङि—पिबेत्, पिबेताम्, पिबेयुः । पिबेः, पिबेतम्,
पिबेत । पिबेयम्, पिबेव, पिबेव । आशीर्लिङि—पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः । पेयाः,

१—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय पर में रहे तो पा ब्रा आदि धातुओं को पिब, जिघ्र आदि
आदेश होते हैं । २—आदन्त धातु से परे णल् को औकार आदेश होता है । ३—अजादि
कित्, डित् आर्धधातुक इट् परे रहते आकार का लोप होता है । ४—आर्धधातुक कित्,
डित् पर में हो तो धुसंज्ञक एवं मा-स्था आदि धातुओं को एत्व होता है ।

आतः ३ । ४ । ११० ॥ ^१सिज्जुकि आदन्तादेव झेर्जुस् स्यात् ।

उस्यपदान्तात् ६ । १ । ९६ ॥ ^२अपदान्तादकारादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात् । ग्लै हर्षक्षये । ग्लायति ।

आदेच उपदेशेऽशिति ६ । १ । ४५ ॥ ^३उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं स्यान्न तु शिति । जग्लौ । ग्लाता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेतु ।

वाऽन्यस्य संयोगादेः ६ । ४ । ६८ ॥ ^४घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात् एत्वं वा स्यादार्धधातुके किति लिङि । ग्लेयात्—ग्लयात् ।

यमरमनमातां सक् च ७ । ७३ ॥ ^५‘एषां सक् स्यादेभ्यः सिच इट् स्यात्परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् । ह्रवृ कौटिल्ये । ह्वरति ।

पेयास्तम्, पेयास्त । पेयासम्, पेयास्व, पेयास्म । लुङि—अपात्, अपाताम्, अपुः । अपाः, अपातम्, अपात । अपाम्, अपाव, अपाम । लृङि—अपास्यत् अपास्यताम्, अपास्यन् । अपास्यः, अपास्यतम्, अपास्यत । अपास्यम्, अपास्याव, अपास्याम ।

अग्लासीत्—ग्लै धातोलुङि, तस्य तिप्यनुबन्धलोपे, आत्वे, ‘लुङ्लङ्-०’ इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, ‘च्लि लुङि’ इति च्लौ, ‘च्लेः सिच्’ इति सिचि, अनुबन्धलोपे, ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इतीटि, अनुबन्धलोपे ‘यमरमनमातां सक् च’ इति सकि इडागमे च कृते ‘इट ईटि’ इति सलोपे, इत्श्चेति ‘ति’—निष्ठेकारस्य लोपे ‘अग्लासीत्’ इति ।

‘ग्लै’ धातोः रूपाणि—

लटि—ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति । ग्लायसि, ग्लायथः, ग्लायथ । ग्लायामि, ग्लयावाः, ग्लायामः । लिटि—जग्लौ, जग्लतुः, जग्लुः । जग्लथ—जग्लिथ, जग्लथुः, जग्ल । जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम । लुटि—ग्लाता, ग्लातारौ, ग्लातारः । ग्लातासि, ग्लातास्थः, ग्लातास्थ । ग्लातास्मि, ग्लातास्वः, ग्लातास्मः । लृटि—ग्ला-

- १—सिच् का लोप हो जाने पर अकारान्त धातु से ही श्लि के स्थान में जुस् होता है ।
 २—अपदान्त अकार से उस् परे रहते पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है । ग्लै—ग्लानि अर्थ में ३—उपदेश अवस्था में एजन्त जो धातु उसके एच् के स्थान में (आत्व) होता है, शिव परे हो तो नहीं होता है । ४—आर्धधातुक कित्, लिङ् पर में हो तो घु, मा-स्था आदि से भिन्न संयोगादि धातु के आकार को एकार विकल्प से होता है । ५—परस्मैपद में यम्, रम्, नम् एवं आदन्त धातु से सक् का आगम होता है और सिच् से इट् भी होता है । ह्र=टेढा व्यवहार करने में ।

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१० ॥ ^१ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणः स्याल्लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार—जह्वर । जह्वरिख । जह्वरिम । ह्वर्ता ।

ऋद्धनोः स्थे ७।२।७० ॥ ^२ऋतो हन्तेश्च स्यस्येद् स्यात् । ह्वरिष्यति । ह्वरतु । अह्वरत् । ह्वरेत् ।

गुणोत्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९ ॥ ^३अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद्यकि यादावार्धधातुके लिङि च । ह्वर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् । श्रु श्रवणे ।

श्रुवः शृ च ३।१।७४ ॥ ^४श्रुवः शृ इत्यादेशः स्यात् श्नुप्रत्ययश्च । शृणोति ।

सार्वधातुकमपित् १।२।४ ॥ ^५अपित्सविधातुकं ङिद्वत् स्यात् । शृणुतः । हुश्रुवोः सार्वधातुके ६।४।८७ ॥ ^६जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चाऽसंयोगपूर्वावर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि ।

स्यति, ग्लस्यतः ग्लस्यन्ति । ग्लस्यसि, ग्लस्यथः, ग्लस्यथ । ग्लस्यामि, ग्लस्यावः, ग्लस्यामः । लोटि—ग्लायतु, ग्लायताम्, ग्लायन्तु । ग्लाय—ग्लायतात्, ग्लायतम्, ग्लायत । ग्लायानि, ग्लयाव, ग्लायाम । लङि—अग्लायत्, अग्लायताम्, अग्लायन् । अग्लायः, अग्लायतम्, अग्लायत । अग्लायम्, अग्लयाव, अग्लायाम् । विधिलिङि—ग्लयेत्, ग्लयेताम्, ग्लयेयुः । ग्लयेः, ग्लयेतम्, ग्लयेत । ग्लयेयम्, ग्लयेव, ग्लयेम । आशीलिङि—ग्लेयात्—ग्लयात्, ग्लेयास्ताम्—ग्लयास्ताम्, ग्लेयासुः—ग्लयासुः । ग्लेयाः—ग्लयाः, ग्लेयास्तम्—ग्लयास्तम्, ग्लेयास्त—ग्लयास्त । ग्लेयासम्—ग्लयासम्, ग्लेयास्व—ग्लयास्व, ग्लेयास्म—ग्लयास्म । लुङि—अग्लसीत्, अग्लसिष्टाम्, अग्लसिष्णुः । अग्लसीः, अग्लसिष्टम्, अग्लसिष्ट । अग्लसिष्म, अग्लसिष्ण्व, अग्लसिष्म । लृङि—अग्लस्यत् अग्लस्यताम्, अग्लस्यन् । अग्लस्यः, अग्लस्यतम्, अग्लस्यत । अग्लस्यम्, अग्लस्याव, अग्लस्याम ।

१—लिट् परे रहते ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण होता है । २—ऋदन्त धातु एवं हन् धातु से परे 'स्य' को इट् का आगम होता है । ३—यक् या यकारादि आर्धधातुक लिङ् पर में हो तो 'ऋ' एवं संयोगान्त ऋदन्त धातु से गुण होता है । श्रु=सुनने में । ४—श्रुके स्थान में 'शृ' आदेश और श्नु प्रत्यय भी होता है । ५—पित् से भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् (ङित् के समान) होता है । ६—अजादि सार्वधातुक पर में हो तो 'हु' धातु एवं श्नु-

लोपश्चास्यान्यतरस्यां भ्रुवोः ६ । ४ । १०७ ॥ ^१असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययो-
कारस्य लोपो वा स्यात् भ्रुवोः परयोः । भ्रुण्वः-भ्रुणुवः । भ्रुण्मः-भ्रुणुमः ।
शुश्राव । शुश्रुवतुः । शुश्रुवुः । शुश्रोथ । शुश्रुवथुः । शुश्रुव । शुश्राव-शुश्रव ।
शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । भ्रुणोतु-भ्रुणुतात् । भ्रुणुताम् ।
भ्रुण्वन्तु ।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६ । ४ । १०६ ॥ ^२असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययो-
कारस्तदन्ताद्भ्रुवात्परस्य हेर्लुक् स्यात् । भ्रुणु-भ्रुणुतात् । भ्रुणुतम् । भ्रुणुत ।
गुणाज्वादेशौ । भ्रुणवानि । भ्रुणवाव । भ्रुणवाम । अभ्रुणोत् । अभ्रुणु-
ताम् । अभ्रुण्वन् । अभ्रुणोः । अभ्रुणुतम् । अभ्रुणुत । अभ्रुणवम् ।
अभ्रुण्व-अभ्रुणुव । अभ्रुण्म-अभ्रुणुम । भ्रुणुयात् । भ्रुणुयाताम् । भ्रुणुयुः ।

भ्रुण्वः-भ्रुणुवः—भ्रु धातोर्लटि तस्य 'तिसस्-' इति वसादेशे, 'भ्रुवः भ्रु च'
इति भ्रुवः 'भ्रु' आदेशे, इतु-प्रत्यये च, 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां भ्रुवोः' इति विकल्पे-
नोकारलोपे 'भ्रुण्वः' इति । लोपामावे 'भ्रुणुवः' इति ।

भ्रुणु—भ्रु धातोर्लटि, तस्य तिसस्-इति सिपि, 'भ्रुवः भ्रु च' इति भ्रु आदेशे
इतु प्रत्यये च कृते 'सेर्हपिच्च' इति सेर्हादेशे, 'उतश्च प्रत्ययाद-संयोगपूर्वात्' इति
हेर्लुकि 'भ्रुणु' इति ।

'भ्रु' धातोः रूपाणि—

लटि—भ्रुणोति, भ्रुणुतः, भ्रुण्वन्ति । भ्रुणोषि, भ्रुणुथः, भ्रुणुथ । भ्रुणोमि,
भ्रुण्वः-भ्रुणुवः, भ्रुण्मः-भ्रुणुमः । लिटि—शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः । शुश्रोथ,
शुश्रुवथुः, शुश्रुव । शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम । लृटि—श्रोता, श्रोतारौ,
श्रोतारः । श्रोतासि, श्रोतास्थः, श्रोतास्थ । श्रोतास्मि, श्रोतास्वः, श्रोतास्मः ।
लृटि—श्रोष्यति, श्रोष्यतः, श्रोष्यन्ति । श्रोष्यसि, श्रोष्यथः, श्रोष्यथ । श्रोष्यामि,
श्रोष्यावः, श्रोष्यामः । लोटि—भ्रुणोतु-भ्रुणुतात्, भ्रुणुताम्, भ्रुण्वन्तु । भ्रुणु-भ्रुणुतात्,
भ्रुणुतम्, भ्रुणुत । भ्रुणवानि, भ्रुणवाव-भ्रुणवाम । लङि—अभ्रुणोत्, अभ्रुणुताम्,
अभ्रुण्वन् । अभ्रुणोः, अभ्रुणुतम्, अभ्रुणुत । अभ्रुणवम्, अभ्रुणुव-अभ्रुण्व, अभ्रुण्म-
अभ्रुणुम । विधिलिङि—भ्रुणुयात्, भ्रुणुयाताम्, भ्रुणुयुः । भ्रुणुयाः, भ्रुणुयातम्,

प्रत्ययान्त जो अनेकाच् अङ्ग तदवयव असंयोगपूर्वक उवर्ण को यण् आदेश होता है ।

१—म (मकार) या व (वकार) प्रत्यय पर भेँ रहे तो असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकार
का लोप विकल्प से होता है । २—असंयोगपूर्वक प्रत्यय के उकारान्त अंग से परे जो 'हि'
उसका लोप होता है ।

शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम ।
श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् । गच्छृ गती ।

इषुगमियमां छः ७ । ३ । ७७ ॥ ^१एषां छः स्यात्-शिति । गच्छति ।
जगाम ।

गमहनजनखनघसां लोपः किडित्यनडिः ६ । ४ । ९८ ॥ ^२एषामुपधाया
लोपः स्यादजादौ किडिति न त्वडिः । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ ।
जग्मथुः । जग्म । जगाम-जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता ।

गमेरिट् परस्मैपदेषु ७ । २ । ५८ ॥ ^३गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येड्
स्यात् परस्मैपदेषु । गामप्यति । गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् ।

शृणुयात । शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम । आशीर्लिङि—श्रूयात्, श्रूयास्ताम्,
श्रूयासुः । श्रूयाः, श्रूयास्तम्, श्रूयास्त । श्रूयासम्, श्रूयास्व, श्रूयास्म ।
लुङि—अश्रौषीत्, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः । अश्रौषीः, अश्रौष्टम्, अश्रौष्ट । अश्रौषम्,
अश्रौष्व, अश्रौष्म । लृङि—अश्रोष्यत्, अश्रोष्यताम्, अश्रोष्यन् । अश्रोष्यः, अश्रो-
ष्यतम्, अश्रोष्यत । अश्रोष्यम्, अश्रोष्याव, अश्रोष्याम ।

गच्छति—गम् धातोर्लिङि तस्य तिपि, अनुबन्धलोपे शपि, अनुबन्धलोपे, 'इषु-
गमि-०' इति छादेशे, ततः 'छे च' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे, रचुत्वे 'गच्छति' इति ।

जग्मतुः—लृकारेत्संज्ञक-गम् धातोर्लिङि, तस्य तसादेशे, तस्य च 'परस्मैपदा-
नाम्-०' इति अतुसि, 'लिङि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे, 'गम्-गम् अतुस्'
इति स्थितेऽभ्यासादिकार्ये, 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जकारे, गमहनजन-इति-
उपधाकारस्य लोपे, सस्य रत्वे विसर्गे च 'जग्मतुः' इति ।

'गम्' धातो रूपाणि—

लिटि—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । गच्छसि, गच्छथः, गच्छथ । गच्छामि,
गच्छावः, गच्छामः । लिटि—जगाम, जग्मतुः, जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म ।
जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम । लुटि—गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः । गन्तासि, गन्ता-
स्थः । गन्तास्थ । गन्तास्मि, गन्तास्वः, गन्तास्मः । लृटि—गमिष्यति, गमिष्यतः, गमि-
ष्यन्ति । गमिष्यसि, गमिष्यथः, गमिष्यथ । गमिष्यामि, गमिष्यावः, गमिष्यामः ।

१—शित् पर में रहे तो इष्, गम्, यम्-धातुओं को 'छ' आदेश होता है । २—अजादि
किट्, डित् प्रत्यय पर में रहे तो गम, हन्, जन्, खन् और घस् की उपधा का लोप होता है,
अड् पर में हो तो नहीं होता है । ३—परस्मैपद में गम् धातु से परे सादि आर्धधातुक को
इट् का आगम होता है ।

पुषादिद्युतादलृदितः परस्मैपदेषु ३ । १ । ५५ ॥ १श्यन्विकरणपुषा-
देर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु । अगमत् । अगमिष्यत् ।
॥ इति परस्मैपदिनः ॥

अथात्मनेपदिनः ।

एध वृद्धौ ।

दित आत्मनेपदानां टेरे ३ । ४ । ७९ ॥ ४टितो लस्यात्मने पदानां
टेरेत्वं स्यात् । एधते ।

आतो डितः ७ । २ । ८१ ॥ ३अतः परस्य डितामाकारस्य इय् स्यात् ।
एधेते । एधन्ते ।

थासः से ३ । ४ । ८० ॥ ४टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे ।
एधेथे । एधध्वे । अतो गुणे । एधे । एधावहे । एधामहे ।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३ । १ । ३६ ॥ ५इजादिर्यो धातुर्गुरुमान्
ऋच्छत्यन्तस्तत आम् स्याल्लिटि ।

लोटि—गच्छतु—गच्छतात्, गच्छताम्, गच्छन्तु । गच्छ-गच्छतात्, गच्छतम्,
गच्छत । गच्छानि, गच्छाव, गच्छाम । लङि—अगच्छत्, अगच्छताम्, अगच्छन् ।
अगच्छः, अगच्छतम्, अगच्छत । अगच्छम्, अगच्छाव, अगच्छाम । विधिलिङि—
गच्छेत्, गच्छेताम्, गच्छेयुः । गच्छेः, गच्छेतम्, गच्छेत । गच्छेयम्, गच्छेव,
गच्छेम । आशीलिङि—गम्यात्, गम्यास्ताम्, गम्यासुः । गम्याः, गम्यास्तम्,
गम्यास्त । गम्यासम्, गम्यास्व, गम्यास्म । लृङि—अगमत्, अगमताम्, अग-
मन् । अगमः, अगमतम्, अगमत । अगमम्, अगमाव, अगमाव । लृङि—अगमि-
ष्यत्, अगमिष्यताम्, अगमिष्यन् । अगमिष्यः, अगमिष्यतम्, अगमिष्यत । अग-
मिष्यम्, अगमिष्याव, अगमिष्याम ।

१—परस्मैपद में इयन् विकरण पुषादि, द्युतादि तथा लृदित् धातुओं से परे च्लि को 'अङ्'
आदेश होता है । इति परस्मैपदिनः । एध=वृद्धि-बढ़ने में । २—टकार इत्तंशक लकार
सम्बन्धी आत्मनेपदके टि को एत्व होता है । ३—अत् से परे डित्सम्बन्धी आकार को इय्
आदेश होता है । ४—टित् लकार के स्थान में जो 'धास्' उसको 'से' आदेश होता है ।
५—ऋच्छ् धातु से भिन्न जो गुरुमान् (गुरु) इजादि धातु उससे आम् होता है लिट्
पर रहते । (बहुव्रीहि समास के दो भेद होते हैं । तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि, अतद्गुण
संविज्ञान बहुव्रीहि । जैसे—'लम्बकर्णमानय' यह प्रथम का उदाहरण है । 'दृष्टसागरमानय'
यह द्वितीय का) 'आम्प्रत्ययवत्' भी द्वितीय का उदाहरण है उसी को बताते हैं कि—

आम्प्रत्ययवत्कृजोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३ ॥ ^१आम्प्रत्ययो यस्मादित्यत-
द्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । ^२आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृजोऽप्या-
त्मने पदं स्यात् ।

लिटस्तज्ञयोरेशिरेच् ३।४।८१ ॥ ^३लिडादेशयोस्तज्ञयोरेश् इरेजि-
त्येतावादेशौ स्तः । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे ।
एधाञ्चक्राथे ।

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८।३।७८ ॥ ^४इणन्तादङ्गात्परेषां
पीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात् । एधाञ्चकृद्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे ।
एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास । एधिता । एधितारी । एधितारः ।
एधितासे । एधितासाथे ।

धि च ८।२।२५ ॥ ^५धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः स्यात् । एधि-
ताध्वे ।

एधाञ्चके—एध् धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति-आमि, 'धासः'
इति लिटो लुकि, 'एध् आम्' इति स्थिते, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परक-
कृजोऽनुप्रयोगे, 'लिटस्तज्ञयोरेशिरेच्' इति-एशि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरन-
भ्यासस्य' इति 'कृ' इत्यस्य द्वित्वे 'उरत्' इति-अत्वे रपरे च कृते, हलादिशेषे,
'एध् आम् क कृ ए' इति जाते, 'कुहोश्चुः' इति पूर्वककारस्य चकारे, अनुस्वारे,
परसवर्णे, यणि च कृते 'एधाञ्चक्रे' इति ।

एधाञ्चकृद्वे—'एध् धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतो—' इत्यामि, आमः इति
लिटो लुकि, 'कृञ्चानु—' इति लिट्परककृजोऽनुप्रयोगे, कृजो नित्वाद्बुभयपदे प्राप्ते,
'आम्प्रत्ययवत्कृजोऽनुप्रयोगस्य' इति नियमेन लिटः स्थाने आत्मनेपदसंज्ञक ध्वमा-
देशे, 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति
टेरेत्वे, 'इणः षीध्वम्—' इति धस्य ढकारे, मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते
'एधाञ्चकृद्वे' इति ।

१—आम्-प्रत्यय हो जिसमें ऐना अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि (यहाँ जानना चाहिये)
है । २—आम् प्रकृतिक (एधादि धातु) के तुल्य अनु (पश्चात्) प्रयुज्यमान (प्रयोग
क्रिये जाने वाले) कृञ् से भी आत्मनेपद होता है । ३—लिट् के स्थान में आदेशरूपी 'त'
को 'एश्' एवं 'श्' को इरेच् आदेश होते हैं । ४—इण्-अन्त अङ्ग से परे षी ध्वम् तथा लुङ्
लिट् सम्बन्धी धकार को ढकार होता है । ५—धकारादि प्रत्यय पर में हो तो सकार का
लोप होता है ।

ह एति ७ । ४ । ५२ ॥ ^१तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे । एधि-
ताहे । एधितास्वहे । एधिस्तास्महे । एधिष्यते । एधिष्येते । एधिष्यन्ते ।
एधिष्यसे । एधिष्येथे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे ।

आमेतः ३ । ४ । ९० ॥ ^२लोट एकारस्य आम् स्यात् । एधताम् ।
एधेताम् । एधन्ताम् ।

सवाभ्यां वाऽमौ ३ । ४ । ९१ ॥ ^३सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रामाद्वाऽमौ
स्तः । एधस्व । एधेथाम् । एधध्वम् ।

एत ए ३ । ४ । ९३ ॥ ^४लोडुत्तमस्य एत ए स्यात् । एधै । एधावहै ।
एधामहै । आटश्च । एधत । एधेताम् । एधन्त । एधथाः । एधेथाम् । एध-
व्वम् । एधे । एधावहि । एधामहि ।

लिङः सीयुट् ३ । ४ । १०२ ॥ [^५लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादा-
त्मनेपदे] । सलोपः । एधेत । एधेयाताम् ।

झस्य रन् ३ । ४ । १०५ ॥ ^६लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः ।
एधेयाथाम् । एधेध्वम् ।

इटोऽन् ३ । ४ । १०६ ॥ ^७लिङादेशस्य इटोऽस्यात् । एधेय । एधेवहि ।
एधेमहि ।

सुट् तिथोः ३ । ४ । १०७ ॥ ^८लिङस्तकारथकारयोः सुट् स्यात् ।
यलोपः । आर्धधातुकत्वात्सलोपो न । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधि-
षीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषी-
वहि । एधिषीमहि । एधिष्ट । एधिषाताम् ।

एधस्व—एध् धातोर्लोटि, तस्य थास् प्रत्यये, तस्य च 'थासः से' इति 'से'
आदेशे, 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे, 'सवाभ्यां वामौ' इति एकारस्य
वकारे 'एधस्व' इति ;

एधे—एध् धातोर्लोटि तस्य-इडादेशेऽनुबन्धलोपे, 'कर्तरि शप्' इति शपि

१—एकार पर में रहे तो तास् प्रत्यय और अस् धातु सम्बन्धी 'स' को 'ह' आदेश होता
है । २—लोट् सम्बन्धी एकार को आम् आदेश होता है । ३—सकार, वकार से परे लोट्
सम्बन्धी एकार को क्रम से व और म आदेश होता है । ४—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के
एकार को ऐकार होता है । ५—लिङ् से सीयुट् का आगम होता है आत्मनेपद में । ६—लिङ्
सम्बन्धी 'श' के स्थान में 'रन्' होता है । ७—लिङादेश इट् को अट् आदेश होता है ।

८—लिङ् सम्बन्धी तकार, थकार से सुट् का आगम होता है ।

आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५॥ ^१अकारात्परस्यात्मनेपदेषु झस्य
अदित्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः। ऐधिषाथाम्। ऐधिद्वम्।
ऐधिषि। ऐधिष्वहि। ऐधिष्महि। ऐधिष्यत। ऐधिष्येताम्। ऐधिष्यन्त।
ऐधिष्यथाः। ऐधिष्येथाम्। ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये। ऐधिष्यावहि। ऐधिष्या-
महि। कमु कान्तौ।

कर्मेणिङ् ३।१।३०॥ ^२कर्मेणिङ् स्यात्स्वार्थे। डित्त्वात्तङ्। कामयते।

अयामन्ताल्वाय्येत्स्विष्णुषु ६।४।५५॥ ^३आम् अन्त आलु आय्य
इत्नु इष्णु-एषु णेरयादेशः स्यात्। कामयाञ्चक्रे। आयादय इति णिङ् वा।
चकमे। चकमाते। चकमिरे। चकमिषे। चकमाथे। चकमिध्वे। चकमे।
चकमिवहे। चकमिमहे। कामयिता-कमिता। कामयितासे। कामयिष्यते,
कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत्। कामयिषीष्ट।

विभाषेटः ८।३।७९॥ ^४इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्-
लिटां धस्य वा ढः स्यात्। कामयिषीद्वम्, कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट।
कमिषीध्वम्।

णिश्रिद्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३।१।४८॥ ^५प्यन्तात् श्रधादिभिश्च
च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'अ कामि अ त' इति स्थिते—

णेरनिटि ६।४।५१॥ ^६अनिडादावार्धधातुके परे णेलोपः स्यात्।

अनुबन्धलोपे, 'टित आत्मने-०' इति टेरेत्वे, 'एत ऐ' इति एकारस्य—एकारे,
वृद्धौ च 'एधै' इति।

ऐधिद्वम्-एध् धातोलुङि तस्य 'तिसस्-०' इति ध्वमि, 'चिल लुङि' इति च्लौ,
'च्लेः सिच्' इति सिचि अनुबन्धलोपे, 'आडजादीनाम्' इति आटि, 'आटश्च' इति
वृद्धौ, 'आर्धधातुक-०' इतीटि, 'धि च' इति सस्य लोपे, 'इणः षीध्वम्-०' इति
धस्य ढकारे 'ऐधिद्वम्' इति।

१—अकार से परे नहीं हो ऐसा जा 'झ' उसके स्थान में अत् आदेश होता है। कमु=
इच्छा करने अर्थ में। २—स्वार्थ में कम् धातु से णिङ् प्रत्यय होता है। ३—आम्, अन्त,
आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु आदि प्रत्यय परे रहते 'णि' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है।
४—इण् से परे जो इट् उससे परे षीध्वं या लुङ् लिट् सन्बन्धी धकार उसको ढकार विकल्प
से होता है। ५—कर्त्रर्थक लुङ् पर में हो तो प्यन्त से तथा श्रि, द्रु, सु धातुओं से परे
चिल को चङ् आदेश होता है। ६—जिसके पहले इट् न हो ऐसा आर्धधातुक पर में हो
तो णि का लोप होता है।

णौ चङ्चुपधाया ह्रस्वः ७।४।१ ॥ ^१चङ् परे णौ यदङ्गं तस्यो-
पधाया ह्रस्वः स्यात् ।

चङि ६।१।११ ॥ ^२चङि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य
द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य ।

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे ७।४।१३ ॥ ^३चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य
योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावगलोपेऽसति ।

सन्वतः ७।४।७९ ॥ ^४अभ्यासस्याऽत इत् स्यात् सनि ।

दीर्घो लघोः ७।४।९४ ॥ ^५लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भाव-
विषये । अचीकमत । णिङ्भावपक्षे—^६कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः । अचकमत ।
अकामयिष्यत—अकमिष्यत । अय गतौ । अयते ।

अचीकमत—लुसानुबन्धक—इच्छार्थक—‘कम्’ इत्यस्मात् ‘आयादय आर्धधातुके
वा’ इति नियमेन ‘कमेणिङ्’ इति वैकल्पिके णिङि, ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ,
‘कामि’ इत्यस्य ‘सनाद्यन्ताः—’ इति धातुत्वेन लुङि, तस्य ‘त’ आदेशे, लुङ्लङ्-
इत्यङ्गमेऽनुबन्धलोपे, ‘च्लि लुङि’ इति च्लौ, ‘णिङ्शिद्रुस्तुभ्यः—०’ इति चङि,
अनुबन्धलोपे, ‘णेरनिटि’ इति—इकारलोपे, ‘णौ चङ्चुपधायाः—०’ इति उपधा-
ह्रस्वे, ‘चङि’ इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, ‘सन्वल्लघुनि—’ इति सन्वद्भावे, ‘सन्वतः’
इतीत्वे, ‘दीर्घो लघोः’ इति दीर्घे ‘अचीकमत’ इति ।

‘कम्’ धातोः रुपाणि—

लटि—कामयते, कामयेते, कामयन्ते । कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे । कामये,
कामयावहे, कामयामहे । लि.ट—कामयाञ्चक्रे—चकमे, कामयाञ्चक्राते—चकमाते, काम-
याञ्चक्रिरे—चकमिरे । कामयाञ्चकृषे—चकमिषे, कामयाञ्चक्राथे—चकमाथे, कामया-
ञ्चकृध्वे—चकमिध्वे । कामयाञ्चक्रे—चकमे, कामयाञ्चकृवहे—चकमिवहे, कामयाञ्च-
कृमहे—चकमिमहे । लुटि—कामयिता—कमिता, कामयितारौ—कमितारौ, कामयितारः—

१—चङ्परक णि पर में हो तो अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है । २—चङ् पर
रहे तो अभ्यास से भिन्न जो धातु का अवयव प्रथम एकाच् उसको द्वित्व होता है और अजादि
धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । ३—णि परे रहते यदि अक् का लोप न हुआ हो
तो चङ्परक णि परे जो अङ्ग, उसका जो लघुपरक अभ्यास, उसको सन्वद्भाव (सन् की
तरह कार्य) होता है । ४—सन् पर में हो तो अभ्यास के ‘अकार’ को ‘इकार’ होता है ।
५—सन्वद्भाव के विषय में लघु अभ्यास को दीर्घ होता है । ६—कम् धातु से परे च्लि को
चङ् आदेश होता है ।

उपसर्गस्याज्यतौ ८।२।१९ ॥ ^१अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लृत्वं स्यात् । प्लायते । पलायते ।

दयायासञ्च ३।१।३७ ॥ ^२दय् अय् आस् एभ्य आम् स्याल्लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अयताम् । आयत । अयेत । अयिषीष्ट । विभाषेटः । अयिषीद्वम्—अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिद्वम्—आयिध्वम् । आयिष्यत ॥ द्युत दीप्ती । द्योतते ।

द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७।४।६७ ॥ ^३अनयोरभ्यासस्य संप्रसारणं स्यात् । दिद्युते ।

कमितारः । कामयितासे-कमितासे, कामयितासाथे-कमितासाथे, कामयिताध्वे-कमिताध्वे । कामयिताहे-कमिताहे, कामयितास्वहे-कमितास्वहे, कामयितास्महे-कमितास्महे । लृटि—कामयिष्यते-कमिष्यते, कामयिष्येते-कमिष्येते, कामयिष्यन्ते-कमिष्यन्ते । कामयिष्यसे-कमिष्यसे, कामयिष्येथे-कमिष्येथे, कामयिष्यध्वे-कमिष्यध्वे । कामयिष्ये-कमिष्ये, कामयिष्यावहे-कमिष्यावहे, कामयिष्यामहे-कमिष्यामहे । लोटि—कामयताम्, कामयेताम्, कामयन्ताम् । कामयस्व, कामयेथाम्, कामयध्वम् । कामयै, कामयावहे, कामयामहे । लडि—अकामयत, अकामयेताम्, अकामयन्त । अकामयथाः, अकामयेथाम्, अकामयध्वम् । अकामये, अकामयावहि, अकामयामहि । विधिलिङि—कामयेत, कामयेयाताम्, कामयेरन् । कामयेथाः, कामयेयाथाम्, कामयेध्वम् । कामयेय, कामयेवहि, कामयेमहि । आशीर्लिङि—कामयिषीष्ट-कमिषीष्ट, कामयिषीयास्ताम्-कमिषीयास्ताम्, कामयिषीरन्-कमिषीरन् । कामयिषीष्ठाः-कमिषीष्ठाः, कामयिषीयास्थाम्-कमिषीयास्थाम्, कामयिषीद्वम्-कामयिषीध्वम्-कमिषीध्वम् । कामयिषीय-कमिषीय, कामयिषीवहि-कमिषीवहि, कामयिषीमहि-कमिषीमहि । लुङि—अचीकमत-अचकमत, अचीकमेताम्-अचकमेताम्, अचीकमन्त-अचकमन्त । अचीकमथाः-अचकमथाः, अचीकमेथाम्-अचकमेथाम्, अचीकमध्वम्-अचकमध्वम् । अचोकमे-अचकमे, अचीकमावहि-अचकमावहि, अचीकमामहि-अचकमामहि । लृङि—अकामयिष्यत-अकमिष्यत, अकामयिष्येताम्-अकमिष्येताम्, अकामयिष्यन्त-अकमिष्यन्त । अकामयिष्यथाः-अकमिष्यथाः, अकामयिष्येथाम्-अकमिष्येथाम्, अकामयिष्यध्वम्-अकमिष्यध्वम् । अकामयिष्ये-अकमिष्ये,

१-अय् धातु हो पर में जिसके ऐसे उपसर्ग के रेफ का लकार होता है । २-लिट् परे रहते दय् अय् आस् धातुओं से आम् होता है । ३-द्युत् एवं स्वप् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है ।

द्युद्भ्यो लुङि १ । ३ । ९१ ॥ ^१द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात् ।
पुषादीत्यङ् । अद्युतत्-अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवम् शिवता वर्णे । जिमिदा
स्नेहने । जिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । जिष्विदा चेत्येके ।
रुच दीप्तावभिप्रीतौ च । घुट परिवर्तने । शुभ दीप्तौ । क्षुभ सञ्चलने ।
णभ तुभ हिंसायाम् । संसु ध्वंसु भंसु अवसंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु
विश्वासे । वृतु वर्त्तने । वर्त्तते । ववृते । वर्तिता ।

वृद्भ्यः स्यसनोः १ । ३ । ९२ ॥ ^२वृतादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्मैपदं वा
स्यात्स्ये सनि च ।

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७ । २ । ५९ ॥ ^३वृतुवृधुशृधुस्यन्दूभ्यः सकारादेरार्ध-
धातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे । वत्स्यति-वर्तिष्यते । वर्तताम् । अव-
र्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट । अवर्तिष्ट । अवत्स्यत्-अवर्तिष्यत । दद दाने । ददते ।

न शसददवादिगुणानाम् ६ । ४ । १२६ ॥ ^४शसेर्ददेर्वकारादीनां गुण-
शब्देन विहितश्च योऽकारस्तस्य एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः । दददे । दददाते ।
दददिरे । ददिता । ददिष्यते । ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अद-
दिष्ट । अददिष्यत । त्रपूष् लज्जायाम् । त्रपते ।

तृफलभजत्रपश्च ६ । ४ । १२२ ॥ ^५एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात्
किति लिटि सेटि थलि च । त्रेपे । त्रपिता, त्रसा । त्रपिष्यते, त्रप्स्यते ।

षकामयिष्यावहि-अकमिष्यावहि, अकामयिष्यामहि-अकमिष्यामहि ।

वत्स्यति—उकारेत्संज्ञक वृत्-धातोलुटि, अनुबन्धलोपे, 'स्यतासौ लृलुटोः' इति
स्यप्रत्यये, आर्धधातुकस्येड् वलादेरिति प्राप्तस्येटो 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति निषेधे,
'पुगन्तलधूपधस्य च' इति गुणे, 'उरत्' इति रपरे च कृते 'वत्स्यति' इति । आत्मने-
पदप्रयोगे तु इड् भवत्येव, तेन 'वर्तिष्यते' इति ।

१—द्युतादि से परे लुङ् को परस्मैपद विकल्प से होता है । रुच=प्रकाश तथा मन को
अच्छा लगाना । घुट=एक ही पदार्थ का बारम्बार घर्षण करना । क्षुभ=अपने स्वभाव से विरुद्ध
व्यापार करना, जैसे क्षुब्ध व्याकुल । यह लोकप्रसिद्ध है । संस, भंस, ध्वंस=नीचे गिरना । वृत्
=सत्ता । २—स्य या सन् प्रत्यय पर में रहे तो वृत्-आदि पाँच धातुओं से परस्मैपद विकल्प से
होता है । ३—तङ् और आन से भिन्न स्थल में वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द धातुओं से परे सका-
रादि आर्धधातुक से इट् का आगम नहीं होता है । दद=दान, देने अर्थ में । ४—शस्-दद
एवं वकारादि धातुओं एवं गुण शब्द से किया गया जो अकार उसको एत्व तथा अभ्यास-
लोप कार्य नहीं होते हैं । त्रप=लज्जा अर्थ में । ५—कित् लिट् एवं इट् सहित थल् परे हो तो तृ,

त्रपताम् । अत्रपत । त्रपेत । त्रपिपीष्ट, त्रप्सीष्ट । अत्रपिष्ट, अत्रप्त । अत्र-
पिष्यत्, अत्रप्स्यत् ।

॥ इत्यात्मनेपदिनः ॥

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम् । श्रयति-श्रयते । शिश्राय-शिश्रिये । श्रयिता । श्रयिष्यति-
श्रयिष्यते । श्रयतु, श्रयताम् । अश्रयत्-अश्रयत । श्रयेत्-श्रयेत । श्रीयत्-
श्रयिपीष्ट । चङ् । अशिश्रियत्, अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत ।

भृञ् भरणे । भरति, भरते । वभार । वभ्रतुः । वभ्रुः । वभर्थ । वभृव ।
वभ्रम । वभ्रे । वभृषे । भर्तासि, भर्तसि । भरिष्यति, भरिष्यते । भरतु,
भरताम् । अभरत्, अभरत । भरेत्, भरेत ।

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७ । ४ । २८ ॥ ^१शे यकि यादावाधंधातुके लिङि
च ऋतो रिङादेशः स्यात् । रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद्दीर्घो न ।
श्रियात् ।

उच्च १ । २ । १२ ॥ ^२ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि ।
भृषीष्ट । भृषीयास्ताम् । भृषीरन् । अभर्षीत् । अभर्षीम् । अभर्षुः ।
अभर्षीः । अभर्षीम् । अभर्षीम् । अभर्षम् । अभर्ष्व । अभर्षम् ।

ह्रस्वादङ्गात् ८ । २ । २७ ॥ ^३सिचो लोपः स्याज्झलि । अभृत ।
अभृषाताम् । अभरिष्यत्, अभरिष्यत । हृञ् हरणे । हरति, हरते । जहार,

अशि.श्रयत्—श्रियो लुङि, तस्य तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'णिश्रिद्रुसुभ्यः
कर्तरि चङ्' इति च्लेशङि, अनुबन्धलोपे, 'चङि' इति 'श्रि' इत्यस्य द्वित्वे,
अभ्यासादिकार्थे, 'लुङलङ्-०' इति अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'अचिश्नुधातु-०' इत्या-
दिना-इयङि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'अशिश्रियत्' इति ।

जहार—हरणार्थक हृधातोर्लिङि, तस्य तिपि, 'परस्मैपदानाम्'-०

फल, भज, त्रप धातुओं के अकार को एत्व एवं अभ्यासलोप होता है । इत्यात्मनेपदिनः ।
श्रिञ्=सेवा अर्थ में । भृञ्=भरण पोषण अर्थ में ।

१—शकार यक् एवं यकारादि अर्धधातुक लिङ् पर में हो तो ऋकार को रिङ् आदेश
होता है । २—आत्मनेपद में, झलादि लिङ् और सिच्, कित् संज्ञक होते हैं । ३—झल् पर में
हो तो ह्रस्वान्त अङ्ग से परे जो सिच् उसका लोप होता है । हृञ्=चोरी-डोका अर्थ में ।

जह् । जहृथं । जह्लिव । जह्लिम । जह्लिषे । हर्तासि, हर्तासि । हरिष्यति, हरिष्यते । हरतु, हरताम् । अहरत्, अहरत । हरेत्, हरेत । ह्रियात्, ह्रिषीष्ट । ह्रिषीयास्ताम् । अहार्षीत्, अहत । अहरिष्यत्, अहरिष्यत ।

धृञ् धारणे । धरति, धरते । णीञ् प्रापणे । नयति । नयते । डुपचष्पाके । पचति, पचते । पपाच । पेचिथ, पपकथ । पक्तासि, पक्तासे ।

भज सेवायाम् । भजति, भजते । वभाज, भजे । भक्तासि, भक्तासे । भक्ष्यति, भक्ष्यते । अभाक्षीत्, अभक्त । अभक्षाताम् । यज देवपूजासङ्गति-करणदानेषु । यजति, यजते ।

लिट् च भ्यासस्यो भयेषाम् ६ । १ । १७ ॥ वच्चादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्यात् लिटि । इयाज ।

वचिस्वपियजादीनां किति ६ । १ । १५ ॥ वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ, इयष्ट । ईजे । यष्टा ।

इति णत्यनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, पूर्वोऽभ्यासे 'उरत्' इति ऋवर्गस्याकारे रपरे च कृते, 'ह्लादिः शेषः' इति हल्लोपे, 'कुहोथुः' इत्यभ्यास-हकारस्य झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति चत्वे, 'अचो ङिति' इति वृद्धौ रपरे च कृते 'जहार' इति ।

इयाज—यञ् धातोः परोक्षे लिटि, तस्य स्थाने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे ह्लादिशेषे च कृते, 'लिट् च भ्यासस्यो भयेषाम्' इत्यभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे, 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ कृते 'इयाज' इति ।

ईजतुः—यञ् धातोर्लिटि तस्य तसि, तसोऽनुसि च कृते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे प्राप्ते 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' इति न्यायेन पूर्वं 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते, द्वित्वाभ्यासादिकार्ये, सवर्णदीर्घे, सस्य ह्रत्वे विसर्गे च 'ईजतुः' इति ।

धृञ्=धारण करने अर्थ में । णीञ्=ले जाने, होने अर्थ में । पच=पकाने, रसोई आदि बनाने अर्थ में । भज=सेवा करने में ।

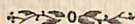
१—यज=पूजा, सत्सङ्गति करना, दान देना । २—लिट् लकार पर में हो तो वच्चादि और ग्रह्यादि धातुओं के अभ्यास का सम्प्रसारण होता है । ३—किंत् परे रहते वच्, स्वप् और ङ् जादि धातुओंको सम्प्रसारण होता है ।

षढोः कः सि ८।२।४१ ॥ ^१षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे ।
यक्ष्यति, यक्ष्यते । इज्यात्, यक्षीष्ट । अयाक्षीत्, अयष्ट । वह प्रापणे । वहति,
वहते । उवाह । ऊहतुः । ऊहुः । उवहित्थ ।

झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४० ॥ ^२झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः ।
ढो ढे लोपः ८।३।१३ ॥ ^३[ढस्य लोपः स्याड्ढे परे] ।

सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२ ॥ ^४अनयोरवर्णस्य ओत्स्याड्ढ-
लोपे । उवोढ । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः ।
अवाक्षीः । अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ ।
अवक्षाताम् । अवक्षत । अवोढाः । अवक्षाथाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि ।
अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि ।

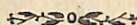
॥ इति तिङन्ते भ्वादेशः ॥



उवोढ—वह्, धातोर्लुटि लिटस्सिपि थलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'होढः' इति हस्य ढत्वे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वे,
'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढकारे, 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढकारस्य लोपे,
'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति वकारोत्तरवर्त्यकारस्य—ओकारे, 'लिट्यभ्यासस्यो-
भयेषाम्' इति पूर्ववकारस्य सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्चेति' पूर्वख्ये 'उवोढ' इति ।

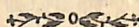
वोढा—वह्, धातोर्लुटि तस्य तिप्यनुबन्धलोपे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति
तासि, 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशे, 'चुट्' इति ढकारस्येत्संज्ञायां
'तस्य लोपः' इति लोपे, डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपि, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे,
'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धकारे, 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे, 'ढो ढे
लोपः' ढलोपे, 'सहिवहोरोदवर्णस्य' वकारोत्तरवर्त्यकारस्य ओकारे 'वोढा' इति ।

इति भ्वादिप्रकरणम् ।



१—सकार पर में हो तो ष और ढ को क होता है । वह=ढोने ले जाने अर्थ में । २—
झष् से परे तकार, थकार को धकार होता है, धा धातु को झोड़कर । ३—ढकार पर में हो
तो ढकार का लोप होता है । ४—ढकार के लोप होने पर सह् और वह् धातु के अकार
को ओकार होता है ।

[भ्वादिप्रकरण समाप्त]



अथ तिङन्तेऽवादिप्रकरणम्

अद् भक्षणे ।

अदिप्रभृतिभ्यः शप्ः २ । ४ । ७२ ॥ ^१[एभ्यः परस्य शपो] लुक् स्यात् ।
अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्भि । अद्भः । अद्भिः । अद्भिः ।

लिट्यन्यतरस्याम् २ । ४ । ४० ^२अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि । जघास ।
उपधालोपः ।

शासिवसिघसीनां च ८ । ३ । ६० ॥ ^३इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः
स्यात् । घस्य चत्त्वम् । जक्षतुः । जक्षुः । जघसिथ । जक्षथुः । जक्ष ।
जघास, जघस । जक्षिव । जक्षिम । आद । आदतु । आदुः ।

इडत्यन्तिव्ययीनाम् ७ । २ । ६६ ॥ ^४अद्, ऋ, व्येञ् एभ्यस्थलो नित्य-
मिट् स्यात् । आदिथ । अत्ता । अत्स्यति । अत्तु, अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ।

हुञ्जलभ्यो हेर्धिः ६ । ४ । १०१ ॥ ^५होञ्जलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि-
अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि । अदाव । अदाम ।

अदः सर्वेषाम् ७ । ३ । १०० ॥ ^६अदः परस्याऽपृक्तसार्वधातुकस्य अट्
स्यात्सर्वमतेन । आदत् । आत्ताम् । आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त ।
आदम् । आद्द । आद्भ । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्या-
स्ताम् । अद्यासुः ।

उपधालोपः—‘गमहनजनखनघसां लोपः किङ्कनङि’ इति सूत्रेणेत्यर्थः ।
जक्षतुः—अद्वातोर्लिटि तस्य तिससादिना तसि, तस्य च ‘परस्मैपदानां-०’
इति—अतुसि ‘लिट्यन्यतरस्याम्’ इति वैकल्पिके ‘घस्लृ आदेशे, अनुबन्धलोपे,
द्वित्वे, अभ्यासकार्ये, ‘गमहनजन-’ इति—उपधालोपे, ‘जघस् अतुस्’ इति स्थिते,
घस्य चत्वेन ककारे, ‘शासिवसिघसीनां च’ इति धातुसकारस्य षकारे, कृष्णयोगे
‘क्षे’, प्रत्ययसकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते ‘जक्षतुः’ इति । पक्षे ‘आदतुः’ । अस्मिन्
प्रयोगे ‘अद् अतुस्’ इत्यवस्थायाम् द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, ‘अत आदेः’ इति दीर्घे,

१—अदादि गण में पढ़े गये धातुओं से जो शप् उसका लुक् (लोप) होता है । २—
लिट् लकार में अद् को घस्लृ आदेश विकल्प से होता है । ३—इण् (इ, उ) कवर्ग (क,
ख, ग, घ, ङ) से परे शास्, वस् एवं घस् सम्बन्धी सकार को षकार होता है । ४—अद्,
ऋ, व्येञ् धातुओं से परे थल् को नित्य इट् का आगम होता है । ५—हु धातु एवं झलन्त
धातुओं से परे हि के स्थान में धि आदेश होता है । ६—सभी आचार्यों के मत से अद् धातु

लुङ्सनोर्घस्त्वृ २।४।३७ ॥ ^१अदो घस्त्वृ स्याल्लुङि सनि च ।
लृदित्वाद् । अघसत् । आत्स्यत् । हन हिंसागत्योः । हन्ति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति
६।४।३७ ॥ ^२अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ किति
ङिति परे । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु क्षणु क्षिणु
ऋणु तृणु घृणु वनु मनु तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ ।
हन्मि । हन्वः । हन्मः । जघान । जघनतुः । जघ्नुः ।

अभ्यासाच्च ७।३।५५ ॥ ^३अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् ।
जघनिथ—जघन्थ । जघनथुः । जघ्न । जघान—जघन । जघनिव । जघनिम ।
हन्ता । हनिष्यति । हन्तु—हतात् । हताम् । घ्नन्तु ।

हन्तेर्जः ६।४।३६ ॥ ^४हन्तेर्जदिशः स्याद् घौ परे ।

असिद्धवदत्राभात् ६।४।२२ ॥ ^५इत् ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम् ।
समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् । इति जस्याऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक् ।
जहि—हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् ।
अघ्नन् । अहन् । अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् ।
हन्याताम् । हन्युः ।

आर्धधातुके २।४।३५ ॥ ^६इत्यधिकृत्य ।

शेषं समानं कार्यम् ।

जहि—हन् धातोर्लोपि, तस्य सिपि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हित्वे, 'हन्तेर्जः'
इति हन्-इत्यस्य जादेशे, 'अतो हेः' इति हेर्लुकि प्राप्ते 'असिद्धवदत्राभात्' इति
जस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक 'जहि' इति ।

से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम होता है ।

१—अद् को घस्त्वृ आदेश होता है लुङ् एवं सन् परे रहते । २—झलादि कित् या
ङित् पर में हो तो अनुनासिकान्त में जो अनुदात्तोपदेश एवं वन्, तन् आदि धातुओं के
अनुनासिक का लोप होता है । ३—अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कुत्व होता है ।
४—हि (प्रत्यय) परे रहते हन् धातु को 'ज' आदेश होता है ५—इस (६।४।२२) सूत्र
से लेकर द्रष्टे अध्याय की समाप्ति तक के सभी सूत्र "आभीय" हैं । समान निमित्तक
आभीय कार्य के करने में समान निमित्तक आभीय कार्य असिद्ध होता है । ६—'आर्धधा
तुके' यह अधिकार सूत्र है, अर्थात् [४।१।४२] से आगे इसका अधिकार चलता है ।

हनो वध लिङि २।४।४२ ॥

लुङि च २।४।४३ ॥ १हनो वधादेशः स्याल्लिङि लुङि च । वधादेशोऽदन्तः । आर्धधातुके इति विषयसप्तमी । तेन आर्धधातुकोपदेशोऽकारान्तत्वादतो लोपः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । आदेशस्याऽनेकाच्चादेकाच्च इतीप्निषेधाऽभावादित् । अतो हलादेरिति वृद्धौ प्राप्तायाम्—

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ १।१।५७ ॥ १परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इत्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेनोपधात्वाऽभावान्न वृद्धिः । अवधीत् । अहनिष्यत् ॥ यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः ।

हन-हिंसागत्योः । लटि—हन्ति, हतः, घ्नन्ति । हंसि, हथः, हथ । हन्मि, हन्वः, हन्मः । लिटि—जघान, जघन्तुः, जघ्नुः । जघनिथ-जघन्थ, जघन्थुः, जघ्न । जघान, जघनिव, जघ्निम । लुटि—हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः । हन्तासि, हन्तास्थः, हन्तास्थ । हन्तास्मि, हन्तास्वः, हन्तास्मः । लृटि—हनिष्यति, हनिष्यतः, हनिष्यन्ति । हनिष्यसि, हनिष्यथः, हनिष्यथ । हनिष्यामि, हनिष्यावः, हनिष्यामः । लोटि—हन्तु-हतात्, हताम्, घ्नन्तु । जहि-हतात्, हतम्, हत । ह्नानि, हनाव, हनाम । लङि—अहन्, अहताम्, अघ्नन् । अहन्, अहतम्, अहत । अहनम्, अहन्व, अहन्म । विधिलिङि—हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः । हन्याः हन्यातम्, हन्यात । हन्याम्, हन्याव, हन्याम । आशीलिङि—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः । वध्याः, वध्यास्तम्, वध्यास्त । वध्यासम्, वध्यास्व, वध्यास्म । लुङि—अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः । अवधीः, अवधिष्टम्, अवधिष्ट । अवधिषम्, अवधिष्व, अवधिषम् । लृङि—अहनिष्यत्, अहनिष्यताम्, अहनिष्यन् । अहनिष्यः, अहनिष्यतम्, अहनिष्यत । अहनिष्यम्, अहनिष्याव, अहनिष्याम ।

१—लिङ् या लुङ् लकार परे रहते हन् धातु को वध आदेश होता है । 'वध' आदेश अदन्त है । 'आर्धधातुके' यह विषय-सप्तमी है (आर्धधातुक के विषय में अर्थ है) इसलिए आर्धधातुक के उपदेशावस्था में जो अकार उसका (अतो लोपः) से लोप होता है । २—स्थानिभूत अच् से पूर्व वृष्ट से कोई विधिकार्य करना हो तो, पर को निमित्त मानकर अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानी के तुल्य होता है । [वधादेशोऽदन्तः इसका—यथार्थ निष्कर्ष यह है कि वधादेश हो जाने पर धातु अनेकाच् होता है अतः 'अवधीत्' में एकाचः—सूत्र से इट् का निषेध नहीं होता किन्तु इट् हो जाता है और इडादि सिच् मिलने के कारण 'अतो हलादेशः' सूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है परन्तु 'अतो लोपः' से हुए अल्लोप का स्थानिवद्भाव होने से नहीं होती अर्थात् इडादि सिच् परे नहीं मिलता है] ।

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७ । ३ । ८९ ॥ ^१लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात्
पिति ह्लादौ सार्वधातुके, नत्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि ।
युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युयाव । यविता । यविष्यति । यौतु-
युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये
पिच्च डिन्न, डिच्च पित्रेति व्याख्यानात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् ।
यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः ।
यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् ।

लडः शाकटायनस्यैव ३ । ४ । १११ ॥ ^२आदन्तात्परस्य लडो ज्ञेर्जुंस् वा
स्यात् । अयुः—अयान् । यायात् । यायाताम् । ययुः । यायात् । यायास्ताम् ।
यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् । वा गतिगन्धनयोः । भा दीप्तौ । ष्णा शौचे ।
श्रा पाके । द्रा कुत्सायां गतौ । प्सा भक्षणे । रा दाने । ला आदाने । दाप्
लवने । पा रक्षणे । ख्या प्रकथने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः । विद ज्ञाने ।

विदो लटो वा ३ । ४ । ८३ ॥ ^३वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा
स्युः । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्व । विद्व ।
पक्षे-वेत्ति । वित्तः । विदन्ति ।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ३८ ॥ ^४एभ्यो लिटि आम्वा
स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार-विवेद ।
वेदिता । वेदिष्यति ।

विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३ । १ । ४१ ॥ ^५वेत्तेर्लोटि आम्, गुणा-
ऽभावो, लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने न
विवक्षिते ।

१—ह्लादि पित् सार्वधातुक पर में हो तो लुक् कं विषय में उकार को वृद्धि होती है, अभ्यस्त को द्योदकर (नहीं) । या=डोना, पहुँचाना, जाना । २—आदन्त धातु से परे लड् सम्बन्धी क्षि को जुम् होता है विकल्प से । वा=जाना, हिंसा करना आदि (उत्साहने च, 'हिंसायां सूचने चापि गन्धने' इत्यमरः) । भा=दीप्ति, प्रकाश । ष्णा=स्नान आदि से पवित्र होना । श्रा=पकाना । द्रा=निन्दित गमन आदि । प्सा=भोजन । रा=देना । ला=ग्रहण करना (लेना) । दाप्=फसल आदि का काटना । पा=रक्षा करना । विद=ज्ञान करना (जानना) । ३—विद् धातु से परे लट् सम्बन्धी परस्मैपदों को णल्-आदि आदेश विकल्प से होते हैं । ४—लिट् पर में हो तो उष्, विद, जागृ धातुओं से 'आम्' विकल्प से होता है । ५—लोट् परे रहते विद् धातु से आम् होता है, और गुण का अभाव, लोट् का लुक् तथा विकल्प से लोट् परक कृधातु का अनुप्रयोग निपातन से करते हैं ।

तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ॥ ^१तनाद्रेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात् ।
शपोऽपवादः । गुणः । विदाङ्करोतु ।

अत उत्सार्वधातुके ६ । ४ । ११० ॥ ^२उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य
उत्स्यात्सार्वधातुके ङ्ङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् । विदाङ्कुरुवन्तु ।
विदाङ्कुरु । विदाङ्कुरवाणि । अवेत् । अविताम् । अविदुः ।

दश्च ८ । २ । ७५ ॥ ^३धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे र्वा स्यात् ।
अवेः—अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् । विद्यास्ताम् ।
अवेदीत् । अवेदिष्यत् ।

विदाङ्कुरुतात्—ज्ञानार्थक विद् धातोर्लोटि विदाङ्कुर्वन्त्विति आम् प्रत्यये,
गुणामावे, लोटो लुकि, लोडन्तकृञाऽनुप्रयोगे 'विद् आम् कृ लोट्' इति स्थिते,
लोटस्तिबादेशे, एहरित्युत्वे, शपं प्रबाध्य 'तनादि कृञ्भ्य उः' इति—उप्रत्यये,
तस्यार्धधातुकत्वे, गुणे, तुह्योस्तातडादिना तातडि, 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककारो-
त्तराकारस्योत्वे मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते तत्सिद्धिः ।

विदाङ्कुर्वन्तु—विद् धातोर्लोटि, विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकेन
लोटद्यामि, गुणामावे, लोटि लुकि, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगे च कृते 'विद् + आम् +
कृ + लोट्' इति स्थिते, लोटो झि—आदेशे 'तनादि कृञ्भ्य उः' इति उकारे,
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे, 'शाऽन्तः' इति शस्यान्तादेशे, एहरिति
उत्वे, 'अत उत्सार्वधातुक' इति कृञोऽकारस्योकारे 'इको यणचि' इति यणि,
मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते तत्सिद्धिः ।

विद् ज्ञाने—लटि—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति । वेत्सि, वित्यः, वित्य । वेद्मि,
विद्वः, विद्मः । पक्षे—वेद, वेदतुः, वेदुः । वेत्थ, वेदथुः, वेद । वेद, विद्व, विद्म ।
लिटि—विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः । विदाञ्चकथं, विदाञ्चक्रथुः,
विदाञ्चक्र । विदाञ्चकार—विदाञ्चकर, विदाञ्चकृव, विदाञ्चकृम । पक्षे—विवेद,
विविदतुः, विविदुः । विवेदिथ, विविदथुः, विविद । विवेद, विविदिव, विविदिम ।
लुटि—वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः । वेदितासि, वेदितास्थः, वेदितास्थ । वेदितास्मि,
वेदितास्वः, वेदितास्मः । लृटि—वेदिष्यति, वेदिष्येतः, वेदिष्यन्ति । वेदिष्यसि,
वेदिष्यथः, वेदिष्यथ । वेदिष्यामि, वेदिष्यावः, वेदिष्यामः । लोटि—विदाङ्करोतु—

४—तनादि धातु और कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय होता है । १—कित्, ङित् सार्व-
धातुक पर हों तो उप्रत्ययान्त कृञ् धातु के अकार को उकार होता है । २—सिप् परे
रहते पदान्त दकार को 'रु' विकल्प से होता है ।

अस् भुवि अस्ति ।

श्नसोरल्लोपः ६ । ४ । १११ ॥ ^१श्नस्यास्तेश्चाऽतो लोपः स्यात्सार्व-
धातुके ङिति । स्तः । सन्ति । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः ।

उपसर्गप्रादुभ्यामस्तिर्यच्चपरः ८ । ३ । ८७ ॥ ^२उपसर्गेण प्रादुसश्चाऽस्तेः
सस्य षः स्याद्यकारेऽचि च परे । निष्यात् । प्रनिषन्ति । प्रादुःपन्ति ।
यच्चपरः किम् ? अभिस्तः ।

अस्तेभूः २ । ४ । ५२ ॥ ^३[अस्तेभू इत्यादेशः स्यात्] । आर्धधातुके ।
बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु-स्तात् । स्ताम् । सन्तु ।

ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च ६ । ४ । ११९ ॥ ^४धोरस्तेश्च एत्वं स्याद्धौ परे
अभ्यासलोपश्च । एत्वस्याऽसिद्धत्वाद्धेधिः । श्नसोरित्यल्लोपः । तातङ्पक्षे
एत्वं न, परेण तातडा बाधात् । एधि-स्तात् । स्तम् । स्त । असानि ।

विदाङ्कृतात्, विदाङ्कृताम्-विदाङ्कृर्वन्तु । विदाङ्कुरु-विदाङ्कृतात्, विदाङ्कृताम्,
विदाङ्कृरुत् । विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम । लङि--अवेत्, अवि-
त्ताम्, अविदुः । अवेः, अविताम्, अविता । अवेदम्, अविद्व, अविद्वम् ।
विधिलिङि--विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः । विद्याः, विद्याताम्, विद्यात् ।
विद्याम्, विद्याव, विद्याम् । आशीर्लिङि--विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यामुः । विद्याः,
विद्यास्तम्, विद्यास्त । विद्यासम्, विद्यास्व, विद्यास्म । लुङि--अवेदीत्, अवेदिष्टाम्,
अवेदिषुः । अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट । अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदिष्वम् । लृङि-
अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् । अवेदिष्यः, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यत ।
अवेदिष्यम्, अवेदिष्याव, अवेदिष्याम् ।

एधि--सत्तार्थकाद् अस् धातोर्लोपि लोटः सिपि, 'सेह्यापिच्च' इति सेह्यादेशे,
द्यपि, तस्य लुकि, 'ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च' धातोरेत्वे, श्नसोरल्लोप इत्यकारलोपे,
असिद्धवदत्रामादिति नियमेन 'हुञ्जल्भ्यो हेधिः' इत्येतद्दृष्ट्या एत्वस्यासिद्धत्वात्-
हेधित्वे तत्सिद्धिः । हेस्तातडादेशपक्षे ध्वसोरित्येत्वं न भवति, तातडादेशस्य पर-

१—सार्वधातुक कित्, डित् परे रहते श्न एवं अस् के अकार का लोप होता है । २—
यकार या अच् पर में हो तो उपसर्ग इण् से परे और प्रादुस् से परे अस् धातु के सकार को
षकार होता है । ३—आर्धधातुक परे रहते 'अस्' धातु को 'भू' 'आदेश' होता है । ४—हि पर
में हो तो घुसंज्ञक धातु एवं अस् धातु को एत्व होता है, और अभ्यास का लोप भी होता है ।

असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः ।
भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् ।

इण् गतौ । एति । इतः ।

इणो यण् ६ । ४ । ८१ ॥ ^१[इणो यण् स्यात्] अजादौ प्रत्यये परे ।
यन्ति ।

अभ्यासस्याऽसवर्णं ६ । ४ । ७८ ॥ ^२अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवडौ
स्तोऽसवर्णोऽचि । इयाय ।

दीर्घं इणः किति ७ । ४ । ६९ ॥ ^३इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात्किति
लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ-इयेथ । एता । एष्यति । एतु । ऐतु ।
ऐताम् । आयन् । ईयात् ।

एतेलिङि ७ । ४ । २४ ॥ ^४उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादाधधातुके
किति लिङि । निरियात् । ^५उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अभीयात् ।
अणः किम् ? समेयात् ।

त्वेन बाधकत्वात्, 'इनसोरत्लोपः', इत्यकारलोपे 'स्तात्' इति ।

आसोदित्यत्र—'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीट् बोध्यः ।

इयाय—इत्यत्र-इ शब्दस्य द्वित्वे, वाणादाङ्गं बलीयः इति न्यायेन सवर्णदीर्घं
बाधित्वा परस्य (द्वितीयस्य) इकारस्य वृद्धौ, पूर्वकारस्य च-इयडादेशेन
तत्सिद्धिः ।

ईयतुः—गत्यर्थक-इण्धातोर्लिटि, लिटस्तसि, तसोऽतुसि, 'लिटि धातोरनभ्या-
सस्य' इति द्वित्वे, ततः 'इणो यण्' इति परस्येकारस्य यणि 'दीर्घं इणः किति'
इति-अभ्यासेकारस्य दीर्घं, सस्य रुत्वे, विसर्गं च 'ईयतुः' इति सिद्धम् ।

इण् =गमन करना ।

१—अजादि प्रत्यय पर में हो तो इण् धातु को यण् होता है । २—असवर्ण (भिन्न) अच्
पर में हो तो अभ्यास के इवर्ण-उवर्ण को इयङ्-उवङ् आदेश होते हैं । ३—कित् लिट् परे
रहते इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है । ४—आर्यधातुक कित् लिट् पर में हो तो उपसर्ग
से परे जो इण् धातु सम्बन्धी अण् उसको ह्रस्व होता है । ५—दोनों के आश्रयण के कारण
'अन्तादिवच्च' नहीं प्रवृत्त होता ।

(निष्कर्ष यह है कि सूत्र में अण् के विधान में उपसर्ग तथा इण् धातु दोनों का आश्रय
लिया गया है, अतः अन्तादिवच्च नहीं लगेगा) ।

इणो गा लुङि २।४।४५॥ ^१[इणो गादेशः स्याल्लुङि]। गतिस्थेति सिचो लुक्। अगात्। ऐष्यत्। शीङ् स्वप्ने।

शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१॥ ^२[शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके]। किङिति चेत्यस्यापवादः। शेते। शयाते।

शीङो रुट् ७।१।६॥ ^३शीङः परस्य झादेशस्याऽतो रुडागमः स्यात्। शेरते। शेपे। शयाथे। शेध्वे। शये। शेवहे। शेमहे। शिश्ये। शिश्याते। शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्। शयाताम्। अशेत। अशयाताम्। अशेरत। शयीत। शयीयाताम्। शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।

इङ् अध्ययने। इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः। अधीते। अधीयाते। अधीयते।

गाङ् लिटि २।४।४९॥ ^४इङो गाङ् स्याल्लिटि। अधिजगे। अधिजगाते। अधिजगिरे। अध्येता। अध्येष्यते। अधीताम्। अधीयाताम्।

अगात्—इण् धातोर्लुङि, लुङस्तिपि, अनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजिति सिचि, अनुबन्धलोपे, 'इणो गा लुङि' इति इणो गा-आदेशे, 'लुङ्लङ्-' इत्यङागमे, तकारलोपे, गतिस्थेति सिचो लुकि 'अगात्' इति।

शेरते—शयनार्थक शीङ् धातोर्लिटि तस्य ऋ प्रत्यये, 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः-' इति शपो लुकि, 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्याति, 'शीङो रुट्' इति रुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्येत्वे, सार्वधातुकार्धधातुकयो-रिति गुणे 'शेरते' इति।

अधिजगे—अध्ययनार्थक-अधिपूर्वक-इङ्धातोर्लिटि, लिटस्तप्रत्यये, 'गाङ्-लिटि' इतीङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति 'गा' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासत्वे, 'ह्रस्वः' इत्यचो ह्रस्वे, 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जकारे, 'लिटस्त-अयारेशिरेच्' इति तस्यैशादेशे, 'आतो लोप इटि च' इति 'गा' उत्तरवर्त्याकारस्य लोपे 'अधिजगे' इति।

अधिजगिरे—अधि-उपपद-इङ् धातोर्लिटि, तस्य 'झ' प्रत्यये 'अधि इ झ'

१—लुङ् लकार में इण् धातु को 'गा' आदेश होता है। शीङ् = शयन करना। २—सार्वधातुक परे रहते शीङ् धातु को गुण होता है। ३—शीङ् धातु से परे झ के स्थान में जो अर् आदेश उसको रुट् का आगम होता है। इङ् = पढ़ना। ४—लिट् लकार में इङ् धातु को गङो आदेश होता है।

अधीयताम् । अधीष्व । अधीयाथाम् । अधीध्वम् । अध्ययै । अध्ययावहै ।
अध्ययामहै । अध्ययैत । अध्ययैयाताम् । अध्ययैयत । अध्ययैथाः । अध्ययैयाथाम् ।
अध्यैध्वम् । अध्ययैयि । अध्ययैवहि । अध्ययैमहि । अधीयीत । अधीयीताम् ।
अधीयीरन् । अध्येषीष्ट ।

विभाषा लुङ्लृङोः २ । ४ । ५० ॥ १इङो.गाङ् वा स्यात् ।

गाङ् कुटादिभ्योऽञ्जिण्डित् १ । २ । १ ॥ गाङादेशात्कुटादिभ्यश्च
परेऽञ्जितः प्रत्यया ङितः स्युः ।

धुमास्थागापाजहातिसां हलि ६ । ४ । ६६ ॥ ३एषामात् ईत्स्याद्धलादौ
विङ्त्वार्यधातुके । अध्यगीष्ट—अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत—अध्यैष्यत ।

इति जाते, 'लिट्स्तझयारेशिरेच्' इति झस्येरेचि-अनुबन्धलोपे, 'गाङ् लिटि' इतीङो
गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, लिटि धातोरिति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, 'कुहोश्चुः' इति अम्या-
सगकारस्य जकारे, 'आतो लोपः—' इत्याकारलोपे 'अधिजगिरे' इति ।

अध्ययै—अधिपूर्वक—इङ्धातोर्लोडि तत्स्थाने इटि 'अधि इ इट्' इति स्थिते,
'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे, 'एत ऐ' इति 'ऐ' आदेशे, आडागमे, वृद्धौ,
षपि, शपो लुकि, 'इङ्' धातोर्गुणायामादेशयोरुपसर्गस्येकारस्य यणि 'अध्ययै' इति ।

अध्यगीष्ट—अध्युपपद—इङ्धातोर्लुङि, तत्स्थाने त प्रत्यये, अट्यनुबन्धलोपे,
'विभाषा लुङ्लृङोः' इति इङ्स्थाने वकल्पिकेन गाङादेशेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, च्लेः
सिच्यनुबन्धलोपे, 'अधि अ गा स् त' इति जाते 'गाङ् कुटादिभ्यो—' इति सिचो
ङित्वे, 'धुमास्था—' इत्यनेनाकारस्येकारे 'इको यणचि' इति यणि, 'आदेश-
प्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे च कृते 'अध्यगीष्ट' इति ।

इङ्—अध्ययने लिटि—अधीते, अधीयाते, अधीयते । अधीषे, अधीयाथे,
अधीष्वे । अधीये, अधीवहे, अधीमहे । लिटि—अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे ।
अधिजगिषे, अधिजगाथे, अधिजगिष्वे । अधिजगे, अधिजगिवहे, अधिजगिमहे ।
लृटि—अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः । अध्येतासे, अध्येतासाथे, अध्येताष्वे ।
अध्येताहे, अध्येतास्वहे, अध्येतास्महे । लृटि—अध्येष्यते, अध्येष्येते, अध्येष्यन्ते ।
अध्येष्यसे, अध्येष्येथे, अध्येष्यध्वे । अध्येष्ये, अध्येष्यावहे, अध्येष्यामहे । लोटि—

- १—लुङ् वा लृङ् लकार पर में हो तो इङ् धातु को गाङ् आदेश होता है, विकल्प से ।
२—गाङ् आदेश और कुटादि धातुओं से परे लिट् णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् होते हैं ।
३—इलादि कित् ङित् आर्षधातुक पर में हो तो घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा और
१० सो (षोऽन्तकर्मणि) धातुओं के आकार को ईकार होता है ।

दुह प्रपूरणे । दोग्धि । दुग्धः । दुहन्ति । धोक्षि । दुग्धे । दुहाते ।
दुहते । धुक्षे । दुहाये । धुग्ध्वे । दुहे । दुह्वहे । दुह्वहे । दुदोह—दुदुहे ।
दोग्धासि—दोग्धासे । धोक्ष्यति—धोक्ष्यते । दोग्धु-दुग्धात् । दुग्धाम् ।
दुहन्तु । दुग्धि-दुग्धात् । दुग्धम् । दुग्ध । दोहानि । दोहाव । दोहाम ।
दुग्धाम् । दुहाताम् । दुहताम् । धुक्ष्व । दुहाथाम् । धुग्ध्वम् । दोहै । दोहा-
वहै । दोहामहै । अधोक् । अदुग्धाम् । अदुहन् । अदोहम् । अदुग्ध । अदुहा-
ताम् । अदुहत । अधुग्ध्वम् । दुह्यात्—दुहीत ।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १ । २ । ११ ॥ 'इक्समीपाद्धलः परो झलादी
लिङ् सिचौ कितौ स्तस्तङि । धुक्षीष्ट ।

अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम् । अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीष्वम् । अध्येयं,
अध्ययावहै, अध्ययामहै । लङि—अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत । अध्यैथाः,
अध्यैयाथाम्, अध्यैष्वम् । अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि । विधि लि०—अधीयीत,
अधीयीताम्, अधीयीरन् । अधीयीथाः, अधीयीथाम्, अधीयीष्वम् । अधीयीष,
अधीयीवहि अधीयीमहि । अशिर्लिङि—अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम्, अध्येषीरन् ।
अध्येषीष्ठाः, अध्येषीयास्थाम्, अध्येषीढ्वम् । अध्येषीय, अध्येषीवहि, अध्येषीमहि ।
लुङि—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत । अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम्,
अध्यगीढ्वम् । अध्यगीषि, अध्यगीष्वहि, अध्यगीष्महि । पञ्चे—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्,
अध्यैषत । अध्यैष्ठाः, अध्यैषाथाम्, अध्यैढ्वम् । अध्यैषि, अध्यैष्वहि, अध्यैष्महि ।
लृङि—अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त । अध्यगीष्यथाः, अध्य-
गीष्येथाम्, अध्यगीष्येथ्वम् । अध्यगीष्ये, अध्यगीष्यावहि, अध्यगीष्यामहि ।
पञ्चे—अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त । अध्यैष्यथाः, अध्यैष्येथाम्, अध्यैष्य-
थ्वम् । अध्यैष्ये, अध्यैष्यावहि, अध्यैष्यामहि ।

धुक्षीष्ट—प्रपूरणार्थकं दुह् धातोर्लिङि तत्स्थाने 'त' प्रत्यये, 'लिङः सीयुट्'
इति सीयुटि, अनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इति सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'एकाशो
बशो भष् क्षपन्तस्य स्वोः' इति मन्मावेन दकारस्य चकारे, 'धुह् सी-य् स् त'
इति स्थिते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे, 'दादेर्भातोर्धः' इति हस्य चत्वे, 'क्षरि च'

दुह=दुहना ।

१—(आत्मनेपद) परे रहते इक् समीप हल् से परे झलादि लिङ् और सिच् कित्संज्ञक
होते हैं ।

शल इगुपधानिटः क्सः ३ । १ । ४५ ॥ ^१इगुपधो यः शलन्तस्तस्माद-
नितश्चलेः क्सादेशः स्यात् । अधुक्षत् ।

लुग्वा दुह्दिहलिहगुहामात्मने पदे दन्त्ये ७ । ३ । ७३ ॥ ^२एषां क्सस्य
लुग्वा स्यादन्त्ये तडि । अदुग्ध—अधुक्षत ।

क्सस्याऽचि ७ । ३ । ७२ ॥ ^३अजादौ तडि क्सस्य लोपः स्यात् ।
अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अदुग्धाः—अधुक्षथाः । अधुक्षाथाम् । अधुग्ध्वम्—
अधुक्षध्वम् । अधुक्षि । अदुह्वहि—अधुक्षावहि । अदुह्वहि—अधोक्ष्यत् ।
अधोक्ष्यत । एवं—दिह उपचये ।

लिह आस्वादने । लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते ।
लिहते । लिक्षे । लिहाथे । लीढ्वे । लिलेह—लिलिहे । लेढासि—लेढासे ।
लेक्ष्यति—लेक्ष्यते । लेढु—लीढात् । लीढाम् । लिहन्तु । लीढि । लेहानि ।
लीढाम् । अलेट्—अलेङ् । अलिक्षत् । अलीढ—अलिक्षत । अलेक्ष्यत् ।
अलेक्ष्यत ।

ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ।

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३ । ४ । ८४ ॥ ^४ब्रुवो लट्स्तिवादीनां
पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युः ब्रुवश्चाऽऽहादेशः । आह । आहतुः । आहुः ।

आहस्यः ८ । २ । ३५ ॥ ^५[आहस्थकारादेशः स्यात्—] झलि परे ।
चर्त्वम् । आत्थ । आह्युः ।

ब्रुव ईट् ७ । ३ । ९३ ॥ ^६ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति ।
ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते ।

इति चत्वेन घंस्य क्त्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति द्वयोः सकारयोः षत्वे, कषयोः
संयोगे क्षकारे, 'ष्टुनाष्टुः' इति ष्टुत्वे 'धुकीष्ट' इति ।

१—इगुपध (इक् हो उपधा में जिसके ऐसा) जो शलन्त धातु, उससे परे अनिट् च्लि को
'क्स' आदेश होता है । २—दन्त स्थानीय तड् (आत्मनेपद) पर हो तो दुह्, दिह्, लिह्,
गुह् धातुओं के क्स कां लोप होता है विकल्प से । २—अजादि आत्मनेपद पर हो तो क्स
का लोप होता है । दिह्=वृद्धि । लिह्=चूसना । ब्रूञ्=स्पष्ट बोलना । ४—ब्रूञ् धातु से परे
लट् के स्थान में जो तिवादि पाँच 'तिप्-तस्-क्षि-सिप्-थस्' हैं, उनको णल्-अतुस् आदि पाँच
आदेश विकल्प से होते हैं और ब्रू के स्थान में आह् आदेश भी होता है । ५—शल पर में
हो तो आह् के हकार को थकार होता है । ६—ब्रूञ् धातु से परे हलादि पितको ईट् का
आगम होता है ।

ब्रुवो वचिः २।४।५३ ॥ ^१आर्धतातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचुः ।
उवचिथ-उवकथ । ऊचे । वक्ता । वक्तासि-वक्तासे । वक्ष्यति-वक्ष्यते ।
ब्रवीतु-ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रुवन्तु । ब्रूहि । ब्रवाणि । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्र-
वीत् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रुवीतं । उच्यात् । वक्षीष्ट ।

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३।१।५२ ॥ ^२एभ्यच्छ्लेरङ् स्यात् ।

वच उम् ७।४।२० ॥ ^३[वच उमागमः स्यात्-] अङि परे । अवो-
चत्-अवोचत । अवक्ष्यत्-अवक्ष्यत । [ग० सू०] ^४चर्करीतञ्च । चर्करीत-
मिति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, तददादौ बोध्यम् । ऊर्णुञ् अच्छादने ।

ऊर्णोतिविभाषा ७।३।२० ॥ ^५[ऊर्णोतिः-] वा वृद्धिः स्याद्वलादौ
पिति सार्वधातुके । ऊर्णोति-ऊर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णुवन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णु-
वाते । ऊर्णुवते । ^६ऊर्णोतिराम्नेति वाच्यम् ।

न न्नाः संयोगादयः ६।१।३ ॥ ^७अचः पराः संयोगादयो नदरा द्वितं
भवन्ति । नुशब्दस्य द्वित्वम् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः ।

विभाषोर्णोः १।२।३ ॥ ^८इडादिप्रत्ययो वा डित्स्यात् । ऊर्णुनुविथ ।
ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता-ऊर्णुविता । ऊर्णुविष्यति-ऊर्णुविष्यति । ऊर्णोति-
ऊर्णोति । ऊर्णवानि । ऊर्णवै ।

नुशब्दस्य द्वित्वमिति—नु शब्द एवात्र, णत्वेन 'णु' इति श्रूयते । तथाहि-
नकारजावनुस्वारपञ्चमौ क्षलि धातुषु । सकारजश्शकारश्चेद्रषाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥
अस्यायमर्थः—धात्ववयवक्षलि परे कुत्रचिदनुस्वारः कुत्रचित्पञ्चमवर्णो ङ् ञ् आदि
दृश्यते तौ द्वावपि नकारजौ । अनुस्वारो यथा संसु, भंसु, ध्वंसु इत्यादिषु । पञ्चमो
वर्णः—अङ्—अञ्—लुण्ठ—मन्थ—तृम्फेषु । चकारे परे यः शकारः 'ओन्नश्चू' इत्यादौ
दृश्यते स श्चुत्वनिष्पन्नः सकारजः । रेफकाराभ्यां परष्टवर्गस्तवर्गजः । यथा 'ऊर्णु'
इत्यत्र रेफात्परः, 'ष्टु' 'ष्ठा' इत्यादौ षात्परः तवर्गजष्टवर्गः ।

१—आर्धधातुक के विषय में ब्रूञ् धातु को वच् आदेश होता है । २—अस्, वच्
और ख्या धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश होता है । ३—अङ् प्रत्यय पर में हो तो वच्
को उम् का आगम होता है । ४—चर्करीत यह यङ-लुगन्त की संज्ञा है । उसकी अर्धता
में जानना चाहिये । ऊर्णुञ्=आच्छादन, ढँकना । ५—इलादि पित् सार्वधातु पर हो
ऊर्णुञ् धातु को वृद्धि विकल्प से होती है । ६—ऊर्णुञ् धातु में आम् प्रत्यय नहीं होता है ।
७—अच् से परे जो संयोगादि न, द, र, उनको द्वित्व नहीं होती है । ८—ऊर्णुञ् धातु
पर इडादि प्रत्यय विकल्प से डित् होते हैं ।

गुणोऽपृक्ते ७ । ३ । ९१ ॥ ^१ऊर्णोतिगुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्व-
धातुके । वृद्धयपवादः । और्णोत् । और्णोः । ऊर्ण्यात् । ऊर्ण्याः । ऊर्णुवीत् ।
ऊर्ण्यात् । ऊर्णुविषीष्ट ।

ऊर्णोतिविभाषा ७ । २ । ६ ॥ ^२इडादौ सिचि परस्मैपदे परे वा वृद्धिः
स्यात् । पक्षे गुणः । और्णुवीत्—ओर्णुवीत्—और्णवीत् । और्णाविष्टाम्—
ओर्णुविष्टाम्—और्णविष्टाम् । और्णाविष्ट—ओर्णुविष्ट—और्णविष्ट । और्णु-
विष्यत् । और्णविष्यत् । ओर्णुविष्यत—और्णविष्यत ।

॥ इत्यदादिप्रकरणम् ॥



अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽदनयोः ।

ऊर्णुविषीष्ट—अकारेत्संज्ञक ऊर्णु धातोराशिष्यर्थे लिङि, तत्स्थाने 'त' प्रत्यये,
'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे, 'सुट् तिथोः' इति सुटि अनुबन्धलोपे,
'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इतीटि, 'विभाषोर्णोः' इति
विकल्पेन डित्वे, डित्पक्षे डित्वेन गुणामावे, षचि श्नुधातु इत्युवडि, सकारयोः षत्वे
ष्टुत्वे च 'ऊर्णुविषीष्ट' इति । डित्त्वामावे 'सार्वधातुकार्ध-' इति गुणेऽवादेशे
सकारयोः षत्वे च कृते 'ऊर्णुविषीष्ट' इति ।

और्णुवीत्—और्णवीत्—अकारेत्संज्ञकान्छादनार्थक 'ऊर्णु' धातोलुङि, तिपि,
ल्लि लुङि इति च्लौ, 'ल्लेः सिचि' इति सिच्, अनुबन्धलोपे, आडजादीनामित्यादि,
भाटश्चेति वृद्धौ कृतायाम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि, तथा 'अस्तिसिचोऽ-
पृक्ते' इति-ईटि, अनुबन्धलोपे, इतथेतीकारलोपे 'ऊर्णु इ स् ई त्' इति दशायाम्
'इट ईटि' इति सलोपे, ऊर्णोतिविभाषा' इति वैकल्पिके वृद्धिपक्षे यथाप्रासावादिकार्ये
'और्णुवीत्' इति । 'विभाषोर्णोः' इति विकल्पेन डित्त्वपक्षे उवडादेशे 'और्णुवीत्'
इति । डित्त्वामावपक्षे गुणेऽवादेशे च कृते 'और्णुवीत्' इति ।

इति ष्रदादिप्रकरणम् ।



१--अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक पर हो तो ऊर्णुञ् धातु को गुण होता है । २--
इडादि सिच् परस्मैपद पर हो तो ऊर्णुञ् धातु को वृद्धि विकल्प से होती है ।

इत्यदादिप्रकरणम् ।



हु—हवन तथा भोजन अर्थ में ।

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २।४।७५ ॥ १ [अभ्यः परस्य-] शपः श्लुः स्यात् ।

श्लौ ६।१।१० ॥ २ धातोर्द्विस्तः । जुहोति । जुहुतः ।

अदभ्यस्तात् ७।१।४ ॥ ३ [अभ्यस्यात्परस्य-] झस्याऽस्त्यात् ।

हुश्नुवोरिति यण् । जुह्वति ।

भौह्रीभूहुवां श्लुवञ्च ३।१।३९ ॥ ४ अभ्यो लिट्याम्वा स्यादामि
श्लविवि कार्यञ्च । जुहवाञ्चकार-जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु-
जुहुतात् । जुहुताम् । जुह्वतु । जुहुधि । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् ।

जुसि च ७।३।८३ ॥ ५ इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यादजादौ जुसि । अजु-
हवुः । जुहुयात् । हुयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् । जिभी भये । विभेति ।

जुहुधि—हु धातलोटि, तस्य सिपि, अनुबन्धलोपे, कर्तरि शार्वात् शपि,
जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे, कुहोश्चुरिति हस्य
झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जकारे, सेर्हापिञ्चेति सेर्हादिशे, हुस्रल्भ्यो हेर्धिरिति
हेर्धित्वे कृते 'जुहुधि' इति ।

अजुहवुः—हुधातोलंडि तत्स्थाने 'झि' प्रत्यये, कर्तरि शबिति शपि, जुहोत्या-
दिभ्यः श्लुरिति श्लौ, 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे' कुहोश्चुरिति हस्य झकारे, 'अभ्यासे
चर्च' इति चत्वेन जकारे, सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चेति झेर्जुसि, जुसि चेति गुणे,
एचोऽयवायावः इत्यवादेशे, सस्य स्त्वे विसर्गे च 'अजुहवुः' इति ।

हुदानाज्वनयोः । लटि—जुहोति जुहुतः, जुह्वति । जुहोषि, जुहुधः, जुहुष ।
जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः । लिटि—जुहवाञ्चकार, जुहुवाञ्चक्रतुः, जुहुवाञ्चक्रुः ।
जुहवाञ्चकथं, जुहवाञ्चक्रथुः, जुहवाञ्चक्र । जुहवाञ्चकार—जुहवाञ्चकर, जुहवाञ्चकव,
जुहवाञ्चकम् । पञ्चे—जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः । जुहविष—जुहोष, जुहुवथुः, जुहुव ।
जुहाव—जुहव, जुहुविव, जुहुविम । लुटि—होता, होतारौ, होतारः । होतासि
होतास्थः, होतास्थ । होतास्मि, होतास्वः, होतास्मः । लृटि—होष्यति, होष्यतः,
होष्यन्ति । होष्यसि, होष्यथः, होष्यथ । होष्यामि, होष्यावः, होष्यामः । लोटि-
जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु । जुहुधि—जुहुतात्, जुहुतम्, जुहुत । जुहवानि,

१—जुहोत्यादि गण में पढ़े गये धातुओं से परे शप् का श्लु (लोप) होता है । २—
श्लु के विषय में धातु को द्वित्व होता है । ३—अभ्यस्त संज्ञावाले धातु से परे झ के स्थान में
अत् होता है । ४—लिट् लकार में भी, ही, भू, हु-इन धातुओं से आम् होता है विकल्प
से और आम् परे रहते धातु को श्लु की तरह कार्य होता है । ५—अजादि जुस् पर
हो तो इगन्त अङ्ग को गुण होता है । जिभी=भयभीत होना ।

भियोऽन्यतरस्याम् ६।४।११५ ॥ 'इकारो वा स्याद्धलादी किङ्कति सार्वधातुके । विभितः-विभीतः विभ्यति । विभयाञ्चकार-विभाय । भेता । भेष्यति । विभेतु । विभितात्-विभीतात् । अविभेत् । विभीयात्-विभियात् । भीयात् । अभेषीत् । अभेष्यत् ।

ह्री लज्जायाम् । जिह्नेति । जिह्नीतः । जिह्नियति । जिह्याञ्चकार-जिहाय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्नेतु । अजिह्नेत् । जिह्नीयात् । ह्रीयात् । अह्रेषीत् । अह्रेष्यत् ।

पृ पालनपूरणयोः ।

अतिपिपत्योश्च ७।४।७७ ॥ 'अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ । पिपति ।

उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२ ॥ 'अङ्गावयवोष्ठ्यपूर्वो य ऋत् तदन्त-स्याङ्गस्य उत् स्यात् ।

हलि च ८।२।७७ ॥ 'रेफवान्तस्य घातोरुपधाता इको दीर्घः स्या-

जुहवाव, जुहवाम । लङि-अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः । अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत । अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम । बि० लि०-जुह्यात्, जुह्याताम्, जुह्युः । जुह्याः, जुह्यातम्, जुह्यात । जुह्याम्, जुह्याव, जुह्याम । घा० लि०-ह्यात्, ह्यास्ताम्, ह्यासुः । ह्याः, ह्यास्तम्, ह्यास्त । ह्यासम्, ह्यास्व, ह्यास्म । लुङि-अहोषीत्, अहोष्टाम्, अहोषुः । अहोषोः, अहोष्टम्, अहोष्ट । अहोष्यम्, अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन् । अहोष्यः, अहोष्यतम्, अहोष्यत । अहोष्यम्, अहोष्याव, अहोष्याम ।

विभितात्-आदिनिटुडव इति 'नि' इत्संज्ञक भयार्थक भी धातोर्लोडि तत्स्थाने तिपि शपि 'जुहोत्यादिभ्यः' श्लौ, इति 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये, प्रस्य च बकारे, 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकह्रस्वोकारे 'एः' इति-इकारस्वोकारे, 'तुह्योस्तातङ्-' इति 'तु' इत्यस्य 'तातङ्' आदेशे, अनुबन्धलोपे, 'विभितात्' इति । इत्वाभावे 'विभीतात्' इति ।

१-हलादि कित्-ङित् सार्वधातुक परे रहते 'भी' धातु को इकार अन्तादेश विकल्प से होता है । ह्री=लज्जा । पृ=रक्षा तथा पूति । २-श्लु के विषय में 'ऋ' और 'पृ' धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है । ३-अङ्ग का अवयव ओष्ठस्थानिक वर्ण पूर्वमें हो, ऐसे ऋकारान्त अङ्ग को उकार अन्तादेश होता है । ४-हल् पर हो तो रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है ।

द्धलि पिपूर्तः । पिपुरति । पपार ।

शृद्ध्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२ ॥ ^१एषां लिटि ह्रस्वो वा स्यात् । पप्रतुः ।

ऋच्छत्यृताम् ७।४।११ ॥ ^२तौदादिकऋच्छेऋधातोऋतां च गुणः
स्याल्लिटि । पपरतुः । पपरुः ।

वृतो वा ७।२।३८ ॥ ^३वृङ् वृग्भ्यामृदन्ताच्चेतो दीर्घो वा स्यान्न तु
लिटि । परीता-परिता । परीष्यति—परिष्यति । पिपर्तुं । अपिपः । अपि-
पूर्ताम् । अपिपरुः । पिपर्यात् । पर्यात् । अपारीत् ।

सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४० ॥ ^४अत्रेटो न दीर्घः । अपारिष्टाम् ।
अपरीष्यत्—अपरिष्यत् । ओहाक् । त्यागे । जहाति ।

जहातेश्च ६।४।११६ ॥ ^५इत्स्यात्वाद्वा विडति सार्वधातुके । जहितः ।

ई हल्यघोः ६।४।११३ ॥ ^६इनाभ्यस्तयोरात् ईत् स्यात् सार्वधातुके
विडति हलि न तु घोः । जहीतः ।

पिपूर्तः—पृधातोलटि, तस्य स्थाने तसि, शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति श्लौ,
श्लोविति धातोद्धित्वे, 'पूर्वाम्यासत्वे, 'उरत्' इति ऋवर्णस्यात्वे रपरे, हलादिः शेष
इति हलो लोपे, अतिपिपर्त्योश्चेति अभ्यासस्येकारान्तादेशे 'उदोष्ठचपूर्वस्य' इत्युकारे
रपरे च कृते, हलि चेति सूत्रेण दीर्घे, सस्य रत्वे विसर्गे च 'पिपूर्तः' इति ।

पृ पालनपूरणयोः—(लटि) पिपर्ति, पिपूर्तः, पिपुरति । पिपर्षि, पिपूथं
पिपूथं । पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपूर्मः (लिटि परे वैकल्पिकह्रस्वविधानाद् ह्रस्वे यन्
क्रियते । पक्षे च ऋच्छत्यृतामिति गुणो विधीयते तेन पप्रतुः—पपरतुः इत्यादि
सिद्धयति) । लिटि—पपार, पप्रतुः-पपरतुः, पप्रुः-पपरुः । पपरिथ, पप्रथुः-
पपरथुः, पप्र-पपर । पपार-पपर, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम । लुटि लृटि च
वृतो वेति वैकल्पिको दीर्घो भवति तेन परिता परीता, परिष्यति—परीष्यति
इति । एवरूपेण सर्वंपुरुषेषु दीर्घः ।

१—लिट् लकार में 'शृ, वृ, पृ' धातुओं को ह्रस्व होता है, विकल्प से । २—लिट् लकार
में तौदादिक 'ऋच्छ' और ऋकारान्त धातुओं को गुण होता है । ३—लिट् से भिन्न लकार
में वृङ्, वृञ् तथा ऋदन्त धातु से परे इट् को दीर्घ होता है विकल्प से । ४—परस्मैपद
सम्बन्धी सिच् पर हो तो इट् को दीर्घ नहीं होता है । ओहाक् छोड़ना । ५—हलादि कित्
डित्-सार्वधातुक पर हो तो हा धातु को इकार अन्तादेश होता है विकल्प से । ६—हलादि
कित् डित् सार्वधातुक पर हो तो इना-प्रत्यय और अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार के स्थान
में ईकार होता है, घुसंज्ञक धातु को छोड़कर ।

इनाभ्यस्तयोरान्तः ६।४।११२ ॥ ^१अनयोरातो लोपः स्यात् किङ्ति सार्वधातुके । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहानु-जहितात्-जहीतात् ।

आ च हौ ६।४।११७ ॥ ^२जहातेर्हौ परे आ स्याच्चादिदीतो । जहाहि-जहिहि-जहीहि । अजहात् । अजहुः ।

लोपो यि ६।४।११८ ॥ ^३जहातेरालोपः स्याद्यादौ सार्वधातुके । जहात् । एलिङि । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् । माङ् माने शब्दे च ।

भृनामित् ७।४।७६ ॥ ^४भृञ् माङ् ओहाङ् एषां त्रयाणामभ्यासस्य इत्यात् श्लौ । मिमीते । मिमाते । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त । अमास्यत । ओहाङ् गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । डुभृञ् धारणपोषणयोः । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार-बभार । बभर्थ । बभृव । बिभंराञ्चक्रे । बभ्रे । भर्तासि-भतसि । भरिष्यति-

जहाहि-ओकार-ककारेत्संज्ञक हा घातोर्लोटि, तस्य सिपि कर्तरि शबिति शपि, सेह्यपिच्वेति सेहित्वे, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, श्लाविति घातोः ('हा' इत्यस्य) द्वित्वे, अभ्यासत्वे, ह्रस्वः इति ह्रस्वे, कुहोश्चुरिति हस्य इत्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति शस्य जकारे, 'आ च हौ' इति सूत्रेणाऽऽकारे सति 'जहाहि' इति । चकारादिदीतो भवत इति 'जहिहि-जहीहि' इति रूपद्वयं भवति । अतएव 'जहाहि-जहिहि-जहीहि रामभार्याम्' इति काव्यप्रयोगः ।

बिभर्ति-डुकारणकारेत्संज्ञक भृघातोर्लोटि, तस्य स्थाने तिपि, कर्तरि शपि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति घातोर्द्वित्वे, अभ्यासत्वे, 'भृनामित्' इत्यभ्यास-ऋकास्येकारे, 'मि भृ ति' इति स्थिते 'अभ्यासे चर्च' इति-अभ्यास-भकारस्य वकारे, सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणे रपरे च कृते 'बिभर्ति' इति ।

१-कित् या ङित् सार्वधातुक पर हो तो 'इना'निष्ठ एवं अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार का लोप होता है । २-हि पर हो तो हा धातु को आकार और (चकारात्) इकार एवं ईकार अन्त आदेश होते हैं । ३-यकारादि सार्वधातुक पर हो तो हा धातु के आकार का लोप होता है । माङ्-किसी वस्तु का माप करना; शब्द करना । ४-श्लु के विषय में भृञ्, माङ् ओहाङ्-इन तीनों धातुओं के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है । ओहाङ्=जाना । डुभृञ्=धारण तथा पोषण करना ।

भरिष्यते । विभर्तु । विभराणि । विभृताम् । अविभः । अविभृताम् ।
अविभरुः । अविभृत । विभृयात् । विभ्रीत । भ्रियात् । भृषीष्ट । अभाषीत् ।
अभृत । अभरिष्यत् । अभरिष्यत । डुडाञ् दाने । ददाति । दत्तः । ददति ।
दत्ते । ददाते । ददते । ददौ । ददे । दातासि । दातासे । दास्यति । दास्यते ।
ददातु ।

दाधा ऽध्वदाप् १ । १ । २० ॥ ^१दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञकाः
स्युर्दाप्दैपौ विना । ध्वसोरित्येत्वम् । देहि । दत्तम् । अददात् । अदत्त ।
दद्यात् । ददीत । देयात् । दासीष्ट । अदात् । अदाताम् । अदुः ।

स्थाध्वोरिच्च १ । २ । १७ ॥ ^२अनयोरिदन्तादेशः स्यात् सिच्च
कित्स्यादात्मनेपदे । अदित । अदास्यत् । अदास्यत । डुधाञ् धारणपोषणयोः ।
दधाति ।

दधस्तथोश्च ८ । २ । ३८ ॥ ^३द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धातोर्बंशो भष्
स्यात्तथोः स्ध्वोश्च परतः । धत्तः । दधति । दधासि । धत्थः । धत्थ । धत्ते ।
दधाते । दधते । धत्से । धद्ध्वे । ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च । धेहि । अद-

अविभः—भृधातोर्लङि, तस्य सिपि, अनुबन्धलोपे, शपि, तस्य श्लौ, तथा
श्लाविति द्वित्वे, लुङ्लङ्-इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, द्वित्वाभ्यासादिकार्ये, 'अभ्यासे
चर्च' इति मस्य बत्वे, 'भृनामित्' इत्यभ्यासऋकारस्येकारे, गुणे रपरि, 'इत्थ'
इति तिप्निष्ठेकारस्य लोपे, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे, रेफस्य विसर्गे च कृते 'अविभः'
इति । अविभरित्यत्र सर्वं पूर्व-प्रयोगवत्केवलं 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति श्लेर्जुंसि,
जकारस्य लोपे, सस्य रुत्वविसर्गौ चेति विशेषः ।

देहि—दानार्थक दा धातोर्लोपि तत्स्थाने सिपि, कर्तरि शबिति शपि, जुहोत्या-
दिभ्यः श्लुरिति शपः श्लौ, 'दाधाध्वदाप्' इति धातोर्घुसंज्ञायां 'श्लौ' इति धातो-
र्द्वित्वे, अभ्यासादिकार्ये, सेर्हर्षिच्चेति सेह्यदिशे, 'द दा हि' इति स्थिते, घुसंज्ञात्वेन
धातोराकारस्य 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'देहि' इति ।

डुदाञ्=देना ।

१—दाप् और दैप् धातु को छोड़कर दा-रूप एवं धा-रूप धातुओं की घु-संज्ञा होती है ।
२—आत्मपदेन में स्था-धातु और घु-संज्ञक धातु को इकार अन्तादेश होता है एवं सिच्
भी कित् संज्ञक हो जाता है । डुधाञ्=धारण तथा पोषण रक्षण करना । ३—त या थ एवं
स या ध्व पर हों तो द्विरुक्त (द्वित्व किये गये) झषन्त धातु के बश् को भष् होता है ।
गिजिर्=पवित्र करना, पोषण-रक्षण करना ।

धात् । अधत्त । दध्यात् । दधीत । धेयात् । धासीष्ट । अधात् । अधित ।
अधास्यत् । अधास्यत । णिजिर् शौचपोषणयोः । १ इर इत्संज्ञा वाच्या ।

णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७ । ४ । ७५ ॥ २ णिज्विज्विधामभ्यासस्य
गुणः स्यात् श्लौ । नेनेक्ति । नेनिक्तः । नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज ।
तिनिजे । नेक्ता । नेक्ष्यति । नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्ध ।

नाऽभ्यस्तस्याऽधि पिति सार्वधातुके ७ । ३ । ८७ ॥ ३ [अभ्यस्तस्याधि
पिति सार्वधातुके] उदूपधगुणो न स्यात् । नेनिजानि । नेनिकाम् । अने-
नेक् । अनेनिकाम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् ।
नेनिजीत । निज्यात् । निक्षीष्ट ।

इरितो वा ३ । १ । ५७ ॥ ४ इरितो धातोश्च्छेरङ् वा स्यात्परस्मैपदेषु ।
अनिजत् । अनेक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत ।

॥ इति जुहोत्याद्यः ॥

५७०६५

अथ दिवादिप्रकरणम्

५ दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु ।

दिवादिभ्यः श्यन् ३ । १ । ६९ ॥ ५ [एभ्यः श्यन् स्यात्कर्त्रर्थे सार्व-
धातुके परे] । शपोऽपवादः । हलि चेति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव ।
देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् ।
अदेविष्यत् । एवं षिवु तन्तुसन्ताने । नृती गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त ।
नर्तिता ।

१—इर् की 'इत्संज्ञा' कहनी चाहिये । २—इलु के विषय में णिज् विज् एवं विष् धातुओं
के अभ्यास को गुण होता है । ३—अजादि पिस्सार्वधातुक पर हो तो, अभ्यस्तसंज्ञक धातु
को लघूपध गुण नहीं होता है । ४—परस्मैपद में इरित् (इर् इत्संज्ञक) धातु से परे च्लि
को अङ् विकल्प से होता है ।

॥ इति जुहोत्यादिप्रकरणम् ॥

५७०६५

५—दिवु=खेलना, जय की इच्छा, व्यवहार करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना
मदमत्त होना, शयन करना, इच्छा करना, गमन करना (गति शब्द से ज्ञान, गमन
प्राप्ति अर्थ सभी जगह जानना, प्रकरणानुसार अर्थ सङ्गत करना चाहिये) । ६—कर्त्रर्थक
सार्वधातुक पर हो तो दिवादि-गण-पठित धातुओं से श्यन् प्रत्यय होता है । यह शप् का
वाधक है । षिवु=सिलाई करना, सुतों का विस्तार प्रसार करना । नृती=नाचना ।

रधादिभ्यश्च ७ । २ । ४५ ॥ १ [रष् , नश्, तृप् , दृप् , द्रुह् , मुह् , ण्णुह् , णिणह्] एभ्यो वलाद्यार्ध-धातुकस्य वेट् । नेशिथ ।

मस्जिनशोर्झलि ७ । १ । ६० ॥ २नुम् स्यात् । ननष्ट । नेशिव-नेश्व । नेशिम-नेश्म । नशिता नंष्टा । नशिष्यति-नङ्क्षयति । नश्यतु । अनश्यत् । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । क्रादिनिय-मादिट् । सुषुविषे । सुषुविवहे । सुषुविमहे । सविता-सोता । दूङ् परितापे । दूयते । दीङ् क्षये । दीयते ।

दीङो युडचि ङ्ङिति ६ । ४ । ६३ ॥ ३दीङः परस्याऽजादेः ङ्ङित आर्ध-धातुकस्य युट् स्यात् । ४वुग्गुटावुवङ्गयोः सिद्धौ वक्तव्यौ । दिदीये ।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ६ । १ । ५० ॥ ५एषामात्वं स्याल्ल्यपि, चादशित्येज्निमित्ते । दाता । दास्यति । ६स्थाध्वोरिच्च दीङः प्रतिषेधः । अदास्त । डीङ् विहायसा गतौ । डीयते । डिङ्ये । डयिता । पीङ् पाने । पीयते । पेता । अपेष्ट । माङ् माने । मायते । ममे । जनी प्रादुर्भवि ।

‘नेशिथ ननष्ट’—अत्र—इट्पक्षे ‘नश्-नश्’ इति द्वित्वे कृते, रधादिभ्यश्चेति विकल्पके इटि कृते एत्वाभ्यासलोपी भवत इति ‘नेशिथ’ इत्यस्य सिद्धिः । इङ्मावे नत्वाभ्यासलोपी । ‘मस्जिनशोर्झलि’ इति नुमि, तस्यानुस्वारे, व्रथेत्यादिना षस्य षत्वेन ‘ननष्ट’ इत्यस्य सिद्धिः ।

दिदीये—दीङ् क्षये घातोर्लिटि-आत्मनेपदत्वात्प्रत्यये, घातोर्द्वित्वेऽभ्यासादि-कार्ये, लिटस्तज्ञयोरिति एत्वे कृते, ‘दि दी ए’ इति स्थिते, ‘दीङो युडचि’ इति युटि, युटोऽसिद्धत्वेन ‘एरनेकाच-’ इति यणि प्राप्ते—आह (वुग्गुटावुवङ्गयोः सिद्धौ वक्तव्यौ) इति युटः सिद्धत्वेनाचपरत्वाभावात् यण् ‘दिदीये’ इति ।

१-रधादि (रष् , नश् , तृप् , दृप् द्रुह् , मुह् , ण्णुह् , णिणह्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को इट् होता है विकल्प से । २-झल् पर हो तो मस्ज् तथा नश् धातु को नुम् का आगम होता है । षूङ्=पैदा करना, जन्माना । दूङ्=दुःखी होना । दीङ्=नाश होना, कम होना । ३--दीङ् धातु से परे अजादि किय, डिय आर्धधातुक को युट् का आगम होता है । ४-उवङ् या यण् करना हो तो बुक् तथा युक् सिद्ध ही कहना चाहिये (रहता है) । ५-ल्यप् प्रत्यय पर हो तो मीञ् , मिञ् , एवं दीङ् धातुओं को आत्व होता है, चकाराच-शित् से भिन्न एज्-निमित्तक प्रत्यय परे रहते भी आत्व होता है । ६--‘स्थाध्वोरिच्च’ सूत्र से प्राप्त इत्त्व दीङ् धातु को नहीं होता । डीङ्=आकाश मार्ग से जाना । पीङ्=पीना । माङ्=नापना । जनी=प्रकट होना, उत्पन्न होना ।

ज्ञाजनोर्जा ७ । ३ । ७९ ॥ ^१अनयोजदिशः स्याच्छिति । जायते ।
जज्ञे । जनिता । जनिष्यते ।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ६१ ॥ ^२एभ्यश्च्ले-
श्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे ।

चिणो लुक् ६ । ४ । १०४ ॥ ^३चिणः परस्य [तशब्दस्य] लुक्
स्यात् ।

जनिवध्योश्च ७ । ३ । ३५ ॥ ^४अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि
ञिणिति कृति च । अजनि-अजनिष्ट । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे ।
अदीपि-अदीपिष्ट । पद् गतौ । पद्यते । पदे । पत्ता । पत्सीष्ट ।

चिण् ते पदः ३ । १ । ६० । ^५पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे ।
अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । विव सत्तायाम् । विद्यते । वेत्ता ।

जायते—जन् घातोर्लटि, तत्स्थाने त प्रत्यये, कर्तरि शबपवाद्रको द्विवादिभ्यः
इयनिति इयनि, अनुबन्धलोपे, 'ज्ञाजनोर्जा' इति 'जा' आदेशे, टित् आत्मनेपदानाम्-
इत्येत्वे 'जायते' इति ।

जज्ञे—जन् घातोर्लटि त-प्रत्यये, घातोर्द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, लिटस्त-
योरित्येत्वे, 'ज जन् ए' इति स्थिते, 'गमहनजनसन-०' इत्युपघालोपे कृते
'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'जज्ञे' इति ।

अजनि—जन् घातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'दीपजन-०'
इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'लुङ्-' इत्यङागमेऽनुबन्धलोपे 'अजन् इ त' इति
स्थिते, 'चिणो लुक्' इति तलोपे, 'अत उपधायाः' इति प्रासायाः वृद्ध्याः
'जनिवध्योश्च' इति निषेधे 'अजनि' इति ।

अपादि—पद् घातोर्लुङि त-प्रत्यये, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'लुङ्लङ्-०'
इत्यङागमेऽनुबन्धलोपे, च्लौ, सिचम्प्रवाध्य 'चिण् ते पदः' इति च्लेश्चिणि,
अनुबन्धलोपे, 'चिणो लुकि' इति तलोपे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां
'अपादि' इति ।

१--सित् पर हो तो ज्ञा और जन् धातु को 'जा' आदेश होता है । २--एकवचन 'त'
शब्द पर हो तो दीप, जन, बुध, पूरी, तायि, प्यायि धातुओं से परे च्लि को चिण् होता है
विकल्प से । ३--चिण् से परे जो 'त' उसका लोप होता है । ४--चिण्, चित्, या कृत्
प्रत्यय पर हो तो जन् और वध् धातु के उपधा रूप अच् को वृद्धि नहीं होती है । दीपी=
प्रकाश होना । पद्=जाना । ५--'त' शब्द पर हो तो पद् धातु से परे च्लि को चिण् होता

अवित्त । बुध अवगमने । बुध्यते । बोद्धा । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि-
अबुद्ध । अभुत्साताम् । युध सम्प्रहारे । युयुधे । योद्धा । अयुद्ध । सृज
विसर्गे । सृज्यते । ससृजे । ससृजिषे ।

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६ । १ । ५८ ॥ 'अनयोस्मागमः स्याज्झलादाव-
किति । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । सृक्षीष्ट । असृष्ट । असृक्षाताम् । मृष तितिक्षा-
याम् । मृष्यति—मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिथ । ममृषिषे । मर्षितासि । मर्षि-
तासे । मर्षिष्यति—मर्षिष्यते ।

गह बन्धने । नह्यति । चह्यते । ननाह । नेहिथ-ननद्ध । नेहे । नद्धा ।
नत्स्यति । अनात्सीत्—अनद्ध ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

—:०:—

अवित्त—विद् धातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, च्लौ, च्लेः सिजादेशोऽनुबन्धलोपे,
अडागमेऽनुबन्धलोपे, लिङ्सिचाविति सिचः कित्वेन ङ्ङिति चेति गुणामावे, 'झलो
झलि' इति सलोपे, खरि चेति चत्वे, दस्य तकारे 'अवित्त' इति ।

अबोधि—बुध् धातोर्लुङि, तस्य तप्रत्यये, च्लि लुङीति च्लौ, धडागमे,
अनुबन्धलोपे, 'दीपजन—' इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'चिणो लुक्' इति 'त'
प्रत्ययस्य लोपे, पुगन्तलघुपधस्येति गुणे 'अबोधि' इति ।

सृज विसर्गे—यद्यप्यत्र धात्वर्थो विसर्गस्त्यागरूपो निर्दिष्टस्तथापि उद्-विपूर्वक-
सृजधातोरेव सोऽर्थोऽत एवाहमुत्सृजे 'विसृजे' इति प्रयोगः । केवलस्य तु
निर्माणमर्थः ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

—:०:—

हे । विद्=होना, रहना । बुध=जानकारी होना । युध=लड़ना । सृज=त्याग करना ।

१—कित् भिन्न झलादि पर हो तो सृज्, दुश् धातु को अम् का आगम होता है ।
मृष=सहना, बरदाइत करना । गह=बांधना ।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

→०←

अथ स्वादिप्रकरणम्

धुञ् अभिषवे ।

स्वादिभ्यः श्नुः ३ । १ । ७३ ॥ ^१[स्वादिभ्यः श्नुः स्यात्कर्त्रर्थे सार्व-
धातुके परे] । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः । हुश्नुवोरिति यण् । सुन्व-
न्ति । सुन्वः—सुनुवः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुन्वहे—सुनुवहे । सुषाव-
सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि । सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ।

स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७ । २ । ७२ ॥ ^२एभ्यस्सिच इट् स्यात्पर-
स्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट । चिञ् चयने । चिनोति । चिनुते ।

विभाषा चेः ७ । ३ । ५८ ॥ ^३अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात्सिनि
लिटि च । चिकाय—चिचाय । चिक्ये—चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट ।

स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते ।

शर्पूर्वाः खयः ७ । ४ । ६१ ॥ ^४अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्तेऽन्ये
हलो लुत्यन्ते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । गुणोतीति गुणः । स्तर्यात् ।

ऋतश्च संयोगादेः ७ । २ । ४३ ॥ ^५ऋदन्तात्संयोगादेः परयोर्लिङ्-
सिचोरिङ् वा स्यात्तडि । स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट—अस्तृत । धूञ्
कम्पने । धूनोति । धूनुते । दुधाव । स्वरतीति वेट् । दुधविथ-दुधोथ ।

श्च्युकः किति ७ । २ । ११ ॥ ^६श्चित्र एकाच्च उगन्ताच्च गित्कितोरिण्
न स्यात् । परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भ-

सुनुवः—सुन्वः—अत्र 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्-०' इति-उकारलोपो वैकल्पिकः ।
चिञ् चयने । लिटि—चिनोति चिनुते, इत्यादि । विभाषा चेरिति कुत्वस्य विकल्पेन
लिटि चिचाय—चिकाय, चिच्ये-चिक्ये इति ।

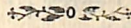
तस्तरतुरित्यत्र ऋतश्च संयोगादेरिति गुणः । पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसाम-

धुञ्=स्नान करना, सोमलता को कूटना, मदिरा बनाना ।

१—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो स्वादिगण पठित धातुओं से 'श्नु' प्रत्यय होता है ।
२—परस्मैपद में स्तु, सु, धूञ्-धातुओं से परे सिच् को इट् का आगम होता है ।
चिञ्=एकत्र करना । ३—सन् एवं लिट् पर हो तो अभ्यास से परे चिञ् धातु को कुत्व
विकल्प से होता है । स्तृञ्=ढाँकना । ४—अभ्यास के शर्-पूर्वक खयों का शेष होता है,
अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं । ५—तड् (आत्मनेपद) परे रहते ऋदन्त संयोगादि
धातु से परे लिङ् और सिच् को इट् का आगम होता है । धूञ्=कम्पन । ६—गित्

सामर्थ्यादिनेन निषेधे प्राप्ते, क्रादिनियमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुवे । अधा-
वीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । अधविष्यत्—अधोष्यत् । अधविष्यताम्—अधो-
ष्यताम् । अधविष्यत-अधोष्यत ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



अथ तुदादिप्रकरणम्

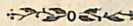
तुद व्यथने ।

तुदादिभ्यः शः ३ । १ । ७७ ॥ १^१ तुदादिभ्यः शः स्यात्कर्त्रर्थे सार्व-
धातुके परे] शपोऽपवादः । तुदति । तुदते । तुतोद । तुतोदित् । तुतुदे ।
तोत्ता । अतौत्सीत् । अतुत्त । णुद प्रेरणे । नुदति । नुदते । नुनोद । नोत्ता

र्थादित्यस्यायमर्थो यत् 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इति नियमेन इड्विधायकसूत्राणि
पठित्वैव तन्निषेधवचनानि पठनीयानि किन्तु पाणिनिना-अष्टाध्याय्यामिनिषेध-
कान्येव प्राक् पठितानि, तदनु तद्विधायकानि-इति विध्यपेक्षया निषेधानां बलीयस्त्वं
सूचितम् । अत एव परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा प्रकृतसूत्रेण निषेधः प्राप्तो
भवतीत्यर्थः ।

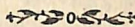
धूञ् कम्पने—लटि-धूनोति, धूनुते इत्यादि । लिटि—दुधाव-दुधुवे इत्यादि ।
लुटि—स्वरत्यादिनेड्विकल्पेन धोता—धविता । लृटि—धविष्यति, धोष्यति । पक्षे
धविष्यते, धोष्यते इत्यादि । लोटि—धूनोतु, पक्षे धूनुताम्—इत्यादि । लङि—
ग्रधूनोत, पक्षे अधूनुत-इत्यादि । वि० लि०—धूनुयात् पक्षे धून्वीत-इत्यादि ।
श्रा० लि०—धूयात्, पक्षे धविषीष्ट-धोषीष्ट-इत्यादि । लृङि—अधावीत्, पक्षे
अधविष्ट-अधोष्ट इत्यादि । लृङि—अधविष्यत्-अधोष्यत् । पक्षे अधविष्यत
अधोष्यत इत्यादि ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



या क्ति पर में हो तो श्रिञ् धातु और एकान् उगन्त धातु को इट् नहीं होता है ।

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥



तुद=कष्ट देना ।

१—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो तुदादिगण पठित धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है ।

॥ शुद=प्रेरणा करना ।

११ ल० कौ०

भ्रस्ज पाके । ग्रहियेति सम्प्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन शः । शस्य जश्त्वेन जः । भृज्जति । भृज्जते ।

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६ । ४ । ४७ ॥ 'भ्रस्जे रेफस्योप-
धायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके । मित्वादन्त्यादचः परः । स्थान-
षष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जिथ—बभर्ष्ट ।
बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जिथ । स्कोरिति सलोपः । व्रश्चेति षः । बभ्रष्ट । बभर्जे-
बभ्रज्जे । भर्ष्ठा—भ्रष्टा । भर्क्ष्यति—भ्रक्ष्यति । किङ्कति रमागमं बाधित्वा
सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन । भृज्यात् । भृज्यास्ताम् । भृज्यासुः ।
भर्क्षीष्ट—भ्रक्षीष्ट । अभर्क्षीत्—अभ्रक्षीत् । अभर्ष्ट—अभ्रष्ट । कृष विलेखने ।
कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषे ।

मित्वादन्त्यादिति—यद्ययं 'रम्' आगमस्तदा रोपधयोः स्थाने न स्यात्, यदि चादेशस्तदान्त्यादचः परो न स्यादित्याशङ्का (विवाद) परिहारार्थं समाधत्ते-
मित्वादित्यादि ।

किङ्कतीति—भ्रस्जेराशीलिङि परत्वात्सम्प्रसारणं बाधित्वा रमागमे भर्क्ष्यादिति
स्यादत आह—किङ्कतीति । रमागमस्यावकाशः भर्ष्ठा, भर्क्ष्यति—इति । सम्प्रसारण-
स्यावकाशः इज्यात् उच्यते—इति । सम्प्रसारणं भवति पूर्वविप्रतिषेधेनेति भावः ।

भ्रस्ज धातोर्लिटि थलि चत्वारि रूपाणि—भ्रस्जधातोर्लिटि तत्स्थाने थलि 'लिटि
धातोः—' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्यं 'हलादिः शेषः' इति रसजानां लोपे, 'भ्रम्यासे
चर्च' इति मस्य बत्वे, 'अजन्तोऽकारवान् वा' इति नियमेन वैकल्पिके इटि, अनु-
बन्धलोपे, 'भ्रस्जो रोपधयोः—०' इति वैकल्पिके रमि—अनुबन्धलोपे, 'स्कोः संयो-
गाद्योः' इति सलोपे, 'बभर्जिथ' इति । व्रश्चेति षत्वे, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे च कृते
'बभर्ष्ट' इति । रमभावपक्षे इटि सस्य श्चुत्वेन शकारे, शस्य च जश्त्वेन जकारे,
बभ्रज्जिथ इति । इडभावे स्कोरिति सलोपे, व्रश्चेति जकारस्य शकारे, ष्टुना ष्टुरिति
ष्टुत्वेन थकारस्य ठकारे 'बभ्रष्ट' इति ।

भर्क्षीष्ट—भ्रस्जधातोराशिषि लिङि तप्रत्यये, लिङः सीयुडिति सीयुटि अनु-
बन्धलोपे, सुट् तिथोरिति सुट्यनुबन्धलोपे, लोपो व्योरिति यलोपे, 'भ्रस्ज् सी स्

भ्रस्ज=पकाना, भूनना ।

१--आर्धधातुक पर हो तो भ्रस्ज धातु के रेफ और उपधा के स्थान में रम् का आगम
होता है विकल्प से । २--कित् या डित् पर हो तो रमागम को बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से
सम्प्रसारण ही होता है । कृष=हल जोतना, खेती करना ।

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ६ । १ । ५९ ॥ ^१उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याऽन्वा स्याज्जलादावकिति । ऋष्टा-कृष्टा । कृक्षीष्ट । ^२स्फु-शमृशकृषत्तृपदृपां च्लेः सिञ्चा वाच्यः । अक्राक्षीत्-अकार्षीत्-अकृक्षत् । अकृष्ट । अकृक्षाताम् । अकृक्षत । क्सपक्षे-अकृक्षत । अकृक्षाताम् । अकृक्षन्त । मिल सङ्गमे । मिलति-मिलते । मिमेल । मेलिता । अमेलीत् । मुच्लृ मोचने ।

शे मुचादीनाम् ७ । १ । ५९ ॥ ^३मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां मुम् स्यात् शे परे । मुञ्चति । मुञ्चते । मोक्ता । मुच्यात् । मुक्षीष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमुक्षाताम् । लुप्लृ छेदने । लुम्पति । लुम्पते । लोप्ता । अलुपत् । अलुप्त । विद्लृ लाभे । विन्दति । विन्दते । विवेद-विविदे । व्याघ्रभूमिंमते सेट् । वेदिता । भाष्यमतेऽनिट् । परिवेत्ता । षिच क्षरणे । सिञ्चति । सिञ्चते ।

त' इति स्थिते, 'अस्जो-' इति, वैकल्पिके रमि, अनुबन्धलोपे, व्रश्चेति जस्य पत्वे, 'षढोः कः सि' इति षकारस्य ककारे, 'आदेश प्रत्यययोः' इति सीयुटः सकारस्य पत्वे, ष्टुत्वे च कृते 'मर्क्षीष्ट' इति । रममावे 'भ्रक्षीष्ट' इति ।

ऋष्टा—ऋष धातोलुंठि तस्य तिपि 'स्यातासी-' इति तासि-अनुबन्धलोपे, 'लुटः प्रथमस्य-' इति डादेशे, डित्वसामर्थ्यादिमस्यापि टेलोपे, 'अनुदात्तस्य चर्दु-पधस्यान्यतरस्याम्' इति 'अमि' अनुबन्धलोपे, 'इको यणचि' इति यणि, ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वे च कृते 'ऋष्टा' इति । अममावे गुणे कृते 'कर्ष्ठा' इति ।

कृष् धातोलुंठि परस्मैपदे त्रीणि रूपाणि—कृष् धातोलुंठि, तत्स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, च्लि लुडीति च्लो, च्लेः नित्य-सिजादेशे प्राप्ते, 'स्पृशमृश-' इति वार्तिकबलेन वैकल्पिके सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, 'लुङ्लङ्-०' इत्यङागमेऽनुबन्धलोपे, 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य-' इति 'अमागमे' अनुबन्धलोपे, 'अ कृ अ ष् स् ति' इति स्थिते, यणि, 'षढोः कः सि' इति षस्य ककारे, आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' इतीङागमे, अनुबन्धलोपे, वदव्रजेति वृद्धौ क्षसंयोगिक्षकारे जाते,

१--कित् से भिन्न झलादि पर हो तो उपदेश में अनुदात्त जो ऋदुपध धातु उसको अम् का आगम विकल्प से होता है । २--स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप्, दृप्-धातुओं से परे च्लि को सिच् विकल्प से होता है । मिल=समागम । मुच्लृ=झोड़ना, त्याग करना । ३--'श' पर हो तो मुचादि (मुच्, लिप्, विद्, लुप्, सिच्, कृत्, खिद्, पिश्) धातुओं से नुम् का आगम होता है । लृप्लृ=काटना, लुप्त करना । विद्लृ=प्राप्त करना । सिच्=सींचना ।

लिपिसिचिह्नश्च ३।१।५३ ॥ 'एभ्यश्च्लेरङ्' स्यात् । असिचत् ।

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्यात् ३।१।५४ ॥ 'लिपिसिचिह्नः परस्य च्लेरङ्' वा [स्यात् तडि] । असिचत-असिक्त । लिप उपदेहे । उपदेहो वृद्धिः । लिम्पति । लिम्पते । लेप्ता । अलिपत् । अलिपत । अलिप्त ।

॥ इत्युभयपदिनः ॥

कृती छेदने । कृन्तति । चकर्त । कर्तिता । कर्तिष्यति-कत्स्यति । अकर्तीत् । खिद परिघाते । खिदति । चिखेद । खेत्ता । पिश अवयवे । पिशति । पेशिता । ओन्नश्चू छेदने । वृश्चति । वन्नश्च । वन्नश्चिथ-वन्नष्ट । वन्नश्चिता-वन्नष्टा । वन्नश्चिष्यति-वन्नश्यति । वृश्च्यात् । अन्नश्चीत्-अन्नाक्षीत् । व्यच् व्याजीकरणे । विचति । विव्याच । विविचतुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्यचीत्-अव्याचीत् । व्यचेः कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्तते, अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात् । उञ्छ उञ्छे । उञ्छति । 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः ।

'अक्राक्षीत्' इति । अमभावे 'अकार्षीत्' इति । सिजभावे क्सकृते 'अकृक्षत्' इति ।

'अकृष्ट' इत्यत्र लिङ्सिचो किताविति कित्वादम् न भवतीति ।

कर्तिष्यति-कत्स्यति—अत्र 'सेऽसिचि-' इति-इङ् विकल्पः ।

वन्नष्ट—अत्र श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्स्कोरिति संयोगादिलोपे, वन्नश्चेति षत्वे च कृते तत्सिद्धिः ।

अव्याचीत्—व्यच् धातोर्लुङि तिपि, अडागमेऽनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, तस्य सिजादेशेऽनुबन्धलोपे, 'आर्धधातु-०' इति इडागमेऽनुबन्धलोपे, 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' इतीट्यनुबन्धलोपे, 'इट ईटि' इति सस्य लोपे, अतो हलादेरिति वा वृद्धौ सवर्णदीर्घे च कृते 'अव्याचीत्' इति । वृद्धयभावे 'अव्यचीत्' इति ।

व्यचेः कुटादित्वाभिति—अत्रानसीति पर्युदासः । तथा च अस्मिन्ने अस्सदृशे प्रत्यये परे व्यचेः कुटादित्वमित्यर्थः । एवञ्च 'गाङ्कुटादिभ्य-०' इति तासादेङि-द्वद्भावे ग्रहियेति सम्प्रसारणे 'विचिता' इति स्यादिति चेन्न-सादृश्यस्य कृत्वेन ग्रहणात्, तथा च अस्मिन्न-कृत्प्रत्यये परे एव तत्प्रवृत्तिरिति भावः ।

१—लिप्, सिच् एवं हेच् धातु से परे च्लि को अङ् होता है । २—तङ् पर हो तो लिप, सिच् और हेच् धातु से परे च्लि को अङ् विकल्प से होता है ।

कृती=काटना, अलग-अलग करना । खिद=दुःख देना, दुःखी होना । पिश=चूर्ण करना, कुद् भी अनेक बार करना । व्यच्=वहाना करना, ढगना । उञ्छि=कणों को एकत्र करना ।

ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । ऋच्छति । ऋच्छत्यृतामिति गुणः ।
द्विहल्ग्रहणस्याजेकहलुपलक्षणत्वान्नुट् । आनच्छ । आनच्छंतुः । ऋच्छिता ।
उज्ज उत्सर्गे । उज्जति ।

लुभ विमोहने । लुभति ।

तीषसहलुभरुषारिषः ७ । २ । ४८ ॥ 'इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्ध-
धातुकयेड् वा स्यात् । लोभिता-लोब्धा । लोभिष्यति । तृप् तृम्फ तृप्तौ ।
तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति । ॐ^३शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः ।
आदिशब्दः प्रकारे । तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः । ततृम्फ ।
तृप्यात् । मृड पृड सुखने । मृडति । पृडति । शुन गतौ । शुनति । इषु
इच्छायाम् । इच्छति । एषिता-एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । एषीत् । कुट
कौटिल्ये । गाङ्कुटादीति डि-त्वम् । चुकुटिथ । चुकोट-चुकुट । कुटिता ।
पुट संश्लेषणे । पुटति । पुटिता । स्फुट विकसने । स्फुटति । स्फुटिता ।

स्फुर स्फुल सञ्चलने । स्फुरति स्फुलति ।

स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निवभ्यः ८ । ३ । ७६ ॥ 'पत्वं वा स्यात् । निःस्फु-
रति-निःष्फुरति । णू स्तवने । परिणूतगुणोदयः । नुवति । नुनाव । नुविता ।
दुमस्जो शुद्धौ । मज्जति । ममज्ज । ममज्जिथ । मस्जिनशोरिति नुम् ।
ॐ^४मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः । संयोगादिलोपः । ममङ्क्थ । मङ्क्ता ।
मङ्क्ष्यति । अमाङ्क्षीत् अमाङ्क्ताम् । अमाङ्क्षुः । रुजो भङ्गे । रुजति ।
रोक्ता । रोक्ष्यति । अरौक्षीत् । भुजो कौटिल्ये । रुजिवत् । विश प्रवेशने ।
विशति । मृश आमर्शने । आमर्शनं स्पर्शः । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतर-

ऋच्छ=गति, इन्द्रियों की निश्चेष्टता-स्तब्धता, तथा मूर्तिभाव, कठिनाई । उज्ज=छोड़ना ।
लुभ=विमोहित होना (करना) ।

१—इच्छत्यादि (इष्, सह्, लुभ्, रुष्, रिप्)-धातुओं से परे तादि आर्धधातुक को
विकल्प से इट् होता है । २—श पर हो तो तृम्फादि (नुम्वान् तृम्फसदृश) धातुओं को
नुम् का आगम होता है । मृड, पृड=सुखी होना । शुन=गति । इषु=अभिलाषा करना । कुट=
कुटिलता करना, धोखा देना । पुट=दो या अनेक को संयुक्त करना । स्फुट=खिलना, विकसित
होना । स्फुर, स्फुल=अंगों का फड़कना, जान आना । ३—निर्, नि वा वि उपसर्ग से परे
स्फुर और स्फुल धातु के सकार को पत्व होता है, विकल्प से । णु=प्रशस्त गुणों का वर्णन
करना (स्तुति करना) । मस्ज=शुद्ध होना, डुबकी लगना, इत्यादि । ४—मस्ज धातु के
अन्त्य से पूर्व में नुम् होता है (कहना चाहिये) । रुज=तोड़ना, दुःखी करना (होना) ।
मुज=टेंटा होना, धोखा देना । विश=प्रवेश करना (होना) । मृश=स्पर्श करना, छूना ।

स्याम् । अत्राक्षीत्-अमार्क्षीत्-अमृक्षत् । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । सीद-
तीत्यादि । शद्लृ शातने ।

शदेः शितः १ । ३ । ६० ॥ ^१शिद्भाविनोऽस्मात्तडानौ स्तः । शीयते ।
शीयताम् । अशीयत । शीयेत । शशाद । शत्ता । शत्स्यति । अशदत् ।
अशत्स्यत् ।

कृ विक्षेपे ।

ऋत इद्घातोः ७ । १ । १०० ॥ ^२ऋदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात् ।
किरति । चकार । चकरतुः । चकरुः । करीता-करिता । कीर्यात् ।

किरतौ लवने ६ । १ । १४० ॥ ^३उपात्किरतेः सुट् स्याच्छेदने । उप-
स्किरति । अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात् पूर्व इति वक्तव्यम् । उपास्किरत् ।
उपचस्कार ।

हिंसायां प्रतेश्च ६ । १ । १४१ ॥ ^४[उपात्प्रतेश्च] किरतेः सुट् स्याद्धि-
सायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति । गृ निगरणे ।

अचि विभाषा ८ । २ । २१ ॥ ^५गिरते रेफस्य लो वा स्यादजादौ
प्रत्यये । गिरति-गिलति । जगार-जगाल । जगरिथ । गरीता-गरिता ।
गलीता-गलिता । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । ग्रहियेति सम्प्रसारणम् । पृच्छति ।
पप्रच्छ । पप्रच्छतुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् । मृड् प्राणत्यागे ।

अ्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १ । ३ । ६१ ॥ ^६लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूता-
न्मृडस्तङ् नान्यत्र । रिङ् । इयङ् । अ्रियते । ममार । मर्ता । मरिष्यति ।
मृषीष्ट । अमृत । पृङ् व्यायामे । प्रायेणाऽयं व्याङ् पूर्वः । व्याप्रियते ।
व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । व्यापृत । व्यापृषाताम् । जुषी प्रीति-
सेवनयोः । जुषते । जुषुषे । ओविजी भयचलनयोः । प्रायेणायमुत्पूर्व
उद्विजते ।

षद्लृ=अलग होना (भङ्कना), गति, दुःखी होना । शद्लृ=तीक्षण करना, झीलना ।

१—शिद्भावी शद् धातु से आत्मनेपद होता है । कृ=कृकना । २—ऋदन्त धातु से
अंग को इत् होता है । ३—छेदन (काटने) अर्थ में उप से परे 'कृ' धातु को सुट् का
आगम होता है । ४—हिंसा अर्थ में उप और प्रति से परे 'कृ' धातु को सुट् का आगम होता
है । गृ=निगलना । ५—अजादि प्रत्यय पर हो तो 'गृ' धातु के रेफ को लकार होता है
विकल्प से । प्रच्छ-पृच्छना । मृड्=मरना । ६—केवल लुङ् या शित् पर हो तो 'मृड्' धातु
से आत्मनेपद होता है, अन्यत्र नहीं । पृङ्=उद्योग (यत्न) करना । जुषी=प्रेम करना
सेवा करना । ओविजी=डरना, काँपना ।

विज इट् १ । २ । ६२ ॥ १विजः पर इडादिप्रत्यययो ङित्त्वत्स्यात् ।
उद्विजिता ।

॥ इति तुदादिप्रकरणम् ॥

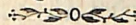


अथ रुधादि-प्रकरणम्

रुधादिभ्यः श्नुम् ३ । १ । ७८ ॥ १श पोऽपवादः । रुणद्धि । श्नुसोरल्लोपः ।
रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्धः । रुन्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्धमः ।
रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे ।
रुन्धमहे । रुरोध-रुधे । रोद्धासि-रोद्धासे । रोत्स्यति-रोत्स्यते । रुणद्धु-
रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम ।
रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुण-
धामहै । अरुणत्-अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणः-अरुणत्-अरु-
णद् । अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । रुन्ध्यात्-रुन्धीत ।
रुन्ध्यात्-रुत्सीष्ट । अरुन्धत्-अरौत्सीत् । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत ।
अरोत्स्यत्-अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । छिदिर् द्वैधीकरणे । युजिर्
योगे । रिचिर् विरेचने । रिणक्ति-रिङ्क्ते । रिरेच । रेक्ता । रेक्ष्यति । अरि-
णक् । अरिचत्-अरैक्षीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति-विङ्क्ते ।
क्षुदिर् सम्पेषणे । क्षुणक्ति-क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत्-अक्षौत्सीत्-अक्षुत्त ।
उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः । छृणक्ति-छृन्ते । चच्छर्द । सेऽसिचीति वेट् । चच्छृ-
दिषे-चच्छृत्से । छर्दिष्यति-छर्त्स्यति । अच्छृदत्-अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट ।
अच्छर्दिष्यत् । उत्तृदिर् हिंसानादरयोः । तृणक्ति-तृन्ते । कृती वेष्टने ।
कृणक्ति । तृह हिंसि हिंसायाम् ।

१-विज् धातु से परे इडादि प्रत्यय ङित् सट्श होता है ।

॥ इति तुदादिप्रकरणम् ॥



रुध-रोकना ।

२-कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हो तो रुधादि-गण-पठित धातुओं से श्नुम् प्रत्यय होता है । भिदिर्=चीरना-फाड़ना । छिदिर्=दो टुकड़ा करना । युजिर्=दो या अनेक को एक में जोड़ना । रिचिर्=अधिक टट्टी होना । विचिर्=अलग होना । क्षुदिर्=अच्छी तरह पीसना । उच्छृदिर्=चमकना, खेलना । उत्तृदिर्=मारना, अनादर करना । कृती=चारों ओर से घेरना । तृह-हिंसि=मारना, दुःख देना ।

तृणह् इम् ७।३।९२ ॥ ^१तृहः श्नमि कृते इमागमः स्याद्धलादी
पिति । तृणेढि । तृण्डः । ततर्हं तर्हिता । अतृणेट् ।

श्नान्नलोपः ६।४।२३ ॥ ^२श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात् । हिनस्ति ।
जिहिस । हिंसिता ।

तिप्यनस्तेः ८।२।७३ ॥ ^३पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि न त्वस्तेः ।
ससजुषोररित्यस्यापवादः । अहिनत्-अहिनद् । अहिस्ताम् । अहिसन् ।

सिपि धातो र्वा ८।२।७४ ॥ ^४पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद्वा
[सिपि] । पक्षे दः । अहिनः-अहिनत्-अहिनद् । उन्दी क्लेदने । उनत्ति ।
उन्तः । उन्दन्ति । उन्दाञ्चकार । औनत् । औनद् । औन्ताम् । औन्दन् ।
औनः-औनत् । औनदम् । अञ्जू व्यक्तिभ्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति ।
अङ्क्तः । अञ्जन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिथ-आनङ्क्थ । अञ्जिता-अङ्क्ता ।
अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् ।

अञ्जेः सिचि ७।२।७१ ॥ ^५अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात् । आञ्जीत् ।
तञ्चू सङ्कोचने । तनक्ति । तञ्चिता-तङ्क्ता । ओविजी भयचलनयोः । विनक्ति ।
विङ्क्तः । विज इडिति डिङ्त्वम् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अवि-
जीत् । शिण्लु विशेषणे । शिनष्टि । शिष्टः । शिपन्ति । शिनक्षि । शिशेष ।
शिशेषिथ । शोष्टा । शोक्षति । हेर्धिः । शिण्ड्ढि । शिनषाणि । अशिनट् ।

शिण्डि—लृकारेत्संसक शिष् धातोर्लोडि तस्य सिपि अनुबन्धलोपे 'रुधादि-
भ्यः-' इति श्नम्यनुबन्धलोपे, सेह्यपिञ्चेति सेह्यादेशे—'शिनष् हि' इति स्थिते,
'दृक्षलभ्यो हेर्धिः' इति हेर्धित्वे, ष्टुत्वेन धस्य ढकारे, नस्यानुस्वारे, षस्य जश्त्वेन
डकारे, परसवर्णेनानुस्वारस्य णकारे, 'झरो झरि' इति डस्य पाक्षिके लोपे 'शिण्डि'
इति । लोपामावे तु 'शिण्डि' इति ।

अशिनट्—शिष् धातोर्लङ् तिप्-श्नम्—अट्-इकारलोपादिषु कृतेषु अशि-

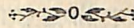
१—हलादि पित् पर हो तो 'तृह' धातु से श्नम् करने पर इम् का आगम होता है ।
२—श्नम् से परे नकार का लोप होता है । ३—तिप् पर हो तो अस् धातु को
छोड़कर पदान्त सक्तर को दकार होता है । ४—सिप् पर हो तो पदान्त 'स' को 'रु'
होता है विकल्प से । उन्दी=आर्द्र करना (भिगोना) । अञ्जू=प्रकाश करना, मर्दन करना,
सौन्दर्य, गति । ५—अञ्जू धातु से परे जो सिच् उसको नित्य इट् होता है । ओविजी=भय
करना, उद्विग्न होना, काँपना ।

(अन्य मध्य के धातु प्रसिद्ध हैं, अब आगे प्रसिद्ध शब्दों का अर्थ नहीं दिया जायगा ।)
भुज्=रक्षा करना, भोजन करना ।

शिष्यात् । अशिषत् । एवं पिष्लु सञ्चूर्णने । भञ्जो आमर्दने । शनान्नलोपः । भनक्ति । बभञ्जिथ-वभङ्क्थ । भङ्क्ता । भङ्ग्धि । अभाङ्क्षीत् । भुज पालनाभ्यवहारयोः । भुनक्ति । भोक्ता । भोक्ष्यति । अभुनक् ।

भुजोऽनवने १ । ३ । ६६ ॥ 'तडानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति । त्रि इन्धी दीप्तौ । इन्धे । इन्धाते । इन्त्से । इन्ध्वे । इन्धाञ्चक्रे । इन्धिता । इन्धाम् । इन्धाताम् । इन्धै । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धाः । विद् विचारणे । विन्ते । वेत्ता ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



अथ तनादि-प्रकरणम्

तनु विस्तारे ।

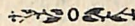
तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ॥ ^२[तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्क-
त्रर्थे सार्वधातुके परे] । शपोऽपवादः । तनोति-तनुते । ततान-तेने । तनि-

नष्त्' इति स्थिते, 'झलां जशोऽन्ते' धातोः षस्य डकारे 'अशिनङ्', 'वावसाने' इति चत्वेन डकारस्य टकारे 'अशिनट्' इति ।

पिष्लु संचूर्णने—पिपेष्टि । पिपेष । पेष्टा । पेक्ष्यति । पिपेष्टु । अपिपेष्ट । पिष्यात् । पिष्यात् । अपिषत् । अपिष्यत् ।

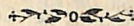
भुजोऽनवने—अवनं रक्षणं, तदमिन्ने अर्थे भुज् धातोरात्मनेपदं स्यात् । तेन रक्षणेऽर्थे 'पृथ्वीं भुनक्ति' (रक्षति) इति परस्मैपदम् । भोजने—'ओदनं द्विदलञ्च भुङ्क्ते' (खादति) इत्यात्मनेपदम् ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



१—रक्षा से भिन्न अर्थात् भोजन अर्थ में भुज धातु से तङ् और आन होते हैं । अर्थात् आत्मनेपद होता है ।

॥ इति रुधादिप्रकरणम् ॥



तनु=फैलाव ।

२—कर्त्रर्थक सार्वधातुक पर हों तो तनादि-गण-पठित तथा कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है ।

तांसि-तनितासे । तनिष्यति—तनिष्यते । तनोतु-तनुताम् । अतनोत्-अत-
नुत । तनुयात्-तन्वीत् । तन्यात्-तनिषीष्ट । अतानीत्-अतनीत् ।

तनादिभ्यस्तथासोः २ । ४ । ७९ ॥ ^१तनादेः सिचो वा लुक् स्यात्-
थासोः । अतत-अतनिष्ट । अतथाः-अतनिष्ठाः । अतनिष्यत्-अतनिष्यत् ।

षण्णु दाने । सनोति-सनुते ।

ये विभाषा ६ । ४ । ४३ ॥ ^२जनसनखनामात्वं वा स्याद्यादौ ङ्ङिति ।
मायात्-सन्यात् ।

जनसनखनां सञ्जलोः ६ । ४ । ४२ ॥ ^३एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात्
मनि झलादौ किङ्कति । असात-असनिष्ट । असाथाः-असनिष्ठाः । क्षणु हिंसा-
याम् । क्षणोति-क्षणुते । ह्यचन्तेति न वृद्धिः । अक्षणीत्-अक्षत-अक्षणिष्ट ।
अक्षथाः-अक्षणिष्ठाः । क्षिणु च । उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा । क्षेणोति-
क्षिणोति । क्षेणिता । अक्षणीत्-अक्षित-अक्षेणिष्ट । तृणु अदने । तृणोति-
तृणोति । तृणुते-तृणुते ।

डुकृञ् करणे । करोति ।

अत उत्सार्वधातुके ६ । ४ । ११० ॥ ^४उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उः
स्यात् । कुरुतः ।

न भकुर्छुराम् ८ । २ । ७९ ॥ ^५भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात् ।
कुर्वन्ति ।

नित्यं करोतेः ६ । ४ । १०८ ॥ ^६करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपः
स्यान्म्वोः परयोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार-चक्रे । कर्तासि ।
कर्त्तसि । करिष्यति-करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत ।

ये च ६ । ४ । १०९ ॥ ^७कृञ् उलोपः स्याद्यादौ प्रत्यये । कुर्यात्-
कुर्वीत् । क्रियात्-कृषीष्ट । अकार्षीत्-अकृत । अकरिष्यत्-अकरिष्यत् ।

१—त या थास् प्रत्यय पर हो तो तनादि धातु से परे सिच् का लोप विकल्प से
होता है । २—यकारादि कित् या डित् पर रहे तो जन्, सन्, खन्-धातुओं को आत्व
होता है । ३—सन् पर हो और झलादि कित् या डित् पर हो तो जन्, सन्, खन्-
धातुओं को आकार अन्तादेश होता है । तृणु=खाना । डुकृञ्=करना । ४—कित् डित् सार्व-
धातुक पर हो तो उ प्रत्ययान्त कृञ् धातु के अकार को उकार होता है । ५—भसंज्ञक
कृ (कृ) और छुर की उपधा को दीर्घ नहीं होता है । ६—वकार या मकार पर हो
तो 'कृ' धातु के प्रत्ययरूप उकार का नित्य ही लोप हो जाता है । ७—यकारादि प्रत्यय
पर हो तो 'कृ' धातु के उकार का लोप हो जाता है ।

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ६ । १ । १३७ ॥

समवाये च ६ । १ । १३८ ॥ ^१सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्यात् भूषणे सङ्घाते चार्थे । संस्करोति । अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्कुर्वन्ति । सङ्घीभवन्तीत्यर्थः । सम्पूर्वस्य ववचिदभूषणेऽपि सुट्, 'संस्कृतं भक्षा' इति ज्ञापनात् ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ६ । १ । १३९ ॥ ^२उपात्कृञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु, चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम् । विकृतमेव वैकृतं-विकारः । वाक्याध्याहारः-आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृता ब्राह्मणाः । एधोदकस्योपस्कुरुते । उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं ब्रूते । वनु याचने । वनुते । ववने । मनु अवबोधने । मनुते । मेने । मनिता । मनिष्यते । मनुताम् । अमनुत । मन्वीत । मनिषीष्ट । अमत-अमनिष्ट । अमनिष्यत ।

॥ इति तनादयः ॥

५७०६५

अथ क्रयादि-प्रकरणम्

डुक्तीञ् द्रव्यविनिमये ।

क्रयादिभ्यः श्ना ३ । १ । ८१ ॥ ^३[एभ्यः श्ना स्यात्कर्त्र्थे सार्वधातुके परे] । शपोऽपवादः । क्रीणाति । ईं हल्यघोः । क्रीणीतः । श्नाभ्यस्तयोरान्तः । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रियथ-चिक्रेथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति-क्रेष्यते । क्रीणातु-क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । अक्रीणात्-अक्रीणीत । क्रीणीयात्-क्रीणीत । क्रीयात्-क्रीषीष्ट । अक्रीषीत्-अक्रेष्ट । अक्रेष्यत्-अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च । प्रीणाति-प्रीणीते । श्रीञ् पाके । श्रीणाति-श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् ।

१-भूषण एवं संघात अर्थ में सं एवं परि पूर्वक 'कृ' धातु को सुट् का आगम होता है । २-प्रतियत्न (अनेक यत्न) वैकृत (विकारभाव) वाक्याध्याहार (उपेक्षित वाक्य को अन्यत्र से लाना)-श्न अर्थों में उससे परे 'कृ' को सुट् का आगम होता है ।

॥ इति तनादिप्रकरणम् ॥

५७०६५

डुक्तीञ्=खरीदना, बेचना, अदल-बदल करना । ३-कर्त्र्थक सार्वधातुक पर हो तो क्रयादि धातुओं से 'श्ना' प्रत्यय होता है । प्रीञ्=तृप्ति तथा शोभा । श्रीञ्=पकना, पकाना ।

हिनुमीना ८।४।१५ ॥ ^१उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयोर्नस्य णः स्यात् । प्रमीणाति-प्रमीणीते । मीनातीत्यात्वम् । ममौ । मिम्यतुः । ममिथ-ममाथ । मिम्ये । माता । मास्यति । मीयात्-मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । षिञ् बन्धने । सिनाति । सिनीते सिषाय-सिष्ये । सेता । स्कुञ् आप्लवने ।

स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ३।१।८२ ॥ ^२[एभ्यः श्नुः स्यात्] चात् श्ना । स्कुनोति-स्कुनाति । स्कुनुते-स्कुनीते । चुस्काव । चुस्कुवे । स्कोता । अस्कौषीत्-अस्कोष्ट । स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः । सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः ।

हलः श्नः शानज्ज्ञौ ३।१।८३ ॥ ^३हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद्धौ परे । स्तभान ।

जृस्तन्भुञ्चुस्लुचुग्रुचुलुचुग्लुञ्चुश्चिभ्यश्च ३।१।५८ ॥ ^४एभ्य-श्च्लेरङ् वा स्यात् ।

स्तन्भेः ८।३।६७ ॥ ^५स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात् । व्यष्टभत् । अस्तम्भीत् । युञ् बन्धने । युनाति-युनीते । योता । क्नुञ् शब्दे । क्नुनाति । क्नुनीते । क्नुविता । द्रूञ् हिंसायाम् । द्रूणाति-द्रूणीते । दृ विदारणे । दृणाति-दृणीते । पूञ् पवने ।

प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८० ॥ ^६पूञ्-लूञ्-स्तृञ्-कृञ्-धृञ्-शृ-पृ-वृ-भृ-मृ-दृ-जू-झ-धृ-नु-कृ-ऋ-गृ-ज्या-री-ली-व्ली-वृञ्-प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः

स्तभान—स्तन्म् धातोर्लोड्, सिप्, हि-आदिषु कृतेषु 'स्तन्भुस्तुन्भु-०' इति सूत्रेण श्नाप्रत्ययपक्षे (श्नाकृते) 'स्तन्म् ना हि' इति स्थिते, ना-शब्दस्य 'हलः श्नः-' इति शानजादेशे, अनुबन्धलोपे, शित्वात्सार्वधातुकत्वे, अपित्वेन डित्वे, 'अनिदिताम्-' इति नलोपे, अतो हेरिति हेर्लुकि 'स्तभान' इति ।

१—उपसर्ग में स्थित (रेफ षकार रूपी) निमित्त से परे हिनु एवं मीना के नकार को णकार होता है । स्कुञ्=उल्लाना-कृदना । २—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु-इन धातुओं से परे 'श्नु' प्रत्यय होता है, चकारात् 'श्ना' प्रत्यय भी हाता है । ३—हि पर हो तो हल् से परे 'श्ना' को शानच् आदेश होता है । ४—जृ, स्तन्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु एवं श्चि-इन धातुओं से परे च्लि को अड् विकल्प से होता है । ५—सौत्र (सूत्र पठित) स्तन्भु धातु के सकार को षकार होता है । दृ=फाड़ना । पूञ्=पवित्र करना, होना । ६—शित् प्रत्यय पर हो तो पूञ्-आदि चौबीस धातुओं को ह्रस्व होता है । लूञ्=

स्यात् । पुनाति-पुनीते । पविता । लूञ् छेदने । लुनाति-लुनीते । स्तृञ् आच्छादने । स्तृणाति । शर्पूर्वाः खयः । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरुः । तस्तरे । स्तरीता-स्तरिता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । स्तीर्यात् ।

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७ । २ । ४२ ॥ ^१वृड्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परयो-
लिङ्सिचोरिङ् वा स्यात्तडि ।

न लिङि ७ । २ । ३९ ॥ ^२वृत इतो लिङि न दीर्घः । स्तरिषीष्ट । उश्चेति कित्त्वम् । स्तीर्षीष्ट । सिचि च परस्मैपदेषु । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् । अस्तारिषुः । अस्तरिष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष । कृञ् हिंसायाम् । कृणाति-कृणीते । चकार-चकरे । वृञ् वरणे । वृणाति-वृणीते । ववार-ववरे । वरिता-वरीता । उदोष्ठयेत्युत्वम् । वूर्यात् । वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । धुनाति-धुनीते । धविता-धोता । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । ग्रह उपादाने । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे ।

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७ । २ । ३७ ॥ ^३एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । हलः स्तः शानज्झाविति स्तः शानजादेशः । गृहाण । गृह्णात् । ग्रहीषीष्ट । ह्यचन्तेति न वृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् । कुष निष्कर्षे । कुष्णाति । कोषिता । अश-भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान । मुष स्तेये । मोषिता । मुषाण । ज्ञा अवबोधने । जज्ञौ । वृड् सम्भक्तौ । वृणीत ।

गृहाण — ग्रह् धातोर्लोटि, सिपि, सेह्यपिच्चेति सेह्यदिशे, 'क्रधादिभ्यः स्ना' इति शबपवादक स्ना—प्रत्यये, डित्वाद् ग्रहिज्येत्यादिना सम्प्रसारणे, 'हलः स्तः शानज्झौ' इति शानजादेशेऽनुबन्धलोपे, नस्य णत्वे, हेर्लुकि च कृते गृहाण इति ।

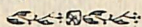
ग्रहीषीष्टेत्यत्र—'न लिङि' इति दीर्घनिषेधस्तु न, 'वृतो वा' इत्यस्यैव स बाधक इति नियमात् । एवमेवाग्रहीष्टामित्यत्र 'सिचि च परस्मैपदेषु' इति निषेधो-

काटना । स्तृञ् = ढँकना ।

१—तड् पर रहते वृड्, वृञ् एवं ऋदन्त धातुओं से परे लिङ् सिच् को विकल्प से इट् का आगम होता है । २—लिङ् पर में हो तो वृञ्, वृड्, और ऋदन्त धातु से किये गये इट् को दीर्घ नहीं होता है । वृञ्-विवाह या यज्ञादि में पति या ऋत्विक् आदि के रूप में स्वीकार करना । ग्रह=ग्रहण करना । ३—लिट् लकार पर में न हो तो, एकाच् ग्रह् धातु से

ववृद्धे । वरिता-वरीता । अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवृत ।

॥ इति क्रयादयः ॥



अथ चुरादयः

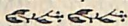
चुर स्तेये ।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्
३ । १ । २५ ॥ 'एभ्यो णिच् स्यात् । चूर्णान्तेभ्यः प्रातिपदिकाद्वा-
त्वर्थे इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे । पुगन्तेति
गुणः । सनाद्यन्ता इति धातुत्वम् । तिप्शवादि । गुणाज्यादेशौ । चोरयति ।

णिच्श्च १ । ३ । ७४ ॥ 'णिजन्तादात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रिया-
फले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषीष्ट ।
णिथ्रीति चङ् । णौ चङीति ह्रस्वः । चङीति द्वित्वम् । ह्लादिः शेषः ।
दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घः । अचूचुरत् । अचूचुरत । कथ वाक्यप्रबन्धे ।
अल्लोपः ।

ऽपि नेति बोध्यम् । अश्नातीत्यत्र 'शात्' इति निषेधात् श्चुत्वं न ।

॥ इति क्रयादिप्रकरणम् ॥



अचूचुरत्—चूर् इत्यस्मात्, 'सत्यापपाश-' इति णिच्यनुबन्धलोपे 'पुगन्तल-
घूपधस्य च' इति गुणे 'चोरि' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता-' इति धातुत्वाल्लुङि लुङ्स्ति-
प्यनुबन्धलोपे, लुङ्लङ्-इत्यडागमेऽनुबन्धलोपे, चिल लुङि इति च्लौ, 'णिश्चिद्गुभ्यः-'
इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे, इतश्चेति तिप इकारलोपे, 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे, 'णौ
चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे, 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये, 'दीर्घो
लघोः' इत्यनेन अभ्यासस्य दीर्घे 'अचूचुरत्' इति । तङि 'अचूचुरत' इति ।

विहित इट् को दीर्घ होता है ।

॥ इति क्रयादिप्रकरणम् ॥



चुर=चोरी करना ।

१—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, इन प्रातिपदिकों
से और चुरादि-गण-पठित धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है, स्वार्थ में । २—क्रिया का फल
यदि कर्तृगामी (कर्ता में ही समाप्त होनेवाला) हो तो णिच्प्रत्ययान्त धातु से आत्मनेपद
होता है । कथ=कहना ।

अचः परस्मिन्पूर्वविधौ १ । १ । ५७ ॥ ^१अल्विध्यर्थमिदम् । पर-
नामित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात्स्थानिभूतादंचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ
कर्तव्ये । इति स्थानिवत्त्वात् नोपधावृद्धिः । कथयति । अग्लोपित्वादीर्घ-
सन्वद्भावौ न । अचकथत् ।

गण संख्याने । गणयति ।

ई च गणः ७ । ४ । ९७ ॥ ^२गणयतेरभ्यासत्य ईत्स्याच्चङ् परे णौ,
चादत् । अजीगणत् । अजगणत् ।

॥ इति चुरादयः ॥

ॐ०ॐ०

अचः परस्मिन्नित्यस्यार्थसमन्वयः—‘कथयति’ इत्यत्र परं णिच्, तन्निमित्तोऽ-
जादेशोऽकारस्य लोपरूपः, स स्थानिवत् । स्थानिभूतोऽच् थकारोत्तराकारस्ततः पूर्वत्वेन
दृष्टः ककारोत्तराकारस्तस्य विधिवृद्धिरूपस्तस्मिन् कर्तव्ये—इति वृत्तिसमन्वयः ।

अग्लोपित्वादिति—‘सन्वल्लघुनि’ इति सन्वद्भावस्तत्रैव यत्र णिनिमित्तकोऽ-
ग्लोपो न, अत्र तु ‘अतो लोपः’ णिनिमित्तक इति ।

अचकथत्—कथ इत्यस्मात् सत्यापपाशेति णिचि, धातुत्वेन लुङि, तिपि
अडागमे, च्लौ कृते ‘णिश्चिद्रु-’ इति च्लेश्चङि, अनुबन्धलोपे, ‘अतो लोपः’ इति
थकारोत्तरवर्त्यकारलोपे, णेर्लोपे, ‘चङि’ इति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, कुहोश्चुरिति
कस्य चत्वे च कृते ‘अचकथत्’ इति ।

अजीगणत्—इत्यत्र केवलं ‘ई च गणः’ इत्येव विशेषः । अन्यत्सर्वं समानम् ।
अदन्तत्वाभावादतो लोपोऽपि न ।

॥ इति चुरादिप्रकरणम् ॥

ॐ०ॐ०

१—स्थानिभूत अच् से पूर्व दृष्ट को विधि (कार्य) करना हो तो पर को निमित्त
मानकर होने वाला जो अच् के स्थान में आदेश है, वह स्थानिवत् होता है । गण=गिनना,
संख्याओं का संकलन करना । २—चङ्परक ‘णि’ पर हो तो ‘गण’ धातु के अभ्यास को
ईकार होता है, चकारात् अकार भी होता है ।

॥ इति चुरादिप्रकरणम् ॥

ॐ०ॐ०

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ ॥ ^१क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५ ॥ ^२कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तु-संज्ञश्च स्यात् ।

हेतुमति च ३।१।२६ ॥ ^३प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातो-णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति-भावयति ।

ओः पुण्यण्यपरे ७।४।८० ॥ ^४सनि परे यदङ्गं तद्व्यवाभ्यामो-कारस्य इत्स्यात् पवर्ग-यण्-जकारेण्ववर्णपरेषु परतः । अवीभवत् । ष्टा गतिनिवृत्तौ ।

हेतुमतीति— हेतुः = कर्तुः प्रयोजकोऽस्त्यत्र (व्यापारे) इति हेतुमान् = प्रयो-जकव्यापारस्तस्मिन् वाच्ये धातोः (भूवादयो धातवः, सनाद्यन्ता-धातव इति सूत्र-द्वयविहित धातु-संज्ञकेभ्यः) णिच् प्रत्ययो भवति, एतदेवाह-प्रयोजकव्यापारे इति । भवन्तं प्रेरयतीति—एवं ज्ञेयम्-देवदत्तो भवति, यज्ञदत्तः प्रेरयति इत्यर्थे यज्ञदत्तो देवदत्तं 'भावयति' इति । अत्र देवदत्तः प्रयोज्यो यज्ञदत्तश्च प्रयोजकः । एवं देवदत्तो भवति, भवन्तं तं यज्ञदत्त-राजदत्तौ 'भावयत' इति । एवं देवदत्तो भवति, चैत्र-मैत्र-कृष्णाः प्रेरयन्ति-इत्यर्थे भवन्तं देवदत्तं चैत्रमैत्रकृष्णाः 'भावयन्ति' इति । सः भवति त्वं प्रेरयसि-इत्यर्थे तं त्वं भावयसि । एवमेव सर्ववचनेषु सर्व-लकारेषु च प्रत्ययाः भवन्तीति बोध्यम् । अत्र प्रयोज्यकर्तुः स्वतन्त्रः कर्तेति प्राप्तां कर्तुसंज्ञां प्रबाध्य 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया क्रियते । तथा चैवमेव सर्वेषां धातूनां विग्रहे क्रमः ज्ञेयः ।

अवीभवत्—'भू' इत्यस्याद्धेतुमति चेति णिच्यनुबन्धलोपे सनाद्यन्तेति धातुत्वे,

१—क्रिया (कार्य) में स्वतन्त्रता से विवक्षित जो अर्थ वह कर्तु-संज्ञक होता है । जैसे—'देवदत्त पढ़ता है' यहाँ पठन रूप क्रिया में देवदत्त 'कर्ता' है, इसी प्रकार सभी जगह जानना । २—कर्ता का प्रयोजक (प्रेरणा करने वाला) हेतुसंज्ञक तथा कर्तुसंज्ञक भी होता है । जैसे देवदत्त पढ़ता है, यज्ञदत्त प्रेरणा करता है तो यहाँ यज्ञदत्त उसकें पढ़ने में हेतु भी हां रहा है । ३—प्रयोजक प्रेरणा करनेवाले के व्यापार में प्रेरणा अध्येषणा—आदि कोई वाच्य हों तो धातु से णिच् प्रत्यय होता है । ४—अवर्णपरक पवर्ग, यण् या जकार पर हो तो सन् परे रहते अङ्गावयव अभ्यास के उकार को इकार आदेश होता है । ष्टा चलने से रुकना, ठहरना खड़ा होना, बैठना ।

^१अतिह्लीव्लीरोक्नूयीक्ष्माध्यातां पुङ् गौ ७ । ३ । ३६ ॥ स्थापयति ।
तिष्ठतेरित् ७ । ४ । ५ ॥ ^२उपधाया इदादेशः स्याच्चङ् परे गौ ।
अतिष्ठपत् । घट चेष्टायाम् ।

मितां ह्रस्वः ६ । ४ । ९२ ॥ ^३घटादीनां ज्ञपादीनां चोपधाया ह्रस्वः
स्याणौ । घटयति । ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ।

॥ इति ष्यन्तप्रक्रिया ॥



अथ सन्नन्तप्रक्रिया ।

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३ । १ । ७ ॥ ^४इषिकर्मण
इषिणैकर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् । पठ व्यक्तायां वाचि ।

लुङ्, तिप्, अट्, च्लि—आदिषु कृतेषु 'णिश्चिद्' इति च्लेश्चङि—अनुबन्धलोपे,
णेरनिटीति णेलोपे, चङीति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, ह्रस्व इति ह्रस्वे, षभ्यासे चर्चेति
मकारस्य वकारे 'अब्रुभू अति' इति स्थिते वृद्धावादेशे, 'गौ चङि—' इति ह्रस्वे,
'सन्वल्लघुनि—' इति सन्वदमावे 'ओः पुयण्यपरे' इति अभ्यासोकारस्येत्वे, दीर्घां
लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घे, इतश्चेति तिप इकारलोपे 'अबीभवत्' इति ।

अतिष्ठपत्—'ष्ठा' इत्यस्य 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे, निमित्तागये
नमित्तिकस्याप्यपाय इति ठकारस्यापि निवृत्तौ 'स्था' इत्यस्मात् 'हेतुमति च' इति
णिच्यनुबन्धलोपे, धातुसंज्ञायां लुङ्, तिप्, अट्, च्लि—आदिषु कृतेषु—'अतिह्ली-
व्ली—' इत्यादिना पुक्क्यनुबन्धलोपे, 'णिश्चिद्भ्रुभुभ्यः—' इति च्लेश्चङ्यनुबन्धलोपे,
तिष्ठतेरिदिति—उपधाया इकारे, णेलुकि, 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिः शेषं
वाधित्वा 'शपूर्वाः खय' इति यशेषे, अभ्यासस्य चत्वे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे
च कृते 'अतिष्ठपत्' इति ।

॥ इति ष्यन्तप्रक्रिया ॥



इषिकर्मणः—धातोरर्थाद्धातुमात्रात् सन् प्रत्ययो भवतीच्छायाम् । कीदृशाद्

१—णि पर में हो तो अति, ही, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी, एवं आदन्तधातुओं को पुक्
का आगम होता है । २—चङ्परक णि पर हो तो स्था धातु की उपधा के स्थान में इकार
होता है । ३—णि पर हो तो घटादि एवं ज्ञपादि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है ।

॥ इति ष्यन्तप्रक्रिया ॥



12 ४—इच्छारूपी क्रिया का कर्म होता हुआ इच्छारूपी क्रिया का कर्ता ही कर्ता हो जिसका

सन्त्यङोः ६।१।९ ॥ ^१सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोरनभ्यःसस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य । सन्त्यतः । पठितुमिच्छति पिपठिषति । कर्मणः किम् ? गमनेनेच्छति । समानकर्तृकात् किम् ? शिष्याः पठन्त्वित्तीच्छति गुरुः । वा ग्रहणद्वाक्यमपि । लुङ् सनोर्धस्त्व ।

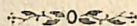
सः स्वार्धधातुके ७।४।४९ ॥ ^२सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके । अत्तुमिच्छति जिघत्सति । 'एकाच' इति नेट् ।

अज्जनगमां सनि ६।४।१६ ॥ ^३अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

इको झल् १।२।९ ॥ ^४इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । ऋत् इद्धातोः । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति ।

सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१२ ॥ ^५ग्रहेगुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात् । बुभूषति ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



धातोः ? इषिकर्मणः, इच्छाक्रिया-कर्मभूतात्, पुनश्च इच्छाकर्तृकर्तृकात् । यथा— 'पठितुमिच्छति' इति विग्रहे इच्छाक्रियाकर्म-पठनम्, इच्छाक्रियाकर्ता-चैत्रादिः स एव पठनस्यापि । पठनेनेच्छतीत्यत्र पठनस्येच्छाकर्मत्वाभावात् सन् प्रत्ययो न । एवं शिष्याः पठन्त्वित्तीच्छति गुरुरित्यत्र शिष्याणां पठनकर्तृत्वाद् गुरुश्चेच्छाकर्तृत्वात्समानकर्तृत्वाभावान्न सन् ।

पिपठिषति—पठितुमिच्छतीति विग्रहे 'धातोः कर्मणः—' इत्यादिना पठेः सन् प्रत्यये 'सन्त्यङोः' इति 'पठ्' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये 'सन्त्यतः' इतीत्वे, 'सनाद्यन्ताः—०' इति सन्नन्तस्य धातुत्वे लट्-तिप्-शप्-पररूपादिषु कृतेषु सस्य पत्वे 'पिपठिषति' इति ।

बुभूषति—भवितुमिच्छतीति विग्रहे 'धातोः कर्मणः—' इति सनि, आर्धधातुक-

ऐसे धातु से सन् प्रत्यय होता है विकल्प से, इच्छारूपी अर्थ गम्यमान हो तब । पठ=पढ़ना ।

१—सन्नन्त एवं यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है तथा अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है । पिपठिषति—पढ़ना चाहता है । २—सादि आर्धधातुक पर हो तो सकार के स्थान में तकार होता है । जिघत्सति=भक्षण करना चाहता है । ३—झलादि सन् प्रत्यय पर हो तो अजन्त धातु हन् धातु, एवं अजादेश गम धातु को दीर्घ होता है । ४—इगन्त (इक् है अन्त में जिसके ऐसे) धातु से परे झलादि सन् कित् होता है । चिकीर्षति=करना चाहता है । ५—ग्रह्, गुह्, एवं उगन्त धातु से परे सन् को

अथ यङन्तप्रक्रिया ।

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३ । १ । २२ ॥ ^१पौनः-
पुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ।

गुणो यङ्लुकोः ७ । ४ । ८२ ॥ ^२अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि परतः ।
डिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा भवति बोभूयते । बोभूया-
ञ्चक्रे । अबोभूयिष्ट ।

नित्यं कौटिल्ये गतौ ३ । १ । २३ ॥ ^३गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न
तु क्रियासमभिहारे ।

दीर्घोऽकितः ७ । ४ । ८३ ॥ ^४अकितेऽभ्यासस्य दीर्घः स्याद्यङ्यङ्-
लुकोः । कुटिलं व्रजति-वाव्रज्यते ।

स्येड् बलादेरिति प्राप्तस्येष्टः सनि ग्रहगुहोश्चेति निषेधे, इको झलीति कित्वेन गुण-
स्यापि निषेधे, सन्यङोरिति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे, अभ्यासे चर्चेति चत्वे, जश्त्वे,
सस्य षत्वे बुभूष इत्यस्य सनाद्यन्तेति धातुसंज्ञायां लट्-तिप्-शप्-परस्पादिषु
कृतेषु 'बुभूषति' इति ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



बोभूयते—अतिशयेन पुनः पुनर्यो भवतीति विग्रहे भूधातोः 'धातोरेकाचो-'
इति यङि, 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वेऽभ्यासस्य ह्रस्वे जश्त्वे, 'गुणो यङ्-
लुकोः' इति गुणे च कृते 'बोभूय' इत्यस्य धातुसंज्ञायां डिदन्तत्वादात्मनेपदत्वेन तप्रत्यये,
शवादिकार्ये कृते 'बोभूयते' इति । स्मारं स्मारमितिवत् 'बोभूयते' इत्यस्य द्वित्वं तु
न 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन यङा उक्तत्वात् ।

इट् नहीं होता है । बुभूषति=होना चाहता है ।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया ॥



१--पौनःपुन्य (बारम्बार) भृश (अत्यधिक) अर्थ द्योत्य (गम्यमान) हो तो
एकाच् हलादि धातु से यङ् प्रत्यय होता है । २--यङ् पर हो या यङ्लुक् का विषय हो
तो अभ्यास को गुण होता है । बोभूयते=बारम्बार या अत्यन्त हो रहा है । ३--गत्यथक
धातुओं से कौटिल्य (टेढ़े) अर्थ से ही यङ् प्रत्यय होता है, क्रियासमभिहार (बारम्बार)
करने अर्थ में नहीं होता । ४--यङ् प्रत्यय पर हो या यङ् लुक् का विषय हो तो किद
भिन्न अभ्यास को दीर्घ होता है । वाव्रज्यते=टेढ़ा जा रहा है ।

यस्य हलः ६।४।४९ ॥ ^१यस्येति संघातग्रहणम् । हलः परस्य य-शब्दस्य लोपः स्यादार्षधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । वात्रजाञ्चके । वात्रजिता ।

रीगृदुपधस्य च ७।४।९० ॥ ^२ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगा-गमो यङ् यङ् लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चके । वरीर्वतिता ।

क्षुभ्नादिषु च ८।४।३९ ॥ ^३णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ।

॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

५०

अथ यङ्लुक्प्रक्रिया ।

यङोऽचि च २।४।७४ ॥ ^४यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात् विनाऽपि कञ्चित् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाल्लडादयः । शेषात्कर्तरीति परस्मैपदम् । चर्करीतं चेत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

यङो वा ७।३।९४ ॥ ^५यङ्लुगन्तात्परस्य ह्लादेः पितः सार्व-धातुकस्येङ् वा स्यात् । भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न, 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति—बोभोति । बोभूतः ।

बोभवीति—बोभोति—अतिशयेन पुनःपुनर्वा भवतीति विग्रहे भूधातोः 'धातो-रेकाचः—' इति यङि, द्वित्वापेक्षयान्तरङ्गत्वात्पूर्वं यङोऽचि चेति यङो लुकि, प्रत्यय-लक्षणेन यङन्तत्वमाश्रित्य 'भू' इत्यस्य द्वित्वेऽभ्यासादिकार्यं कृते 'बोभू' इत्यस्य धातुसंज्ञायां लटि, शेषात्कर्तरीति सहकारेण लटः परस्मैपदमिति परस्मैपदे तिपि, शपि, यङ्लुग्बोधक 'चर्करीत' शब्दस्यादादिपाठाच्छपो लुकि, 'यङो वा' इति—

१—आर्षधातुक पर हो तो इल् से परे 'य' शब्द का लोप होता है । २—यङ् पर हो या यङ् लुक का विषय हो तो ऋदुपधक (ऋट् उपधा वाले) धातु के अभ्यास को रीक् आगम होता है । वरीवृत्यते=बार-बार या अत्यन्त वर्तता है । ३—क्षुभ्नादिगण पठित धातुओं के नकार को णकार होता है । नरीनृत्यते=बार-बार या अत्यन्त नाचता है । जरीगृह्यते=बार-बार या अत्यन्त ग्रहण करता है ।

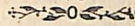
॥ इति यङन्तप्रक्रिया ॥

५०

४—अच् प्रत्यय पर हो तो यङ् का लोप होता है, चकारात्—कहीं—कहीं अच् प्रत्यय के बिना भी लोप होता है । ५—यङ् लुगन्त से परे ह्लादि पित् सार्वधातुक को ईट्

अदभ्यस्तात् । बोभुवीति । बोभवाञ्चकार । बोभवामास । बोभविता ।
बोभविष्यति । बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुवतु । बोभूहि ।
बोभवानि । अबोभवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः । बोभूयात् ।
बोभूयाताम् । बोभूयुः । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । गाति-
स्थेति सिचो लुक् । यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक् । अबो-
भूवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



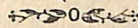
अथ नामधातवः ।

सुप आत्मनः क्यच् ३ । १ । ८ ॥ 'इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः
सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ।

ईड्विकल्पे गुणावादेशयोः कृतयोः 'बोभवीति' इति । ईडमावे 'बोभोति' इति ।
अत्र 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधस्तु न 'बोभोतु' इति छन्दसि गुणस्य निपातनेन
लोके यङ्लुकि गुणस्येष्टत्वात् ।

अबोभूवीत्—भूधातोरेकाच—' इति यङि, यङो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन सन्यङो-
रिति द्वित्वेऽभ्यासादिकार्ये, अभ्यासगुणे, ततो धातुसंज्ञायां लुङि, अटि, च्लौ, सिचि
कृते गातिस्थेति सिचो लुकि, 'यङो वा' इति वैकल्पिके 'ईटि' अनुबन्धलोपे, नित्य-
त्वाद् गुणं बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुक्यनुबन्धलोपे, इतरश्चेति तिप
इकारलोपे 'अबोभूवीत्' इति । ईडमावे गुणे च कृते 'अबोभोत्' इति ।

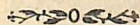
॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



इषिकर्मण इत्यादि—इच्छाक्रियाकर्तृसम्बन्धिनः इच्छाक्रियाकर्मीभूतात्सुबन्तादि-
च्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो भवतीति स्पष्टार्थः । समन्वयो यथा—आत्मनः पुत्रमि-
च्छति इत्यत्र 'पुत्रम्' सुबन्तमिच्छा-कर्तृ तथा इच्छाक्रियाकर्म च, तत्र द्वितीयान्ता-
त्क्यच् । यत्र तु परस्य पुत्रमिच्छतीति विग्रहस्तत्र पुत्रस्य परसम्बन्धित्वात् क्यच् न ।

विकल्प से होता है । बोभवीति=बारम्बार या उत्तम प्रकार से हो रहा है ।

॥ इति यङ्लुक्प्रक्रिया ॥



१—इप् (इषु इच्छायाम्) धातु का कर्म और इच्छा करनेवाले का सम्बन्धी जो सुबन्त
उससे इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २ । ४ । ७२ ॥ ^१एतयोरवयवस्य सुपो लुक् ।
 क्यचि च ७ । ४ । ३३ ॥ ^२अवर्णस्य ईत्स्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति
 पुत्रीयति ।

नः क्ये १ । ४ । १५ ॥ ^३क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नाऽन्यत् ।
 नलोपः । राजीयति । नान्तमेवैति किम् ? वाच्यति । हलि च । गीर्यति ।
 पूर्यति । धातोरित्येव । नेह—दिवमिच्छति दिव्यति ।

क्यस्य विभाषा ६ । ४ । ५० ॥ ^४हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्ध-
 धातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न ।
 समिधिता । समिध्यता ।

काम्यच्च ३ । १ । ९ ॥ ^५उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमात्मन
 इच्छति पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यता ।

उपमानादाचारे ३ । १ । १० ॥ ^६उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे
 क्यच् । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् । ❀^७सर्व-
 प्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः । अतो गुणे । कृष्ण इवाचरति कृष्णति ।

एवं पुत्रेणेच्छतीत्यत्रापि न पुत्रस्येच्छाकर्मत्वाभावात् ।

पुत्रीयति—आत्मनः पुत्रमिच्छति—इति लौकिकविग्रहे 'पुत्र अम्' इत्यस्मात्
 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, अनुबन्धलोपे, सनाद्यन्तेति धातुत्वे सुपो धातु-
 प्रातिपदिकयोरिति सुपो (अमो) लुकि, 'क्यचि च' इति—ईत्वे, धातुत्वान्तर-
 तिप्—शबादिषु कृतेषु 'पुत्रीयति' इति ।

१--धातु एवं प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लोप होता है । २--क्यच् प्रत्यय पर
 हो तो अवर्ण को 'ईकार' आदेश होता है । पुत्रीयति=अपने वास्ते पुत्र की इच्छा करता है ।
 ३--क्यच् या क्यङ् प्रत्यय पर हो तो नान्त की पदसंज्ञा होती है अन्य की नहीं । गीर्यति=
 अपने लिये वाणी चाहता है । पूर्यति=अपने लिये पूः (नगरी, गाँव) चाहता है । दिव्यति=
 अपने लिये स्वर्ग चाहता है । ४--आर्धधातुक पर हो तो हल् से परे जो क्यच् उसका
 लोप विकल्प से होता है । समिध्यति=अपने लिये लकड़ी चाहता है । ५--उक्त विषय में
 (इप् धातु का कर्म हो, इच्छा कर्ता का सम्बन्धी हो तद्वाचक सुबन्त से इच्छा अर्थ में)
 क्यच् प्रत्यय होता है । पुत्रकाम्यति--अपने वास्ते पुत्र चाहता है । ६--उपमानवाचक कर्म-
 संज्ञक सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है । पुत्रीयति छात्रम्=शिष्य को
 पुत्र के समान मानता है । विष्णूयति द्विजम्=ब्राह्मण को विष्णु की तरह मानता है ।
 ७--प्रातिपदिकमात्र से आचार अर्थ में विकल्प से क्विप् प्रत्यय होता है । कृष्णति=कृष्ण

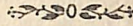
स्व इवाचरति स्वति । सस्वौ ।

अनुनासिकस्य क्विञ्जलोः क्विञ्ति ६ । ४ । १५ ॥ ^१अनुनासिकान्तस्यो-
पाध्याया दीर्घः स्यात्क्वौ ज्ञलादौ च ङ्ङिति । इदमिवाचरति इदामति ।
राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति ।

कष्टाय क्रमणे ३ । १ । १४ ॥ ^२चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ्
स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत् इत्यर्थः ।

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३ । १ । १७ ॥ ^३एभ्यः कर्मभ्यः
करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । [ग. सू.] ^४त्करोति
तदाचष्टे—इति णिच् । ^५प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च । प्रातिपदि-
काद्धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्टे यथा—प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-
विन्मत्तुल्लोपयणादिलोप—प्रस्थस्फाद्यादेश—भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः ।
इत्यल्लोपः । घटं करोत्याचष्टे वा—घटयति ।

॥ इति नामघातवः ॥



पुंवद्भावरभावेत्यादि—उदाहरणानि—पुंवद्भावस्य—पट्वीमाचष्टे पटयति,
मसंज्ञाया अपि इदमेव । रभावस्य—दृढमाचष्टे द्रढयति । टिलोपस्य—पटुमाचष्टे
पटयति । विनो लुकि—स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति । मतुल्लुकि—श्रीमन्तं करोति श्राय-
यति । यणादिलोपे—स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं करोति दवयति । प्रादेशस्य—प्रिय-
माचष्टे प्रापयति । स्थादेशस्य—स्थिरं करोति स्थापयति । स्फादेशस्य—स्फिरमाचष्टे
स्फापयति ।

के समान आचरण करता है । स्वति=अपने सदृश मानता है ।

१—क्विप् और ज्ञलादि कित् ङित् पर हो तो अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ होता
है । इदामति=इसके समान व्यवहार करता है । राजानति—राजा जैसा व्यवहार करता
है । पथीनति—मार्ग सा मानता है । २—चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ में क्यङ्
प्रत्यय होता है । कष्टायते पाप करना चाहता है । ३—कर्मवाचक शब्द, वैर, कलह, अभ्र,
कण्व, मेघ—शब्दों से 'करोति' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है । ४—द्वितीयान्त से 'करोति'
एवं 'आचष्टे' अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है । ५—प्रातिपदिक से धात्वर्थ में 'णिच्' प्रत्यय
होता है, वह बहुलता से इष्टवत् होता है । (इष्टन् प्रत्यय के पर रहने पर जो कार्य होते
हैं, वे णिच् पर रहते भी होते हैं) ।

॥ इति नामघातवः ॥



अथ कण्ड्वादयः ।

कण्ड्वादिभ्यो यक् ३ । १ । २७ ॥ ^१एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्या-
त्स्वार्थे । कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । कण्डूयति । कण्डूयते-इत्यादि ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥

॥ २७० ॥

अथात्मनेपदप्रक्रिया ।

कर्तरि कर्मव्यतिहारे १ । ३ । १४ ॥ ^२क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मने-
पदम् । व्युत्तिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनमन्यः करोतीत्यर्थः ।

न गतिहिसार्थेभ्यः १ । ३ । १५ ॥ ^३व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति ।

नेर्विशः १ । ३ । १७ ॥ ^३निविशते ।

परिव्ययेभ्यः क्रियः १ । ३ । १८ ॥ ^४परिक्रीणीते । विक्रीणीते ।
अवक्रीणीते ।

विपराभ्यां जेः १ । ३ । १९ ॥ ^५विजयते । पराजयते ।

समवप्रविभ्यः स्थः १ । ३ । २२ ॥ ^६सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते ।
वितिष्ठते ।

अपह्लवे ज्ञः १ । ३ । ४४ ॥ ^७शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

अकर्मकाच्च १ । ३ । ४५ ॥ ^८सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः ।

उदश्चरः सकर्मकात् १ । ३ । ५३ ॥ ^९धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य
गच्छतीत्यर्थः ।

न गतिहिसार्थेभ्यः—गत्यर्थकेभ्यो हिसार्थेभ्यश्च कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न ।

१—कण्ड्वादिगणपठित धातुओं से स्वार्थ में 'यक्' प्रत्यय नित्य ही होता है ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥

॥ २७० ॥

२—क्रिया का विनिमय (अदल-बदल) द्योत्य (गन्धमान) हो तो, धातु से कर्ता
अर्थ में आत्मनेपद होता है । ३—गत्यर्थक एवं हिसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार अर्थ में
आत्मनेपद नहीं होता है । ४—'नि' उपसर्ग से युक्त विश् धातु से आत्मनेपद होता है ।
५—परि, वि या अव उपसर्ग पूर्वक क्रीष् धातु से आत्मनेपद होता है । ६—वि या परा
उपसर्ग से युक्त 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है । ७—सम, अव, प्र, वि उपसर्ग
से युक्त स्था धातु से आत्मनेपद होता है । ८—अपहव (छिपाने) अर्थ में ज्ञा धातु से
आत्मनेपद होता है । शतमपजानीते—सौ रुपया छिपा रहा है । ९—उत्त पूर्वक
आत्मनेपद होता है । सर्पिषो जानीते—धी के बहाने से प्रवृत्त हो रहा है । ९—उत्त पूर्वक
सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ।

समस्तृतीयायुक्तात् १ । ३ । ५४ ॥ १रथेन सञ्चरते ।

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १ । ३ । ५५ ॥ ३सम्पूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी ।

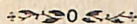
पूर्ववत्सनः १ । ३ । ६२ ॥ ३सनः पूर्वं यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्ताद-
प्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते ।

हलन्ताच्च १ । २ । १० ॥ ४इक्समीपाद्दलः परो झलादिः सन्
कित्स्यात् । निविविक्षते ।

गन्धनाऽवक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृजः १ । ३ ।
३२ ॥ ५गन्धनं—सूचनम् । उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं—
भर्त्सनम् । ६श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । ७हरिमपुकुरुते । सेवते
इत्यर्थः । ८परदारान्प्रकुरुते । तेषु सहसा प्रवर्तते । ९एधो दकस्योपस्कुरुते ।
गुणमाधत्ते । १०कथाः प्रकुरुते । प्रकथयतीत्यर्थः । ११शतं प्रकुरुते । धर्मार्थं
विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।

भुजोऽनवने १ । ३ । ६६ ॥ १२ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति ।

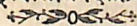
। इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥



समस्तृतीयायुक्तात्—तृतीयान्तेन युक्तात्सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् ।

गन्धनेति—गन्धनाद्यर्थेषु कृज आत्मनेपदं स्यात् ।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥



१—तृतीयान्त से युक्त सम्-पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है । रथेन सञ्चरते=
रथ से घूमता है । २—तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में यदि प्रयुक्त हो तो उस तृतीयान्त से
युक्त सम्-पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है । दास्या संयच्छते कामी=कामुक मनुष्य
दासी को धन दे रहा है । ३—सन् से पूर्व जो धातु उसके तुल्य सन्नन्त से भी आत्मनेपद
होता है । एदिधिषते-बढ़ना चाहता है । ४—इक्के समीप हल् से झलादि सन् प्रत्यय किन्तु
संज्ञक होता है । निविविक्षते-प्रविष्ट होना चाहता है । ५—गन्धन (चुगुलखोरी), अवक्षेपण
(भय देना), सेवन, साहसिक्य (बलात्कार), प्रतियत्न (गुणग्राहकता), प्रकथन, उपयोग
(धर्मार्थदानादि) अर्थों में कृ धातु से आत्मनेपद होता है । उत्कुरुते-चुगुली करता है ।
६—बाज (अन्य) पक्षीपर झपटता है । ७—हरि की सेवा करता है । ८—दूसरे की स्त्री के
साथ बलात्कार करता है । ९—काठ जल का गुण लेता है । १०—कथा कहता है । ११—
सौ या सैकड़ों रुपया धर्मार्थ करता है । १२—भुज् धातु से भोजन अर्थ में आत्मनेपद होता है ।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥



अथ परस्मैपदप्रक्रिया ।

अनुपराभ्यां कृञः १ । ३ । ७९ ॥ ^१[अनुपराभ्यां कृञः] कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति ।

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १ । ३ । ८० ॥ ^२क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

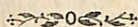
प्राद्वहः १ । ३ । ८१ ॥ ^३प्रवहति ।

परेर्मृषः १ । ३ । ८२ ॥ ^४परिमृषति ।

व्याङ्परिभ्यो रमः १ । ३ । ८३ ॥ ^५रमु क्रीडायाम् । विरमति ।

उपाच्च १ । ३ । ८४ ॥ यज्ञदत्तमुपरमति । ^६उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥ इति पदव्यवस्था ॥



अनुपराभ्यामिति—आभ्यां कृञः परस्मैपदं स्यात् ।

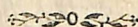
अभिप्रति—इत्यादिभ्यः परस्मात् क्षिपः परस्मैपदं स्यात् ।

परेर्मृष इति—परिपूर्वान्मृषतेः परस्मैपदं स्यात् ।

व्याङ्परोति—एभ्यो रमतेः परस्मैपदं स्यात् ।

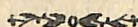
विरमति—विपूर्वक-रम्-धातोर्लटि, तस्य व्याङ्परिभ्य इति परस्मैपदे कृते तिप्-शबादिना तस्य सिद्धिः । उपाच्चेति—उपाद्रमतेः परस्मैपदं स्यात् ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥



१—क्रिया का फल कर्ता में जाय और गन्धनावक्षेपण-आदि कोई अर्थ गम्यमान हो तो अनु या परा उपसर्ग से युक्त कृ धातु से परस्मैपद होता है । २—अभि, प्रति या अति पूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है । अभिक्षिपति=फेंकता है । ३—प्र उपसर्ग से परे वह धातु से परस्मैपद होता है । प्रवहति=बहता है । ४--परि उपसर्ग से परे मृष् धातु से परस्मैपद होता है । परिमृषति=सहन करता है । ५--वि, आङ् या परि उपसर्ग से परे रम् धातु से परस्मैपद होता है । ६--उप उपसर्ग से परे रम् धातु से परस्मैपद होता है ।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥



अथ भावकर्मप्रक्रिया ।

भावकर्मणोः १।३।१३ ॥ १ [भावे कर्मणि च धातोः] लस्यात्मनेपदम् ।
सार्वधातुके यक् ३।१।६७ ॥ २ धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्व-
धातुके । भावः—क्रिया । सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते । युष्मदस्मद्भ्यां
सामानाधिकरण्याऽभावात्प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वे
द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किं त्वैकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया मया अन्यैश्च
भूयते । वभूवे ।

स्यसिच्सीयुद्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्जनग्रहदृशां वा चिष्वदिद्
च ६।४।६२ ॥ ३ उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाऽङ्-

इदमत्र ध्येयम्—एतावत्पर्यन्तं धातुभ्यः कर्तरि लकारानभिधायेदानीमकर्म-
कर्म्यो भावे सकर्मकभ्यः कर्मणि च लकारं विधातुं प्रकरणस्यारम्भः ।

भावकर्मणोः—भावे कर्मणि च यो लस्तस्यात्मनेपदम् स्यात् ।

भाव इति—नन्वकर्मकधातुभ्यो भावे 'लः' क्रियते, तत्र भावपदार्थः क इति
चेत् ? भावः क्रिया भावना व्यापार इति पर्यायशब्दाः । ननु सर्वेषां धातूनां क्रिया-
वाचित्वाद्धातुमात्रस्य भावरूपोऽर्थः, स च धातुर्नैव लब्धः, पुनस्तदर्थे लकारविधानं
किमर्थमिति चेच्छृणु—यो हि भावो धातुनोच्यते स एव लकारेणानूद्यते न तु लकार-
स्य तदिमन्नभावोऽर्थः । ननु भावे लकारे प्रथममध्यमोत्तमपुरुषमध्ये कस्य प्रयोग इति
चेच्छृण्वन्तु । तिङ्वाच्यकारकवाचिनोर्युष्मदस्मदोः सत्त्वे एव मध्यमोत्तमयोः प्रयोगः,
भावे तु तिङ्वाच्यकारकाभावेन तयोर्न प्रयोगः । तर्हि प्रथमपुरुषस्यैव सर्वाणि
वचनानि भवेयुरितिदमपि न, तेनानूद्यमानस्य भावस्याद्रव्यरूपत्वाद् द्वित्वाद्यभावा-
त्प्रथमपुरुषस्यापि द्विवचन—बहुवचने न स्याताम् । एकवचनस्याभावत्वं तु न शङ्क्यम्,
भावे प्रत्यये सर्वत्रोत्सर्गिकैकवचनस्य स्वीकारात् । तथा च भावे लकारे कृते 'कर्ता'
अनुक्तो भवतीति कर्तरि तृतीया, सर्वलकारेषु प्रथमपुरुषैकवचनञ्च । यथोदाहरणम्
त्वया मया अन्यैश्च भूयते इति । कर्मणि लकारे तु कर्मण उक्तत्वात्तत्र प्रथमा, कर्तुं-
श्चानुक्तत्वात्तत्र तृतीया, परन्तु कर्मणोऽनुसारेणैव सर्वेषां पुरुषाणां वचनानाञ्च
प्रयोगः, यथा—चैत्र आनन्दमनुभवतीति 'चैत्रेणानन्दोऽनुभूयते' । चैत्रस्त्वामनु-
भवतीति 'चैत्रेण त्वमनुभूयते' मैत्रो मामनुभवतीति 'मैत्रेणाहमनुभूये' इत्यादि ।

१—भाव एवं कर्म में प्रत्यय होने पर धातु के लकार को आत्मनेपद होता है । २—
भाव या कर्म-वाची सार्वधातुक पर हो तो धातु से यक् प्रत्यय होता है । ३—लकार यदि भाव

गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च ।
चिण्वद्भावपक्षेऽयामिट् । चिण्वद्भावदृद्धिः । भाविता-भविता । भाविष्यते-
भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट-भविषीष्ट ।

चिण् भावकर्मणोः ३ । १ । ३६ ॥ 'क्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि
तशब्दे परे । अभावि । अभाविष्यत । अभविष्यत ।

अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्कर्मकः । अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया
च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनुभूये । अन्वभावि । अन्व-
भाविषाताम्-अन्वभविषाताम् । णिलोपः । भाव्यते । भावयाञ्चक्रे । भाव-
याम्बभूवे । भावयामासे । चिण्वदिट् । आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाणिलोपः ।
भाविता-भावयिता । भाविष्यते-भावयिष्यते । अभाव्यत । भाव्येत । भावि-
षीष्ट-भावयिषीष्ट । अभावि । अभाविषाताम्-अभावयिषाताम् । बुभूष्यते ।
बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बोभूय्यते । बोभूयते । अकृत्सार्व-
धातुकयोर्दीर्घः । स्तूयते विष्णुः । स्ताविता-स्तोता । स्ताविष्यते-स्तोष्यते ।
अस्तावि । अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम् ।

भाविता-भविता—मूधातोर्भावे लुटि, तस्य तादेशे, स्यतासीति तासि 'भू तास्
त' इति स्थिते, 'स्यसिच्-' इति चिण्वद्भावे, तासेरिडागमे च, चिण्वद्भावाद
वृद्धावादेशे च 'भावि तास् त' इति जाते तस्य डादेशे, टिलोपे 'भाविता' इति ।
चिण्वद्भावाभावपक्षे 'घार्धधातुकस्य--' इतीटि गुणादि कृते 'भविता' इति ।

भाव्यते इति—अत्रेदं ध्येयम्-अकर्मधातुभ्यो यत्र हेतुमणिच् तत्र णिजन्ताव-
स्थायां प्रयोज्यस्य 'गतिबुद्धि०' इति कर्मत्वं, प्रयोजकस्य कर्तृत्वम् । एवञ्च णिच्य-
कर्मकाणां सकर्मकत्वम्, तत्र प्रयोज्यकर्मणि प्रत्यये तस्य प्रथमान्तता, प्रयोजकस्य
तृतीयान्तता । यथा—'देवदत्तो यज्ञदत्तं भावयति' 'देवदत्तेन यज्ञदत्तो भाव्यते' ।
चैत्रस्त्वां भावयति-चैत्रेण त्वं भाव्यसे । चैत्रो मां भावयति-चैत्रेणाहं भाव्ये इत्यादि ।

भाविता-भावयिता—एयन्ताद् भावयतेः कर्मणि लुटि त-तासादि कार्ये कृते

या कर्म में हुआ हो और स्य, सिच्, सीयुट् या तास् प्रत्यय पर हों तो, उपदेश में जो
अच् तदन्त जो धातु उनको एवं हच्, ग्रह्, दृश्-धातुओं को विकल्प से चिण्वत् 'चिण्
के सदृश' अङ्गकार्य होता है एवं स्यादियों को इट् का आगम भी होता है ।

१—भाव-कर्म-वाची 'त' शब्द पर हो तो क्लि के स्थान में चिण् होता है । अनुभूयते
=अनुभव किया जाता है ।

ऋ गतौ । गुणीर्तीति गुणः । अर्यते । स्मृ स्मरणे । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिष्वदिट् । आरिता-अर्ता । स्मारिता-स्मर्ता । अनदिता-मिति नलोपः । स्रस्यते । इदितस्तु नन्द्यते । सम्प्रसारणम्-इज्यते ।

तनोतेर्यकि ६ । ४ । ४४ ॥ [तनोतेर्यकि] आकारोऽन्तादेशो वा स्यात् । तायते-तन्यते ।

तपोऽनुतापे च ३ । १ । ६५ ॥ ^२तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तर्यनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । घुमास्थेतीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे ।

आतो युक् चिण्कृतोः ७ । ३ । ३३ ॥ ^३आदन्तानां युगागमः स्वाच्चिणि ङिति कृति च । दायिता-दाता । दायिषीष्ट-दासीष्ट । अदायिषाताम् । भज्यते ।

भञ्जेश्च चिणि ६ । ४ । ३३ ॥ ^४नलोपो वा स्यात् । अभाजि-अभञ्जि । लभ्यते ।

विभाषा चिण्णमुलोः ७ । १ । ६९ ॥ ^५लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि-अलाभि ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

‘मावि तास् त’ इति स्थिते, ‘स्यसिचसीयुट्’ इति चिष्वदभावे इटि च कृते ‘मावि इ तास् त’ इति दशायाम् असिद्धवदत्रामादिति चिष्वदिटोऽसिद्धत्वेनेट्परत्वाभावात् णेरनिटीति णेलोपि, ‘लुटः प्रथमस्य-’ इति डादेशे टिलोपे च कृते ‘माविता’ इति । चिष्वदभावपक्षे ‘आर्धधातुकस्य-’ इति-इत्यनुबन्धलोपेऽत्र पक्षे णिलोपाभावे गुणयादेशयोः कृतयोः ‘मावयिता’ इति ।

उपदेशग्रहणादिति-अयम्भावः ऋघातोलुटि ‘ऋ तास् त’ इति स्थिते परत्वात् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे कृतेऽजन्तत्वाभावाच्चिष्वदभावो न स्यादिति न शङ्क्यम्, ‘उपदेशे ऋ’ इत्यस्याजन्तत्वेन सम्प्रति हलन्तत्वेऽपि तस्य प्रवृत्तेः ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

१-यक् प्रत्यय पर हो तो तन् धातु को आकार अन्तादेश होता है, विकल्पसे । २-कर्मकर्तृ ‘कर्म ही हो कर्ता जिसमें ऐसे’ या अनुताप अर्थ गम्यमान रहने पर तप् धातु से परे जो च्लि उसको चिण् नहीं होता है । ३-चिण् एवं चित् णित् या कृत् प्रत्यय पर हो तो आदन्त धातुओं को युक् का आगम होता है । ४-चिण् पर हो तो भञ्ज् धातु के नकार का लोप विकल्प से होता है । ५-चिण् या णमुल् प्रत्यय पर हो तो लम् धातु को युक् का आगम होता है, विकल्प से ।

॥ इति भावकर्मप्रक्रिया ॥

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

१यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तृरिभावे च लकारः ।

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३ । १ । ८७ ॥ २कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात् । कार्यातिदेशोज्यम् । तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदितः स्युः । पच्यते फलम् । भिद्यते काष्ठम् । अपाचि । अभेदि । भावे तु—भिद्यते काष्ठेन ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥

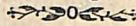


अथ लकारार्थप्रक्रिया ।

अभिज्ञावचने लृट् ६ । २ । ११२ ॥ ३स्मृतिबोधिन्पुपपदे भूतानद्यतने

कर्मकर्तृप्रक्रिया—इदमत्र ध्येयम्—यत्र कर्तृकरणाधिकरणकर्मकारकाणामेकस्मिन्नेव पच्—आदिधातुप्रयोगे सम्मेलनं (प्रयोगो) दृश्यते, यथा चैत्रो दह्निता स्थाल्यां तण्डुलं पचति इति, तत्र चैत्रस्य कर्तृत्वाविवक्षायां तथा करणादीनामेव कर्तृत्वविवक्षायां 'वह्निः पचति', स्थाली पचति', 'तण्डुलः पचति', इतिवत्प्रयोगाः । अनुभवविरोधात्सम्प्रदानापादानयोस्तु न कदापि कर्तृत्वविवक्षेति विशेषः ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥



सामान्यतो लकारार्थाः प्रतिपादिताः किन्तु कतिपयानां लकाराणां विशेषार्थप्रदर्शनाय लकारार्थप्रक्रिया ।

१—जब कर्म ही कर्ता के रूप से कहा जाय 'कहना चाहे'—तब वे सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाते हैं, अतः 'अकर्मक हो जाने से' उनसे भी कर्ता एवं भाव में लकार होता है । २—कर्म में स्थित जो क्रिया उसके साथ तुल्यक्रियावाला कर्ता कर्मवत् 'कर्म के सदृश' होता है । इस प्रकरण का अर्थ यह है—कर्म में ही कर्तृत्व की इच्छा । जैसे—पच्यते फलम्=फल स्वयं पकता है, यहाँ कर्म में कर्तृत्व बुद्धि की गयी है । 'कालेन फलं पच्यते' इस दशा में फल कर्म था, यहाँ 'स्वयमेव' कर्ता हो गया । भिद्यते काष्ठम्=काष्ठ स्वयं फटता है । यह भी पूर्ववत् है ।

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ॥



३—स्मृतिबोधक शब्द धातु के उपपद 'पद के समीप' रहे तो भूत अनद्यतन अर्थ में

धातोर्लट् । लङोऽपवाद । वस निवासे । स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः । एवं 'बुध्यसे'—'चेतयसे' इत्यादिप्रयोगेऽपि ।

न यदि ३ । २ । ११३ ॥ 'यद्योगे उक्तं न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्जमहि ?

लट् स्मे ३ । २ । ११८ ॥ 'लिटोऽपवादः । यजति स्म युधिष्ठिरः ।

वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ३ । ३ । १३१ ॥ 'वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः । कदाऽऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागमं वा । कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि, गमिष्यामि वा ।

हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३ । ३ । १५६ ॥ [हेतुहेतुमतोर्लिङ्] वा स्यात् । कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति । भविष्यत्येवे-

स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः—वस धातोर्लिङि प्राप्ती 'अभिज्ञावचने लृट्' इति लृटि, तस्य मस्प्रत्यये, स्यतासीति स्यप्रत्यये, 'सः स्यादार्धधातुके' इति सस्य तत्वे 'अतो दीर्घो यजि' इति दीर्घे, मसो सस्य हत्वे विसर्गे च उक्तरूपं सिद्धयति ।

यजतिस्म युधिष्ठिरः—यजधातोर्लिटि प्राप्ते 'लट् स्मे' इति लटि, तत्स्थाने तिवादि कृते 'यजतिस्म' इति । लट् स्मे—स्मशब्दयोगे लट् स्यात् ।

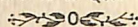
हेतुहे-मतोः—हेतुः करणं, हेतुमत्कार्यं, तयोगंम्यमानत्वे भविष्यत्यर्थे लिङ् वा स्यात्क्षे लृट् ।

धातु से लृट् लकार होता है । हेकृष्ण ! स्मरण करते हो कि हम सब गोकुल में रहा करते थे ।

१—स्मृति-बोधक पद उपपद हो तो यद् शब्द के योग में धातु से लृट् लकार नहीं होता है । हे कृष्ण ! क्या स्मरण कर रहे हो ? जो कि हमलोगोंने वन में खाया था । २—लिट् के विषय 'भूतकाल' में स्म के योग में धातु से लट् लकार होता है । लिट् का बाधक है । युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था । ३—'वर्तमाने' सूत्र के अधिकार में जो प्रत्यय जिस धातु से कहे गये हैं, वे सभी उसी धातु से वर्तमान के समीप भूत एवं भविष्यत् अर्थ में विकल्प से भी होते हैं । 'अर्थात् वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत तथा भविष्यत्काल में वैकल्पिक-ऐच्छिक प्रयोग हो सकते हैं । जैसे भूतकाल में प्रश्न—कदागतोऽसि=कब आये हो ? उत्तर—अयमागच्छामि—यह अभी आया हूँ । भविष्य में—कदा गमिष्यसि=कब जाओगे ? एष गच्छामि=अभी जाऊँगा, जा रहा हूँ । ४—हेतु 'कारण', हेतुमत् फल, कार्य । अर्थात् कार्य-कारण-भाव अर्थ में वर्तमान जो धातु उससे भविष्यत् अर्थ में लिङ् लकार विकल्प से होता है । कृष्ण

प्यते । नेह-हन्तीति पलायते । विधिनिमन्त्रणेति लिङ् । विधिः प्रेरणं भृत्या-
 देर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । यजेत । निमन्त्रणं-नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्ध-
 भोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । इह भुञ्जीत । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा ।
 इहाऽऽजीत । अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः । पुत्रमध्यापयेद्भवान् । सम्प्र-
 श्नः सम्प्रधारणम् । किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम् ? प्रार्थनं याच्ना । भो
 भोजनं लभेय । एवं लोट् ।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥ इति तिङन्तप्रकरणम् ॥



अथ कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया ।

धातोः ३ । १ । ९१ ॥ ^१आतृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्ययास्ते धातोः
 परे स्युः । कृदतिङिति कृत्संज्ञा ।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३ । १ । ९४ ॥ ^२अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽप-
 वादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।

कृत्याः ३ । १ । ९५ ॥ ^३ण्वुत्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

कर्त्तरि कृत् ३ । ४ । ६७ ॥ ^४कृत्प्रत्ययः कर्त्तरि स्यात् । इति प्राप्ते—

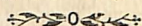
तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३ । ४ । ७० ॥ ^५एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

तव्यत्तव्यानीयरः ३ । १ । ९६ ॥ ^६धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधि-
 तव्यम्, एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च । चेतव्यश्च-

एधितव्यम्—अत्रेदम्बोधयम्—त्वमेधस्व ऐधेथा वा त्वया एध्यताम्—एध्येत वा
 त्वया एधितव्यम्—एधनीयम् वंते सर्वे लिङ्लोट्कृत्यप्रत्ययाः समानार्थप्रतिपादकाः ।
 अत्र एध् धातोरकर्मकत्वाद् भावे 'तयोरेव कृत्य-०' इति नियमात् 'तव्यत्तव्या-०'

नमेचेत्सुखं यायात्= यदि श्राद्धा को नमस्कार करेगा तो सुख पावेगा ।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया ॥ ॥ इति तिङन्तप्रकरणम् ॥



१—'धातोः' सूत्र से लेकर तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय होंगे वे धातु
 से परे होंगे 'होते हैं' । २—इस धातोः सूत्र के अधिकार में असमानरूप जो अपवाद प्रत्यय
 वह उत्सर्ग का बाधक विकल्प से होता है, 'स्त्रियां' सूत्र के अधिकार में कहे गये को छोड़कर ।
 ३—'ण्वुत्तृचौ' सूत्र से पूर्व के प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा होती है । ४—कृत् प्रत्यय
 कर्ता में होता है । ५—कृत्य, क्त एवं खलर्थ-प्रत्यय भाव एवं कर्म में ही होते हैं । ६—तव्यत्,
 तव्य एवं अनीयर् प्रत्यय धातु से होते हैं । एधितव्यम्, एधनीयम्=बढ़ने योग्य, बढ़ना

यनीयो वा धर्मस्त्वया । १^१केलिमर उपसंख्यानम् । पचेलिमा माषाः ।
पक्तव्या इत्यर्थः । २^२भिदेलिमाः सरलाः । भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययः ।

३^३कृत्यल्युटो बहुलम् ३ । ३ । ११३ ॥

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

अचो यत् ३ । १ । ९७ ॥ ४^४अजन्ताद्घातोर्यत् । चैयम् ।

ईद्यति ६ । ४ । ३५ ॥ ५^५यति परे आत ईत्स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

पोरदुपधात् ३ । १ । ९८ ॥ ६^६पवर्गान्ताददुपधाद्यत्स्यात् । ष्यतोऽपवादः ।

षाप्यम् । लभ्यम् ।

एतिस्तुशास्वृद्जुषः क्यप् ३ । १ । १०९ ॥ ७^७एभ्यः क्यप् स्यात् ।

इति तव्यप्रत्यये, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सु अम् आदि कृते उक्तल्पस्य सिद्धिः ।

अत्रैकवचनमौत्सर्गिकम् । सामान्ये नपुंसकमिति नपुंसकम् ।

चैयम्—त्वं चिनु, त्वया चीयताम्—इति वाक्ये त्वया 'चैयम्' इति । देयम्—
दा धातोः 'अचो यत्' इति यति—तकारलोपे, 'ईद्यति' इति धातोराकारस्य—
ईत्वे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे विभक्तकार्ये च 'देयम्' इति । 'एतिस्तु'—
इण् गतौ, ष्टुञ् स्तुतौ, शासु अनुशिष्टौ, वृञ् वरणे, दृङ् आदरे, जुषी प्रीतिसेवनयो-
रित्येभ्यः क्यप् स्यात् ।

चाहिये । चेतव्यः, चयनीयः=एकत्र करने योग्य इकट्ठा करना चाहिये ।

१—केलिमर् प्रत्यय धातु से होता है—'ऐसा कहना चाहिये' । पचेलिमा माषाः=उड़द
पकाने के योग्य हैं । २—देवदारु कटाने लायक है । ३—कृत्य एवं ल्युट् प्रत्यय बहुलता से
होते हैं । 'बाहुलक चार प्रकार का होता है'—कहीं प्रवृत्ति का होना 'सूत्रका लगना', कहीं
अप्रवृत्त होना, कहीं विकल्प से होना, कहीं भिन्न विधान का हो जाना इत्यादि विधि के
विधान को अनेक प्रकार से देखकर बहुलता को चार प्रकार से कहते हैं । स्नानीयं चूर्णम्=
स्नान करने योग्य चूर्ण । दानीयो विप्रः=दान देने योग्य ब्राह्मण । ४—अजन्त धातु से यत्
प्रत्यय होता है । चैयम्=चुनने लायक । ५—यत् प्रत्यय पर हो तो आदन्त धातु के आकार
को ईकार आदेश होता है । देयम्=देने लायक । ग्लेयम्=दुःख होने लायक । ६—अदुपध
(अकार है उपधा में जिसके ऐसे) पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है । शप्यम्=शाप
देने योग्य । लभ्यम्=प्राप्त करने योग्य । ७—इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ, एवं जुप् धातुं से

13 क्यप् प्रत्यय होता है ।

१३ ल० कौ०

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१ ॥ इत्यः । स्तुत्यः । शासु
अनुशिष्टौ ।

शास इदङ्ह्रलोः ६।४।३४ ॥ ३शास उपधाया इत्स्यादङि ह्रलादौ
ङ्किति । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः ।

मृजेर्विभाषा ६।१।११३ ॥ ३मृजेः क्यञ्चा स्यात् । मृज्यः ।

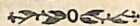
ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४ ॥ ४ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् ।
कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।

चजोः कुघिष्यतोः ७।३।५२ ॥ ५चजोः कुत्वं स्याद्विति ष्यति च परे ।

मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४ ॥ ६मृजेरिको वृद्धिः स्यात्सार्वधातुकार्य-
धातुकयोः । मार्ग्यः ।

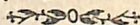
भोज्यं भक्ष्ये ७।३।६९ ॥ ७भोग्यमन्यत् ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



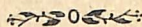
शिष्यः—शास् धातोः 'एतिस्तुशास्वृ—' इति क्यप्यनुबन्धलोपे, 'शास
इदङ्ह्रलोः' इति—उपधाया इत्वे, 'शासिवसि—' इति सस्य पत्वे, विभक्तिकार्ये च
'शिष्यः' इति । मार्ग्यः—मृज् धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ष्यति, 'चजोः कु—'
इति कुत्वेन जकारस्य गकारे, 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ, ततो विभक्तिकार्ये
'मार्ग्यः' इति ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



१-पित् एवं कृत् प्रत्यय पर हो तो ह्रस्व को तुक् का आगम होता है । इत्यः=आगम
लायक । स्तुत्यः=स्तुति करने लायक । २-अङ् पर हो या ह्रलादि कित् या ङित् पर हो तो
शास् धातु की उपधा को इकार आदेश होता है । शिष्यः=शासन करने, शिक्षा देने योग्य
वृत्यः=वर्तने लायक । आदृत्यः=आदर करने लायक । जुष्यः=सेवा के लायक । ३-मृज् धातु के
क्यप् प्रत्यय होता है, विकल्प से । मृज्यः=शुद्धि करने लायक । ४-ऋवर्णान्त एवं हलन्त धातु
से ष्यत् प्रत्यय होता है । कार्यम्=करने योग्य । हार्यम्=हरण करने योग्य । धार्यम्=धारण
करने योग्य । ५-वित् या णित् प्रत्यय पर हो तो च एवं ज को कुत्व होता है । ६-सार्वधातु
पर हो तो मृज् धातु के इक् को वृद्धि होती है । मार्ग्यः-शोधन योग्य । ७-भक्षण के अर्थ में
'भोज्यम्' ऐसा 'कुत्वाभाव' निपातन होता है । अन्य अर्थ में 'भोग्यम्' ऐसा होता है ।

॥ इति कृत्यप्रक्रिया ॥



अथ पूर्वकृदन्तम्

प्वुलृचौ ३ । १ । १३३ ॥ ^१धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।
युवोरनाकौ ७ । १ । १ ॥ ^२'यु' 'वु' एतयोरनाकौ स्तः । कारकः ।
कर्ता ।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणित्यचः ३ । १ । १३४ ॥ ^३नन्द्यादिल्युः, ग्रह्या-
दर्णिनिः, पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः । जनमर्दयतीति जनार्दनः ।
लवणः । ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचादिराकृतिगणः ।

इगुपधज्ञाप्रोकिरः कः ३ । १ । १३५ ॥ ^४एभ्यः कः स्यात् । बुधः ।
कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

आतश्चोपसर्गे ३ । १ । १३६ ॥ ^५प्रज्ञः । सुगलः ।

गेहे कः ३ । १ । १४४ ॥ ^६गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

कर्मण्यण् ३ । २ । १ ॥ ^७कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं
करोतीति कुम्भकारः ।

पुंसि करोतीति कारकः, स्त्रियां कारिका, नपुंसके कारकम्, करोतीति कर्ता,
स्त्रीलिङ्गे कर्त्री, नपुंसके कर्तुं—इति विशेषः ।

कारकः—कृ धातोः 'प्वुलृचौ' इति प्वुल्यनुबन्धलोपे, 'युवोरनाकौ' इति
'वु' इत्यस्य अकि, णित्वाद् वृद्धौ (आर्) विभक्तिकार्ये च कृते कारकः इति ।
नन्दनः—'टुनदि समृद्धौ' इत्यस्य धातोर्णिलोपे, नन्दिग्रहोत्यादिना ल्युकृतेऽनुबन्धलोपे,
'युवोरनाकौ' इत्यनादेशे, विभक्तिकार्ये 'नन्दनः' इति । लुनातीति लवणः—लूञ्
छेदने क्रयादिः । अत्र निपातनाणत्वम् । गृह्णातीति ग्राही । ग्रह उपादाने । तिष्ठतीति
स्थायी—ष्ठा गतिनिवृत्ती । मन्त्रयते—इति मन्त्री—मन्त्रि गुप्तभाषणे चुरा० । बुध्यते
'इति बुधः—बुध अवगमने दिवा० । कृश्यतीति कृशः—कृश तनूकरणे दि० ।
जानातीति ज्ञः । प्रीणातीति प्रियः । किरतीति किरः । गृह्णाति धान्यादिकमिति
गृहम् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

१—धातु से ण्वुल् एवं लृच् प्रत्यय होते हैं, 'कर्ता अर्थ में' । २—यु को अन एवं वु को
अक आदेश होते हैं । कारकः—कर्ता=करनेवाला । ३—नन्द्यादि धातु से ल्यु, ग्रह्यादि से
णिनि एवं पचादि धातु से अच् प्रत्यय होता है । ४—इगुपध धातु एवं ज्ञा, प्री, कृ-धातुओं से
'क' प्रत्यय होता है । ५—उपसर्ग युक्त आदन्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है । ६—गेह 'गृह'
यदि कर्ता हो तो ग्रह-धातु से 'क' प्रत्यय होता है । ७—कर्म उपपद=पद के समीप 'कर्म
कारक' हो तो धातु से अण् प्रत्यय होता है । कुम्भकारः=कुम्हार ।

आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३ ॥ ^१आदन्ताद्घातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोप इटि च । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसन्दायः । ^२मूलविभुजादिभ्यः कः । मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ।

चरेष्टः ३।२।१६ ॥ ^३अधिकरण उपपदे । कुरुचरः ।

भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७ ॥ ^४भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम् । आदायचरः ।

कृजो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२० ॥ ^५एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ।

अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णोष्वनव्ययस्य ८।३।४६ ॥ ^६आदुत्तरस्याज्जनव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात्करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकरी । वचनकरः ।

एजेः खश् ३।२।२८ ॥ ^७ण्यन्तादेजेः खश् स्यात् ।

अर्हद्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७ ॥ ^८अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात्खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य । शित्वाच्छवादिः । जनमेजयीति जनमेजयः ।

गां ददातीति—गोदः । कम्बलं ददातीति—कम्बलदः । घनं ददातीति—घनदः । कुरुषु देशेषु चरति—गच्छतीति कुरुचरः । अत्र 'चरेष्टः' इति टप्रत्यये तस्येत्संज्ञालोपयोः सुपो लुकि प्रातिपदिकत्वेन सौ, तस्य रुत्वे, विसर्गे च 'कुरुचरः' इति । भिक्षां चरतीति—भिक्षाचरः । आदाय=गृहीत्वा चरतीति = आदायचरः । यशः करोतीति यशस्करी । श्राद्धं करोतीति श्राद्धकरः । वचनं करोतीति वचनकरः ।

जनमेजयः—जनान् (दुष्टान् साधून् वा) एजयति कम्पयति इति लौकिके

१—उपसर्ग से भिन्न कर्म उपपद रहते आदन्त धातु से क प्रत्यय होता है । २—मूल-विभुजादिगण पठित धातुओं से क प्रत्यय होता है । महीध्रः, कुध्रः=पर्वत । ३—अधिकरण उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है । ४—भिक्षा-सेना या आदाय-रूप उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है । ५—हेतु, ताच्छील्य या आनुलोम्य अर्थ द्योत्य हो तो कृ धातु से ट प्रत्यय होता है । ६—समास कर्तव्यता में कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा या कर्णों शब्द पर हो तो अवर्ण से परे अव्यय भिन्न विसर्ग को नित्य सकार आदेश होता है । ७—ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय होता है । ८—खित् प्रत्ययान्त धातु पर हो तो अरुष्, द्विषत् एवं अजन्त को मुम् का आगम होता है, किन्तु अव्यय को छोड़कर ।

प्रियवशे वदः खच् ३ । २ । ३८ ॥ ^१प्रियंवदः । वशंवदः ।

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३ । २ । ७५ ॥ ^२मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।

नेड् वशि कृति ७ । २ । ८ ॥ ^३वशादेः कृतः इण् न स्यात् । शृ हिंसा-
याम् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६ । ४ । ४१ ॥ ^४अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् ।
विजायते इति विजावा । ओणु अपनयने । अवावा । विच् । रुष रिष
हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।

क्विप् च २ । २ । ७६ ॥ ^५अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् ।
वाहभ्रट् ।

विग्रहे ष्यन्ताद् 'एज्' धातोः एज इत्यस्माद् 'एजेः खश्' इति खश् प्रत्यय-
ऽनुबन्धलोपे, शित्वात्सार्वधातुकत्वे शपि, गुणेश्यादेशे पररूपे च जनशब्देन सह
समासे विभक्तैर्लुकि, 'अरुद्विष-' इति पूर्वपदस्य मुमागमे जनमेजयं शब्दात्सौ,
तस्य ह्रस्वे विसर्गे च 'जनमेजयः' इति ।

प्रियंवदः—प्रियम् वदतीति विग्रहे 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्यनुबन्धलोपे,
'सुपो धातु-' इति सुपो लुकि, 'अरुद्विषद-' इति मुम्यनुबन्धलोपे, मोऽनुस्वारे
विभक्तिकार्ये च कृते 'प्रियंवदः' इति । एवं वशं वदतीति 'वशंवदः' इति ।

सुशर्मा—सु-पूर्वक हिंसार्थक शृ धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्धनु-
बन्धलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वेन सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणे,
रपरे, 'आर्धधातुकस्येड्-' इति प्राप्तस्येटो 'नेड् वशि कृति' इति निषेधे 'सुशर्मन्'
इत्यस्मात् प्रातिपदिकत्वेन सौ, उपधादीर्घे, सोर्लोपे नलोपे च कृते 'सुशर्मा' इति ।
एवं प्रातरेति गच्छतीति प्रातरित्वा । 'उखायाः' (पान्नात्) संसते' इति
'उखास्रत्' । अत्र 'अनिदिताम्' इति नलोपः । 'वसु संसु-०' इति दत्त्वं चर्त्वं च ।
एवं पर्णात् ध्वंसते 'पर्णध्वत्' इत्यादि ज्ञेयम् । वाहात्-भ्रंशते 'वाहभ्रट्' इत्यत्र
ब्रथेति षत्वे जश्त्वे, चर्त्वादिना तस्य सिद्धिः ।

१—प्रिय या वश उपपद हो तो वद धातु से खच् प्रत्यय होता है । २—धातु से
मनिन्, क्वनिप्, वनिप् एवं विच् प्रत्यय होते हैं । ३—वशादि कृत को इट् का आगम नहीं
होता है । सुशर्मा=अच्छा हिंसक । प्रातरित्वा=सवेरे जानेवाला । ४—विट् या वन् प्रत्यय
पर रहे तो अनुनासिक के स्थान में आकार आदेश होता है । ५—धातु से क्विप् प्रत्यय
भी (देखा जाता) होता है ।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३ । २ । ७८ ॥ ^१अजात्यर्थे सुपि धातोर्णि-
निस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।

मनः ३ । २ । ८२ ॥ ^२सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी ।

आत्ममाने खश्च ३ । २ । ८३ ॥ ^३स्वकर्मके मनने वर्त्तमानान्मन्यतेः
सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी ।

खित्यनव्ययस्य ६ । ३ । ६६ ॥ ^४खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो
मुम् । कालिम्मन्या ।

करणे यजः ३ । २ । ८५ ॥ ^५करणे उपपदे भूतार्थे यजेर्णिनिः स्यात्क-
र्त्तरि । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

दृशेः क्वनिप् ३ । २ । ९४ ॥ ^६कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा ।

राजनि युधि कृजः ३ । २ । ९५ ॥ ^७क्वनिप्स्यात् । युधिरन्तर्भावित-
प्यर्थः । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

उष्णभोजी—उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति वा विग्रहे 'सुप्यजातौ' इति
णिन्यनुबन्धलोपे, पुगन्तेति गुणे, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वेन सौ, 'सौ च' इत्यनेनो-
पधादीर्घं, सोल्लोपे, नलोपे च कृते 'उष्णभोजी' इति ।

परिण्डतम्मन्यः—आत्मानं पण्डितं मन्यते इति विग्रहे आत्ममाने खश्चेति
खश्यनुबन्धलोपे, दिवादिभ्यः श्यनिति श्यन्यनुबन्धलोपे, 'अरुद्विषद—' मुमि-
उमावितौ लोपयोश्च कृतयोः प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'पण्डितम्मन्यः'
इति । खश्चेति चकाराण्णिनिस्तत्पक्षे 'पण्डितमानी' इति । आत्मानं कालीम्मन्यते
'कालिम्मन्या' । अत्र सर्वं पूर्ववत्, केवलं 'काली' निष्ठ-ईकारस्य ह्रस्वेन-इकार इति
विशेषः । स्त्रीत्वाट्टाप् । राजनि युधि कृजः—राजन् शब्दे उपपदे युध्यतेः क्वनिप्
स्यात् । राजयुध्वा—राजानं योधितवान् इति विग्रहे 'राजनि युधि कृजः' इति क्व-
निप्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, उपधादीर्घं सोल्लोपे च कृते 'राजयुध्वा' इति ।

१—जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहते ताच्छील्य अर्थ में धातु से णिनि प्रत्यय होता है । २—सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है । ३—सुबन्त उपपद रहते स्वकर्म मनन 'अहङ्कार' में वर्तमान मन् धातु से खश् प्रत्यय होता है, चकारात्—णिनि प्रत्यय भी होता है । ४—खिदन्त पर हो तो अव्यय से भिन्न पूर्वपद को ह्रस्व होता है । ५—करण उपपद हो एवं भूतकालिक अर्थ गम्यमान हो तो यज् से णिनि प्रत्यय कर्ता में होता है । ६—कर्म उपपद रहते भूत काल अर्थ में दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । ७—कर्म संबन्ध राजन् शब्द उपपद हो तो भूत काल अर्थ में युध् एवं कृज् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है ।

‘सहे च ३ । २ । ९६ ॥ कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सह युध्वा । सहकृत्वा ।

‘सप्तम्यां जनेर्डः ३ । २ । ९७ ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६ । ३ । १४ ॥ ‘डेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् ।

उपसर्गं च संज्ञायाम् ३ । २ । ९९ ॥ ‘प्रजा स्यात्सन्ततौ जने ।’

क्तवतू निष्ठा १ । १ । २६ ॥ ‘एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

निष्ठा ३ । २ । १०२ ॥ ‘भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र तयोरेवेति भावकर्मणोः क्तः । कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः । उकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८ । २ । ४२ ॥ ‘रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात् निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शृ हिंसायाम् । ऋत् इत् । रपरः । णत्वम् । शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।

‘सहे च’ । सहशब्दोपपदादन्तर्भावितण्यर्थाद्बुध्यतेः क्वनिप् स्यात् ।

सप्तम्यां जनेर्डः—सप्तम्यन्ते उपपदे जन्धातोर्डः स्यात् ।

तत्पुरुषे कृति—तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उपपदे सप्तम्या अलुक्वा स्यात् । सरसि-जम्—सरसि जातमिति विग्रहे ‘सप्तम्यां जनेर्डः’ इति डप्रत्यये, ‘चुट्’ इतीत्संज्ञायां तस्य लोपे च कृते, उपपदसमासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ इति प्राप्तस्य सुपो लोपस्य ‘तत्पुरुषे कृति बहुलम्’ इति निषेधेन डेरलुकि, डित्वाट्टि-लोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते ‘सरसिजम्’ इति । पक्षे डेलोपे तु सस्य स्त्रोत्वादि कृते ‘सरोजम्’ इति ।

उपसर्गं च संज्ञायाम्—उपसर्गं उपपदे जनेर्डः स्यात् संज्ञायाम् । अग्नेदि इति भिन्नः—इरित्संज्ञक भिद्धातोः ‘निष्ठा’ इति क्तप्रत्यये, ककारस्येत्संज्ञालोपयोः ‘रदाभ्यां निष्ठातः’ इति तकारदकारयोर्नकारे कृते, कृत्तद्धितेति प्रातिपदित्त्वेन सौ, तस्य ह्रस्वे

१—सह उपपद रहने पर भी युध् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है । २—सप्तम्यन्त उपपद हो तो जन् धातु से ड प्रत्यय होता है । ३—तत्पुरुष समास में कृत्प्रत्ययान्त उत्तर पद पर हो तो बहुलता ‘विकल्प’ से सप्तमी एकवचन (डि) का अलुक् ‘लोपभाव’ होता है । ४—उपसर्ग उपपद रहते संज्ञा अर्थ में जन् धातु से ड प्रत्यय होता है । ५—क्त एवं क्तवतु प्रत्यय निष्ठा—संज्ञक होते हैं । ६—भूतकालार्थ वृत्ति धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय होते हैं । ७—रेफ एवं दकार से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है, तथा निष्ठा की अपेक्षा पूर्व में वर्तमान धातु—सम्बन्धी दकार को भी नकार होता है ।

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८।२।४३ ॥ ^१निष्ठातस्य नः स्यात् ।
द्राणः । ग्लानः ।

ल्व्वादिभ्यः ८।२।४४ ॥ ^२एकविंशतेर्लूत्रादिभ्यः प्राग्वत् । लूनः ।
ज्या धातुः । ग्रहिज्येति संप्रसारणम् ।

हल् ६।४।२ ॥ ^३अङ्गावयवाद्धलः परं यत्संप्रसारणं तदन्तस्य
दीर्घः । जीनः ।

ओदितश्च ८।२।४५ ॥ ^४भुजो-भुग्नः । दुओश्चि-उच्छूनः ।

शुषः कः ८।२।५१ ॥ ^५निष्ठातस्य कः । शुष्कः ।

पचो वः ८।२।५२ ॥ ^६पक्वः । क्षै क्षये ।

आयो मः ८।२।५३ ॥ ^७क्षामः ।

निष्ठायां सेटि ६।४।५२ ॥ ^८णेलोपः । भावितः । भावितवान् ।
हृह हिसायाम् ।

विसर्गे च कृते 'मिन्नः' इति । 'छिन्नः' इत्यत्र छिदिर् द्वैधीकरणे धातुः । अच्छेदीति
विग्रहः ।

संयोगादेरिति—संयोगादेरादन्तस्य यण्वतो धातोः परस्य निष्ठातस्य नत्वम् ।
'अद्रासीत्' इति द्राणः । अत्र 'निष्ठा' इति क्त प्रत्यये, संयोगादेरातो—' इति तस्य
नकारादेशे, नकारस्य णत्वे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'द्राणः' । द्रा
कुत्सायाम् । अग्लासीत्—इति ग्लानः । ग्लै हर्षं क्षये । अलावि-इति लूनः । लूञ् छेदने ।
अज्यासीत्—इति जीनः । अभीक्षीत्-भुग्नः । भुजो कौटिल्ये । उदश्वत्—इति 'उच्छूनः' ।
दुओश्चि गतिवृद्धयोः । अशुपत् इति 'शुष्कः' । शुष शोषणे । अपाचि-इति 'पक्वः' ।
अधासीत्—इति 'क्षामः' । क्षै चये । अत्र निष्ठातकारस्य मकारः । देवदत्तो यज्ञ-
दत्तमवीभवत्, देवदत्तेन यज्ञदत्तोऽभावि-इत्यर्थे 'भावितः' इति । अत्र भावयतेर्निष्ठा-
सूत्रेण क्त प्रत्यये इडागमे 'निष्ठायां सेटि' इति णेलोपे च सिद्धयति रूपम् ।

१—संयोगादि- यण्वान्-आकारान्त-धातु से परे निष्ठा सम्बन्धी तकार को नकार आदेश
होता है । २—लूत्रादि इक्कीस धातुओं से परे निष्ठासम्बन्धी तकार को नकार होता है । ३-
अङ्गावयव हल् से परे जो संप्रसारण तदन्त को दीर्घ होता है । ४—ओदित् धातु से परे भी
निष्ठा के तकार को नकार होता है । ५—शुष् धातु से परे निष्ठा के तकार को 'क' आदेश
होता है । ६—पच् धातु से परे निष्ठा के तकार को वकार 'व' आदेश होता है । ७—क्षै धातु
से परे निष्ठा के तकार को मकार होता है । ८—सेट् इट्सहित निष्ठासंज्ञक प्रत्यय पर ही
तो णि का लोप होता है ।

दृढः स्थूलबलयोः ७ । २ । २० ॥ ^१स्थूले बलवति च निपात्यते ।

दधातेहिः ७ । ४ । ४२ ॥ ^२तादौ किति । हितम् ।

दो दद् घोः ७ । ४ । ४६ ॥ ^३घुसंज्ञकस्य 'दो' इत्यस्य 'दथ्' स्यात् किति । चत्वम् । दत्तः ।

लिटः कानज्वा ३ । २ । १०६ ॥

कसुश्च ३ । २ । १०७ ॥ ^४लिटः कानच् कसुश्च वा स्तः । तडानावा-
त्मनेपदम् । चक्राणः ।

म्बोश्च ८ । २ । ६५ ॥ ^५मान्तस्य धातोर्नत्वं म्बोः परतः । जगन्वान् ।

लटः शतृशानच्प्रथमासमानाधिकरणे ३ । २ । १२४ ॥ ^६अप्रथ-
मान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः । शबादि । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

आने मुक् ७ । २ । ८२ ॥ ^७अदन्ताऽङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे ।
पचमानं चैत्रं पश्य । लडित्यनुवर्तमाने पुनर् लङ्ग्रहणात्प्रथमासमानाधिक-
रण्येऽपि क्वचित् । सन् द्विजः ।

विदेः शतुर्वसुः ७ । १ । ३६ ॥ ^८वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा ।
विदन् । विद्वान् ।

तौ सत् ३ । २ । १२७ ॥ ^९तौ = शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।

लृटः सद्वा ३ । ३ । १४ ॥ ^{१०}[लृटः शतृशानचौ वा स्तः] व्यवस्थित-
विभाषेयम् । तेनाऽप्रथमासमानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने
लक्षणहेत्वोश्च नित्यम् । करिष्यन्तं करिष्माणं पश्य ।

दृढ इति । स्थूले बलवति चार्थे दृढ इति निपात्यते । दधातेहिः—तादौ किति दधा-
तेहिः स्यात् । अधायि इति हितम् । जगामेति 'जगन्वान्' । अत्र क्वसुप्रत्ययः । पचन्तं
चैत्रम् इति—एवमेव पचता चैत्रेण, पचते चैत्राय इत्यादयोऽपि बोध्याः । किन्त्वत्र

१—स्थूल एवं बलवान् अर्थ में 'दृढ' ऐसा निपातन से 'सिद्ध' होता है । २—तादि कित् पर हो तो धा धातु को हि आदेश होता है । ३—तादि कित् पर हो तो घुसंज्ञक दा धातु को दथ् आदेश होता है । ४—लिट् के स्थान में कानच् एवं क्वसु प्रत्यय विकल्प से होते हैं । ५—मकार या वकार पर हो तो मान्त धातु को नकार आदेश होता है । ६—अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य (एकाधिकरण्य) हो तो लट् के स्थान में शतृ एवं शानच् प्रत्यय होते हैं । ७—आन पर हो तो अदन्त अङ्ग को मुम् का आगम होता है । ८—विद् धातु से पर शतृ के स्थान में वसु आदेश विकल्प से होता है । ९—शतृ एवं शानच् 'सत्' संज्ञक होते हैं । १०—यहाँ के लृट् के स्थान में सत् संज्ञक (शतृ-शानच्) प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।

आ क्सेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३ । २ । १३४ ॥ ^१क्विपमभिव्याप्य
वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

तृन् ३ । २ । १३५ ॥ ^२कर्ता कटान् ।

^३जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृडः षाकन् ३ । २ । १५५ ॥

षः प्रत्ययस्य १ । ३ । ६ ॥ ^४प्रत्ययस्याऽऽदिः ष इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः ।
भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः । वराकी ।

सनाशंसभिक्ष उः ३ । २ । १६८ ॥ ^५चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।

भ्राजभासधुविद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् ३ । २ । १७७ ॥ ^६विभ्राट् ।

भाः ।

राल्लोपः ६ । ४ । २१ ॥ ^७रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ किङ्कति । धूः ।
विद्युत् । ऊक् । पूः । दृशिग्रहणस्याऽपकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । जूः । ग्रावस्तुत् ।

लटः शतृ-शानचौ पाक्षिको, पाकक्रियाकर्तुः सामानाधिकरण्यादिति ध्येयम् ।

आक्वेरिति—प्रर्थाधिकारोऽयम्, एतदारभ्य 'भ्राजभास-' इति—एतच्छास्त्र-
पर्यन्तप्रत्ययाः यथायथमेष्वर्थेषु बोध्याः । 'जल्पभिक्ष' इति—एभ्यः षाकन् प्रत्ययः
स्यात् । जल्पतीति 'जल्पाकः' । जल्प व्यक्तायां वाचि । भिक्षते तच्छीलो 'भिक्षाकः' ।
भिक्ष भिक्षायाम् । कुट्टतीति 'कुट्टाकः' । कुट्ट छेदने । लुण्टतीति 'लुण्टाकः' ।
लुटि स्तेये ।

'भ्राजभास' इत्यादि—विभ्राजते इति 'विभ्राट्' । टुभ्राजू दीप्तौ । भासते
इति 'भाः' । भास् दीप्तौ । ध्रुवतीति 'धूः' । ध्रुवी हिंसायाम् । विद्योतते इति
'विद्युत्' । द्युत दीप्तौ । ऊर्जतीति 'ऊर्कं' । ऊर्जं बलप्राणनयोः । पिपर्त्तीति 'पूः' ।
पृ पालनपूरणयोः । जु गताविति सौत्रो धातुः । ग्रावाणं स्तौति—इति 'ग्रावस्तुत्' ।
अत्र 'ग्रावन्' शब्दपूर्वः' ष्टुञ् स्तुती धातुः । दृशिग्रहणस्येति—'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'
इत्यग्रिमसूत्राद् दृशिग्रहणमपकृष्यते । तेन जुधातोः क्विप् दीर्घश्च भवतः इति भावः ।

१—यहाँ से क्विप् प्रत्यय पर्यन्त कहे जाने वाले सभी प्रत्यय तच्छील आदि अर्थों में होते हैं (जानना चाहिये) । २—तच्छील अर्थों में धातुओं से तृन् प्रत्यय होते हैं । ३—जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट, एवं वृड् धातु से तच्छीलादि अर्थों में षाकन् प्रत्यय होता है । ४—प्रत्यय के आदि में रहने वाला प्रकार 'इत्' संज्ञक होता है । अर्थात् इत्संज्ञा होने से 'तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है । ५—सन्नन्त धातु एवं आशंस तथा भिक्षु धातु से 'उ' प्रत्यय होता है । ६—भ्राज् आदि (सूत्रोक्त) धातुओं से क्विप् प्रत्यय होता है । ७—क्विप् एवं झलादि कित्, डित् पर हो तो रेफ से परे छ् एवं व् का लोप होता है ।

ऋक्विचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च । वक्तीति वाक् ।

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६ । ४ । १९ ॥ ३सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके ववौ झलादौ च ङ्ङिति । पृच्छ-तीति प्राट् । आयतं स्तौतीति आयतस्तुः । कटं प्रवते कटप्रूः । जूरुक्तः । श्रयति हरि श्रीः ।

दाम्नीशसयुयुजस्तुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ३ । २ । १८२ ॥
दावादेः ष्ट्रन् स्यात् करणेऽर्थे । दात्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ।

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ७ । २ । ९ ॥ ४एषां दशानां कृत्प्रत्ययाना-
मिण् न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् ।
सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

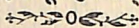
दाम्नीति—दाप् लवने दात्रम् । णीञ् प्रापणे नेत्रम् । शसु हिंसायां शस्त्रम् । यु
मिश्रणामिश्रणयोः योत्रम् । युजिर् योगे योक्त्रम् । ष्ट्रन् स्तुती स्तोत्रम् । तुद व्यथने
तोत्रम् । षिन् बन्धने सेत्रम् । षिच् क्षरणे सेक्त्रम् । मिह सेचने (मूत्रकरणे)
मेढ्रम् । पत पतने पत्रम् । दंश दंशने दंष्ट्रा । णह बन्धने नद्ध्री । ति-तु-त्र-त-
ए-सि-सु-सर-क-स-इत्येतेषु कृत्प्रत्ययेषु इडागमो न भवति । 'ति' इति क्तिम्-
क्तिचोर्ग्रहणम् 'क्तिम् क्तिच्'—दीप्तिः । 'तु' इत्यौणादिकः 'तुन्' प्रत्ययः, 'सेतुः'—
'सक्तुः' इति । 'त्र' इति दाम्नीत्यादिना विहितः 'ष्ट्रन्' । 'दात्रम्-पात्रम्' इत्यादि ।
'त' इत्यौणादिकः 'तन्' प्रत्ययः—'हस्त' इत्यादि । औणादिकस्यैव तशब्दस्य ग्रहणम्
न तु कृदन्तस्य । तेन कृति 'हसितम्' इत्येव भवति । 'थ' इत्यौणादिकः 'कथन्'
हथः, कुष्ठम्, काष्ठम् इत्यादि । 'सि' इत्यौणादिकः 'किसः' प्रत्ययः—'कुक्षिः'
इत्यादि । 'सु' इति 'इषेः कसुः'—'इक्षुः' इति । 'सर' इति अशेः सरः—अक्षरम् इति ।
'क' इत्यौणादिकः 'कन्' प्रत्ययः—'शुल्कः' इति । 'स' इति इत्यौणादिकः 'सः'
प्रत्ययः—'वत्सः' इति । तितुत्रेऽप्यग्रहादीनामिति वक्तव्यम् इति सूत्रापवादवार्ति-

१—वच् प्रच्छ् आदि (सूत्रोक्त) धातुओं से निवप् प्रत्यय होता है, एवं (उपाधा को)
दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव भी होता है । २—अनुनासिक एवं निवप् या झलादि कित्,
क्वि पर हो तो तुक्-विशिष्ट छ् तथा व् को क्रम से श् तथा ऊठ् आदेश होते हैं । ३—करण
अर्थ में दाप्, नी, शस् यु, युज्, ष्ट्र, तुद, षिन्, षिच्, मिद्, पत्, दश्, णह-इन धातुओं
से ष्ट्रन् प्रत्यय होता है । ४—ति, तु-आदि (सूत्रोक्त) इन दस कृत्प्रत्ययों को इट्
नहीं होता ।

अतिलूधूसूखनसहचर इत्रः ३।२।१८४ ॥ ^१[अर्त्यादिभ्यः घृन्
स्यात्करणेऽर्थ] अरित्रम् । लवित्रम् । धुवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् ।
सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः संज्ञायाम् ३।२।१८५ ॥ ^२[करणे पुवः घृन् स्यात्संज्ञायाम्]
पवित्रम् ।

॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



अथोणादयः

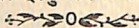
कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ॥ १ ॥ ^३करोतीति कारुः । वातीति
वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति पर-
कार्यमिति साधुः । आशु शीघ्रम् ।

उणादयो बहुलम् ३।३।१ ॥ ^४एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः ।
केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

^५संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

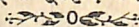
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

॥ इत्युणादयः ॥



कारम्मात् निगृहीतिरित्यादाविष्णिषेधो न । 'अतिलूधू-इत्यादि—'अरित्रम्' । ऋ
गती । 'लवित्रम्'—लूञ् छेदने । 'धुवित्रम्'—धूञ् विधूनने । 'सवित्रम्'—षू प्रेरणे ।
'खनित्रम्'—खनु अवदारणे । 'सहित्रम्'—षह मर्षणे । 'चरित्रम्'—चर गतिभक्षणयोः ।

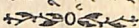
॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



केचिदविहिता अप्यूह्याः—इति-कथमूह्याः ? इति प्रश्ने प्रतिपादयति-संज्ञा-

१—करण (साधन) अर्थ में ऋ, लृ, धू, सू, खनु, सह, चर् धातुओं से इत्र प्रत्यय
होता है । २—पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय होता है संज्ञा में (सिद्ध होने पर यदि संज्ञा
बोधित होवे) ।

॥ इति पूर्वकृदन्तम् ॥



३—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् एवं अशु-धातु से उण् प्रत्यय होता है । ४—
वर्तमान काल में उणादि प्रत्यय विकल्प से होते हैं । ५—संज्ञा शब्दों में (जैसे इत्थ
डवित्थ आदि) जो किसी के वाचक हैं किन्तु सिद्ध नहीं हो पाते-ऐसे शब्दों में धातु के रूप
का और उसके बाद प्रत्यय का ऊहापोह करना चाहिये, जो संकेत हो । कार्यादिति । किद

अथोत्तरकृदन्तम् ।

तुमुन्बुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३ । ३ । १० ॥ ^१क्रियार्थायां क्रिया-
यामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वादव्ययत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं
याति । कृष्णं दर्शको याति ।

कालसमयवेलासु तुमुन् ३ । ३ । १६७ ॥ ^२कालार्थेषूपपदेषु तुमुन्
स्यात् । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् ।

भावे ३ । ३ । १८ ॥ ^३सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाकः ।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३ । ३ । १९ ॥ ^४कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ।

घञि च भावकरणयोः ६ । ४ । २७ ॥ ^५रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः ।

अनयोः क्रिम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ।

स्विति । अस्यायमभिप्रायः—संज्ञासु संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि प्रकल्प्य ततः परं
प्रत्ययाः कल्पनीयाः । तथा प्रत्ययेष्वपि गुणवृद्धिसम्प्रसारणतदभावादिकार्यानुसारेण
ञ्जित्वं किङत्वञ्चेत्याद्यनुबन्धं जानीयात्, एतदेवोणादिषु शासनयोग्यमिति ज्ञेयम् ।
यथा—‘ऋफिङ्ङः’ इति संज्ञाशब्दः, अत्र ‘ऋ’ धातुः प्रकृतिः, ततो फिङ्ङ प्रत्ययः,
अत्र गुणाभावदर्शनाच्च प्रत्ययस्य कित्वमित्याद्यूहाते ॥ इत्युणादयः ॥

द्रष्टुम्—अत्र ‘अव्ययकृतो भावे’ इति भावे प्रत्ययः । कृन्मेजन्त इत्यव्ययत्वम् ।
इरित्संज्ञक दृश् धातोः ‘तुमुन् ष्वुलौ’ इति तुमुन्यनुबन्धलोपे ‘सृजिदृशोः—’ इत्यमा-
गमे यणि च कृते तत्सिद्धिः । दर्शकः—इत्यत्र ‘तुमुन्बुलौ’ इति ष्वुल्यनुबन्धलोपे ‘वु’
इत्यस्य ‘युवोरनाको’ इत्यकादेशे विभक्तिकार्ये च कृते ‘दर्शकः’ इति । अत्र ‘अकेनोर्भ-
विष्यदाघमर्णयोः’ इति षष्ठ्याः प्रतिषेधो ज्ञेयः । पाकः । ‘पचनं’ पाकः इत्यत्र ‘भावे’
इति घञि—अनुबन्धलोपे ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ, कृत्वे, विभक्तिकार्ये च कृते
तत्सिद्धिः ।

घञि चेति—भावे करणे च यो घञ् तस्मिन्परे रञ्जेर्नस्य लोपः स्यात् ।

रागः—‘रञ्जनम्’ ‘रज्यतेऽनेन’ इति वा विग्रहे ‘अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्’

होने से गुण नहीं होता है अतः गुणाभावादि कार्य के अनुसार ककार आदि अनुबन्ध भी
समझना । यही उणादि में अनुशासन है ॥ इत्युणादयः ॥

१—क्रियार्थक क्रिया उपपद हो तो भविष्यत् अर्थ में धातु से तुमुन् एवं ष्वुल् प्रत्यय होता
है । २—कालार्थक उपपद होवे तो धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है । ३—(भाव के दो भेद हैं—
१—सिद्धावस्थापन्न, २—साध्यावस्थापन्न) सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ वाच्य हो तो धातु से घञ् प्रत्यय
होता है । ४—कर्ता से भिन्न कारक में घञ् प्रत्यय होता है, संज्ञा अर्थ गम्यमान हो तब । ५—
भाव या करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय पर हो तो रञ्ज् धातु के नकार का लोप होता है ।

निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वदेश्च कः ३ । ३ । ४१ ॥ ^१एषु चिनो-
तेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । कायः ।
गोमयनिकायः ।

एरच् ३ । ३ । ५६ ॥ ^२इवर्णान्तादच् । चयः । जयः ।

ऋदोरप् ३ । ३ । ५७ ॥ ^३ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताच्चाऽप् । करः । गरः ।
यवः । लवः । स्तवः । पवः । ^४घञर्थे कविधानम् । प्रस्थः । विघ्नः ।

^५डिवतः क्विन्नः ३ । ३ । ८८ ॥ ^६त्रेर्षम् नित्यम् ४ । ४ । २० ॥ ^७क्विन्न-
प्रत्ययान्तान्मपस्यान्निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्विन्नम् । डुवप्—उप्त्रिमम् ।

द्वितोऽथुच् २ । ३ । ८९ ॥ ^८[द्वितोऽथुच् स्याद्भावे] डुवेपू
प्रकम्पने । वेपथुः ।

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३ । ३ । ९० ॥ ^९यज्ञः । याञ्जा ।
यत्नः । विघ्नः । प्रश्नः । रक्षणः ।

इति घञि—अनुबन्धलोपे, 'घञि च भावकर्मणोः' इति नलोपे वृद्धौ, कुत्वे विभक्त्यादि-
कार्ये च कृते तत्सिद्धिः । चीयतेऽस्मिन्नस्थ्यादिकमिति कायः—शरीरम् । 'चयन्'
'चीयतेऽसौ' वा चयः । जयनं जयः इत्यादि । प्रतिष्ठन्ते धान्यादिकमत्र अनेनेति वा
प्रस्थः—परिमाणभेदः । प्रतिष्ठन्ते जना अत्रेति विग्रहे प्रस्थो ज्ञेयः । अत्राधिकरणे
कः । आलोपादि ।

विघ्नः—विघ्नन्तीति मनांस्यत्रेति घञर्थे क-प्रत्यये गमहनेत्युपधालोपे, होहन्ते-
रिति कुत्वम् । डिवतः क्विन्नः—डिवतो घातोः क्विन्नः स्याद्भावे । वापेन निर्वृत्तं
उप्त्रिमम् । वेपनं वेपथुः । यजयाचेत्यादि—मावेऽकर्त्तरि च कारके यजादिभ्यो
नङ् स्यात् । इज्यते, यजनम् इति वा यज्ञः—यज् घातोः 'यजया—०' इति नङि डकार-
लोपे, श्रुत्वेन नकारस्य अकारे, संयोगेन जजोर्ज्ञे विभक्तिकार्ये च कृते 'यज्ञः' इति ।
याचनं याञ्जा । यतनं यत्नः । विच्छन्नं विघ्नः । प्रच्छन्नं प्रश्नः । रक्षणं रक्षणः ।

१—निवास, चिति, शरीर एवं उपसमाधान अर्थों में चिच् धातु से घञ् प्रत्यय होता
है, चकारात्—चिच् धातु के आदि चकार को ककार आदेश भी हाता है । २—इवर्णान्त
धातु से अच् प्रत्यय हाता है । ३—ऋवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु से अप् प्रत्यय
होता है । ४—घञर्थ में 'क' प्रत्यय होता है । ५—डिवत (डु-इत्संज्ञक) धातु से
क्विन्न प्रत्यय होता है । ६—निर्वृत्त (सिद्ध) अर्थ में, क्विन्न-प्रत्ययान्त धातु से मप् प्रत्यय
होता है । ७—द्वित् (डु-इत्संज्ञक) धातु से अथुच् प्रत्यय में होता है । ८—यज्, याच्,
विच्छ, प्रच्छ एवं रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय होता है ।

स्वपो नन् ३ । ३ । ९१ ॥ ^१स्वप्नः ।

उपसर्गं घोः किः ३ । ३ । ९२ ॥ ^२प्रधिः । उपधिः ।

स्त्रियां क्तिन् ३ । ३ । ९४ ॥ ^३स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽ-
पवादः । कृतिः । स्तुतिः । ^४ऋत्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः । तेन
नत्वम् । कीर्णिः । गीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः । ^५सम्पदादिभ्यः क्विप् ।
सम्पत् । विपत् । आपत् । ^६क्तिन्नपीष्यते । सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३ । ३ । ९७ ॥ ^७एते निपात्यन्ते ।

ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६ । ४ । २० ॥ ^८एषामुपधाव-
कारयोरूठ् स्यादनुनासिके कौ झलादौ किङ्कति । अतः क्विप् । जूः । तूः ।
सूः । ऊः । मूः ।

इच्छा ३ । ३ । १०१ ॥ ^९इषेर्निपातोऽयम् ।

अ प्रत्ययात् ३ । ३ । १०२ ॥ ^{१०}प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकार
प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ।

गुरोश्च हलः ३ । ३ । १०३ ॥ ^{११}गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामकारः प्रत्ययः
स्यात् । ईहा ।

स्वपनं स्वप्नः । 'उपसर्गं-' इति उपसर्गं उपपदे घुसंज्ञकाद् धातोः कि-प्रत्ययो भवति
भावे अकर्तरि कारके च । प्रधीयते इति प्रधिः । उपधीयते इति उपधिः-अनयोः
क्त्वादालोपः । कारणं कृतिः । स्तूयतेऽनया, स्तवनं वा स्तुतिः । (अग्रेऽपि प्राय
एवमेव विग्रहो ज्ञेयः) । ऋत्वादिभ्यः-इति-ऋकारान्ताल्ल्वादिभ्यश्च परः क्तिन्
प्रत्ययः निष्ठावद् भवतीति भावः । इच्छेति-इषेर्भावे छप्रत्ययो यगभावश्च
निपात्यते । एषणम् इच्छा । कर्तुमिच्छा चिकीर्षा । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति

१-स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है । २-उपसर्ग उपपद होवे तो घुसंज्ञक धातु से
'कि' प्रत्यय होता है । ३-स्त्रीलिङ्गभाव धोत्य हो तो धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है । ४-
ऋत्वादि से विहित क्तिन् प्रत्यय निष्ठा की तरह होता है । ५-सम्पदादियों से क्विप् होता
है । ६-(भाव में तथा कर्तु-भिन्न कारक में) सम्पदादियों से क्तिन् प्रत्यय भी होता है ।
७-ऊति-यूति-जूति-साति-हेति तथा कीर्ति-ये निपातन से सिद्ध होते हैं । ८-अनु-
नासिक और क्विप् या झलादि कित्, डित् पर हो तो ज्वर-त्वर-स्त्रिवि-अवि-मव-
धातुओं के उपधा पूर्व वकार को ऊठ् होता है । ९-इष् धातु से 'इच्छा' ऐसा निपातन होता
है । (अर्थात् इष् धातु से भाव में 'श' प्रत्यय तथा यक् का अभाव भी निपातन से होता है)
१०-प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है । ११-गुरुमान् हलन्त धातुओं से
स्त्रीलिङ्ग में अकार प्रत्यय होता है ।

प्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७ ॥ ^१अकारस्यापवादः । कारणा । हारणा ।

^२नपुंसके भावे क्तः ३ । ३ । ११४ ॥

ल्युट् च ३ । ३ । ११५ ॥ ^३हसितम् । हसनम् ।

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३ । ३ । ११८ ॥ ^४छादेर्घेऽद्वयुपसर्गस्य ६ । ४ । ९६ ॥ ^५द्विप्रभृत्युपसर्गस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे । दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेन दन्त-
च्छदः । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ।

अवे तृस्त्रोर्घञ् ३।३।१२० ॥ ^६अवतारः कूपादेः । अवस्तारो जवनिका ।

हलश्च ३ । ३ । १२१ ॥ ^७हलन्ताद्घञ् । घापवादः । रमन्ते योगिनोऽ-
स्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः ।

ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्राथेषु खल् ३ । ३ । १२६ ॥ ^८करणाधिकरण-
योरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल् । तयोरेवेति भावे कर्मणि
च । कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे—ईषत्करः । सुकरः ।

^९आतो युच् ३ । ३ । १२८ ॥ खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता ।
दुष्पानः । सुपानः ।

इति विग्रहे 'चिकीर्ष' इत्यस्मात् 'अ प्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, अतो लोपेनाकारलोपे,
कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । अप्रत्ययस्थापवाद इति । 'अ प्रत्ययात्'—'गुरोश्च हलः' इति प्रासस्य-अप्रत्ययस्यापवादः ।

ल्युट् च— क्तो ल्युट् नपुंसके भावे स्त्रियां क्तिन्नादयो यतः ।

अतो घञजपः पुंसि परिशेषादिति स्थितिः ॥

दुष्करः—दुस् पूर्वकं कृधातोः 'ईषद्दुस्सुषु' इति खल्यनुबन्धलोपे, 'सार्वधातुकार्ध-
धातुकयोः' इति गुणे, रपरे, उपसर्गसकारस्य षत्वे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।

आतो युच्—आदन्ताद्धातोर्युच् स्यादीषदादिषूपपदेषु । ईषत्पीयते इति—'ईषत्पानः' ।

१—प्यन्त धातुओं तथा आस्, श्रन्थ-धातुओं से युच् प्रत्यय होता है । २—नपुंसक
लिङ्ग में भाव में धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है । ३—ल्युट् प्रत्यय भी होता है । ४—पुल्लिङ्ग
में, संज्ञा में धातु से 'घ' प्रत्यय बहुलता से होता है । ५—द्विप्रभृति उपसर्ग से रहित छादि
धातु को ह्रस्व होता है, घ प्रत्यय पर हो तब । ६—पुल्लिङ्ग में, संज्ञा में अब उपपद रहते
स्त धातु से घञ् प्रत्यय होता है (करण तथा अधिकरण अर्थ में) । ७—करण तथा अधि-
करण अर्थ में हलन्त धातु से घञ् प्रत्यय होता है । ८—कृच्छ्रे (दुःखार्थक), अकृच्छ्रे
(सुखार्थक) ईषत्, दुस्, सु, ये (कोई) उपपद हों तो धातु से खल् प्रत्यय होता है ।
९—ईषत्-आदि कोई उपपद हों तो आदन्त धातु से युच् प्रत्यय होता है ।

अलङ्कृतोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३ । ४ । १८ ॥ ^१प्रतिषेधार्थयो-
रलङ्कृतोः रूपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति
नियमान्नोपपदसमासः । दो दद्धोः । अलं दत्त्वा । घुमास्येतीत्वम् । पीत्वा
खलु । अलङ्कृतोः किम् ? मा कार्षीत् । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ।

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३ । ४ । २१ ॥ ^३समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः
पूर्वकाले विद्यमानाद्घातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् ।
भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ।

न क्त्वा सेट् १ । २ । १८ ॥ ^२सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट्
किम् ? कृत्वा ।

रलो व्युपधाद्दलादेः संश्र १ । २ । २६ ॥ ^४इवर्णोवर्णोपधाद्दलादे
रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा-द्युतित्वा । लिखित्वा-
लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः
किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ।

उदितो वा ७ । २ । ५६ ॥ ^५उदितः परस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा-
शान्तत्वा । देवित्वा-द्यूत्वा । दधातेर्हिः । हित्वा ।

^६जहातेश्च क्त्वा ७ । १ । ४३ ॥ हित्वा । हाडस्तु हात्वा ।

प्राचामिति । अयम्भावः—अव्ययकृतो भावे इति वचनात् क्त्वा प्रत्ययो भावे,
स च ल्युट्-प्रत्ययस्य बाधकः, वा सरूपन्यायेनैव विकल्पेन सिद्धे, प्राचां ग्रहणं व्यर्थ-
मित्यत आह—प्राचां ग्रहणम् पूजार्थम्—इति ।

अमैवेति—एवं (नियमसूत्रार्थः) अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन
सह समस्यते इति । अत्र तु न 'अम्' किन्तु क्त्वा । अतः समासभाव इति ।
शान्त्वेत्यत्र—अनुनासिकस्य क्विप्श्लोरिति दीर्घः । 'शान्त्वा'—'शमु उपशमे' इति ।
'द्यूत्वा'—इत्यत्र च्छ्वोः शूडनुनासिके चेत्युट् ।

जहातेश्च—ओहाक् घातोह्यादेशः स्यात् क्त्वा प्रत्यये परे । 'हित्वा'—'हा'

१—निषेधवाची अलं या खलु उपपद हो तो क्त्वा प्रत्यय होता है, प्राचीनों के मत से ।

२—समान एककर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकालिकी क्रिया में वर्तमान जो धातु उससे क्त्वा प्रत्यय
होता है । ३—इट्-सहित क्त्वा कित् नहीं होता है । ४—इवर्ण या उवर्ण हो उपधा में
जिसके ऐसे रलन्त धातुओं से परे इट्-सहित-क्त्वा एवं सन् विकल्प से कित् होते हैं ।

५—उदित धातुओं से परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है । ६—क्त्वा प्रत्यय पर ही तो

14 ओहाक् धातु को हि आदेश होता है ।

समासेऽनञ्पूर्वं क्त्वो ल्यप् ७।१।३७ ॥ ^१अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यवादेशः स्यात् । तुक् । प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा ।

आभीक्ष्ये णमुल् च ३।४।२२ ॥ ^२आभीक्ष्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च ।

नित्यवीप्सयोः ८।१।४ ॥ ^३आभीक्ष्ये द्योत्ये वीप्सायां च पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । स्मारं-स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा-स्मृत्वा । पायं-पायम् । भोजं-भोजम् । श्रावं-श्रावम् ।

अन्यथैवकथमित्यंशु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३।४।२७ ॥ ^४एषु कृत्रो णमुल् स्यात्सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतरूचेत् कृञ् । व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथाकारम् । एवङ्कारम् । कथङ्कारम् । इत्थङ्कारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया ॥

अथ विभक्त्यर्थाः

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ ॥ ^५निय-

इत्यस्मात् 'समानकर्तृकयाः-' इति क्त्वा प्रत्यये, ककारलोपे, 'जहातेश्च क्त्व' इति ह्यादेशे 'हित्वा' इति । दधातेर्हित्वेऽपि 'हित्वा' इति ।

पूर्वविषये इति—समानकर्तृकयोः पूर्वकालिकक्रियावृत्तेर्घातोर्णमुल्स्याद् आभीक्ष्ये = पौनःपुन्ये द्योत्ये । पायम्पायमित्यत्र 'आतो युक्-' इति युक् ।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ।

प्रातिपदिकार्थंश्च लिङ्गं च परिमाणञ्च वचनञ्च तानि प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि, तान्येवतन्मात्रम्, तस्मिन् 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' इति विग्रहः । अत्र वचनशब्दान्ते द्वन्द्वे कृते मात्रान्तरयोर्नित्यसमासवचनं क्लीबत्वञ्चेति । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । पदसमुदायो वाक्यम् । तथा च वाक्यार्थज्ञाने पदार्थ-

१—अव्यय पूर्वपद में हो तो नञ् से भिन्न समास में क्त्वा को ल्यप् आदेश होता है । २—आभीक्ष्य 'पौनःपुन्य' अर्थ द्योत्य हो तो क्त्वा के विषय में णमुल् प्रत्यय होता है । ३—अभीक्ष्य तथा वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पद को द्वित्व होता है । ४—अन्यथा, एवं कथं, या इत्थं उपपद हो तो कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, सिद्धाप्रयोग (सिद्ध है अप्रयोग ऐसा कृञ् हो तब) अर्थात् कृञ् का प्रयोग व्यर्थ होवे तो णमुल् होता है ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया ॥

५—नित्य=व्यापक उपस्थिति है जिसकी उसको प्रातिपदिकार्थ कहते हैं ।

तोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । ^१मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थ-
मात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् ।
प्रातिपदिकाथमात्रे—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे—
तटः, तटी, तटम् । परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः । वचनं सङ्ख्या । एकः,
द्वौ, बहवः ।

सम्बोधने च २ । ३ ४७ ॥ ^२प्रथमा स्यात् । हे राम ! इति प्रथमा ।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १ । ४ । ४९ ॥ ^३कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं
कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

कर्मणि द्वितीया २ । ३ । २ ॥ ^४अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरि
भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा—हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितः ।

अकथितञ्च १ । ४ । ५१ ॥ ^५अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं
कर्मसंज्ञं स्यात् ।

ज्ञानं कारणमित्यत आह नियतेति । नियता उपस्थितिर्यस्यासौ नियतोपस्थितिकः ।
यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेन मानः स 'प्रातिपदिकार्थः' ।
तन्मात्रे प्रथमा इत्यर्थः । यथा—उच्चैरित्युच्चारिते उच्चाधिकरणस्य, नीचैरित्यत्र
अधोऽधिकरणस्य, कृष्णः' इत्यत्र पुंस्त्वविशिष्टवामुदेवरूपार्थस्य, श्रीः इत्यत्र स्त्रीत्व-
विशिष्टलक्ष्मीरूपार्थस्य, ज्ञानमित्यत्र क्लीबत्वविशिष्टान्तःप्रकाशरूपस्य च मानम् ।
तस्मात्तेषु तेषुऽर्थाः नियतोपस्थितिकाः । तत्रार्थे (प्रातिपदिकार्थे) प्रथमा ।

मात्रशब्दस्येति—द्वन्द्वद्वौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धचते इति ।

'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यस्य समन्वयो हरि भजति इति (देवदत्तः इति शेषः) ।

अत्र देवदत्तः कर्ता, तद्वृत्तिक्रिया प्रीत्यनुकूलव्यापाररूपा, तथा (क्रियया) प्राप्तुं
सम्बन्धु-मिष्टतमम् इच्छोद्देश्यं हरिपदरूपं कारकं, तस्य कर्मसंज्ञा । ततश्च कर्मणि
द्वितीयेति द्वितीया । एवं ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामः संयोगाश्रया भवतु—इत्यादिषु
तत्तद्रूपेच्छा तत्र तत्रोहनीया । अकथितं च—अपादान-सम्प्रदान-आधिकरणस्वरूपेणा-
विवक्षितं कर्मत्वेन विवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञमित्यर्थः ।

१—मात्र शब्द का प्रत्येक से योग है । प्रातिपदिकार्थमात्र में, लिङ्ग आदि के आधिक्य
में, परिमाण मात्र में तथा संख्यामात्र से प्रथमा विभक्ति होती है । २—सम्बोधन अर्थ में प्रथमा
विभक्ति होती है । ३—कर्ता के क्रिया द्वारा प्राप्त करने के लिए अत्यन्त इष्ट (अभिलषित)
कारक कर्म—संज्ञक होता है । ४—जिसमें प्रत्यय होता है वह उक्त है, (जिसमें प्रत्यय नहीं
होता वह अनुक्त कहा जाता है) अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है । ५—अपादान

१दुह्याच्पचदण्डरुधिप्रच्छिच्चिब्रूशामुजिमथमुषाम् ।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नोहृकृष्वहाम् ॥ १ ॥

गां दोग्धि पयः । १ बलिं याचते वसुधाम् । [अविनीतं विनयं याचते] ।
 २ तण्डुलानोदनं पचति । ३ गर्गान् शतं दण्डयति । ४ ब्रजमत्ररुणद्वि गाम् ।
 ५ माणवकं पन्थानं पृच्छति । ६ वृक्षमवचिनोति फलानि । ७ माणवकं धर्मं
 व्रते शास्ति वा । ८ शतं जयति देवदत्तम् । ९ मुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति ।
 १० देवदत्तं शतं मुष्णाति । ११ ग्राममजां नयति हरति-कषति वहति वा ।
 अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । १२ बलिं भिक्षते वसुधाम् । १३ माणवकं धर्मं भाषते
 अभिधत्ते वक्तीत्यादि । इति द्वितीया ।

ननु 'गृहे धान्यं निक्षिपति' इत्यादौ गृहादेरपि कर्मत्वापत्तिरत आह—दुह्याच्-
 इति—दुहादीनां द्वादशानां नीप्रभृतीनाञ्च धातूनां यत्कर्म तत्सम्बन्धी योऽर्थस्तत्रा-
 पादनत्वाद्यविवक्षायां कर्मत्वविक्षायामेव कर्म संज्ञा नान्यत्रेति । 'गोः सकाशात् पयः
 दोग्धि' इत्यर्थे गां दोग्धि पयः इति । 'बलेः सकाशात् वसुधां याचते' इत्यर्थे बलिं
 याचते वसुधाम् । तण्डुलानामोदनं पचतीत्यर्थे तण्डुलानोदनं पचति । गर्गैर्म्यः शतं
 दण्डयतीत्यर्थे गर्गान् शतं दण्डयति । 'ब्रजे गामवरुणद्वि' इत्यर्थे ब्रजमरुणाद्-गाम् ।
 'माणवकाद्-माणवकाय वा पन्थानं पृच्छति' इत्यर्थे 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' ।
 एवमेवाग्रेऽपि सर्वेषूह्यम् ।

अर्थनिबन्धनेयमिति—दुहादीनां धातूनां येऽर्थास्तद्वाचकधातुमात्रनिमित्तिकेयं
 संज्ञेत्यर्थः । पाक-गमनादिक्रियायां यः पदार्थः स्वातन्त्र्येण वक्त्रा विवक्षितः,
 विवक्षा च इयं क्रिया अनेन कर्तव्येति रूपेण तदा सः अर्थः कर्तृसंज्ञः । अतएव
 'स्थाली पचति' इत्यादयोऽपि प्रयोगा भवन्ति ।

सम्प्रदान आदि विशेषों से अविवक्षित कारक कर्म संज्ञक होता है ।

१—दुह, याच्—आदि मुष् पर्यन्त वारह धातुओं तथा नी-प्रभृति चार धातुओं के मुख्य
 कर्म के साथ क्रिया से सम्बन्धमान कारक अकथित होता है, अर्थात् इन्हीं धातुओं के मुख्य कर्म
 के योग में अपादानादि विशेषों से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा होती है । (ऐसा परिगणन
 है) २—गौ से दूध दूहता है । ३—राजा बलि से पृथ्वी माँगता है । ४—चावलों का भात
 बनाता है । ५—गर्गों से सौ रुपया दण्ड लेता है । ६—ब्रज में गों को रोकता है । ७—
 लड़के से रास्ता पूँछता है । ८—वृक्ष से फल चुनता है । ९—बच्चे को धर्म का उपदेश
 करता है । १०—देवदत्त से सौ रुपया जीतता है । ११—अमृत के लिए क्षीरसागर को
 मथता है । १२—देवदत्त से सौ रुपया चुराता है । १३—गाँव में बकरी को ले जाता है ।
 १४—राजा बलि से पृथ्वी माँगता है । १५—बच्चे के लिए (बच्चे को) धर्म बता रहा है ।

स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ ॥ १क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

साधकतमं करणम् १।४।४२ ॥ ३क्रियामिदौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ।

कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ ॥ २अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण वाणेन हतो वाली । इति तृतीया ।

कर्मणां यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२ ॥ ४दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३ ॥ ५[सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात्] विप्राय गां ददाति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंघ्ययोगाच्च २।३।१६ ॥ ६एभिर्योगे चतुर्थी । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि । इति चतुर्थी ।

ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ ॥ ७अपायो-विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवम् = अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात् ।

प्रश्नं श्रेति—यद्व्यापारादनन्तरं क्रियायाः फलनिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम् । करणं हि-

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।

विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तथा स्मृतम् ॥

‘कर्मणा यमभि०-’ इति । कर्ता क्रियामात्रस्य कर्मणा सह सम्बन्धुं यं पदार्थ-मभिप्रैति स सम्बन्धोद्देश्यः सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् । अतो द्विजाय धनं ददातीतिवत् देवदत्तो यज्ञदत्ताय वार्ता (हितं) कथयतीत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते ।

विश्लेष इति—विश्लेषो विभागानुकूलव्यापारस्तस्मिन् साध्ये जननीये यद्

१--क्रिया (कार्य) में स्वतंत्रता से विवक्षित अर्थ- (विषय, मनुष्य या पदार्थ) कर्तृ-संज्ञक होता है अर्थात् उसे कर्ता कहते हैं । २--क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक ही उसकी करण संज्ञा होती है । ३--अनभिहित (अनुक्त) कर्ता एवं करण में तृतीया विभक्ति होती है । राम ने वाण से वाली को मारा-यहाँ राम कर्ता है, वाण साधन-करण है इत्यादि । ४--दाता दानरूपी (दा धातु के) कर्म से जिसको सम्बन्धित करना चाहे, करे, वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है । ५-सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । ६-नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलम्-वषट्-इनके योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । ७-अपाय=विश्लेष=विभाग

अपादाने पञ्चमी २।३।२८ ॥ ^१[अपादाने पञ्चमी स्यात्] ।
ग्रामादायाति । धावतोऽधात्पततीत्यादि । इति पञ्चमी ।

षष्ठी शेषे २।३।५० ॥ ^२कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामि-
भावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्ध-
मात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति ।
एधो दकस्योपस्क्रुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । इति षष्ठी ।

आधारोऽधिकरणम् १।४।४५ ॥ ^३कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया
आधारः कारकमधिकरणं स्यात् ।

सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६ ॥ ^४अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद्
दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा ।
कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य
दूरे अन्तिके वा ।

॥ इति सप्तमी । इति विभक्त्यर्थाः ॥

ध्रुवमुदासीनं तादृशव्यापारानाश्रयं तदपादानसंज्ञं स्यात् । तथा च विभागजनक-
व्यापारानाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वमपादानत्वम् इति ।

मातुः स्मरति -- मातरं स्मरति-इत्यर्थे 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' इति कर्मणि
षष्ठी 'मातुः स्मरति' इति । आध्रियतेऽस्मिन्नित्याधारः स च कस्येत्याकाङ्क्षायां
क्रियायाम् इति लभ्यते । तथाहि साक्षाद् व्यापाररूपक्रियायाः आधारः कर्ता, फल-
रूपाया आधारः कर्म । ताभ्यां बाधात् परम्परया क्रियाधारस्यैतत्संज्ञा, एवञ्च
'कटे आस्ते' इत्यत्र कर्ता चैत्रादिस्तन्निष्ठास्ति क्रियायाः परम्परयाधारस्य कटस्या-
धिकरणसंज्ञा । स्थाल्यां पचतीत्यत्र साक्षाद् विक्विलत्तेराधारस्तण्डुलस्तदाधारभूता
स्थाली, परम्परया विक्विलत्तेराधारः । अन्यत्राप्येवमेवाह्यम् । सर्वस्मिन्नात्मास्ति—
'आधारोऽधिकरणम्' इति सर्वेत्यस्याधिकरणसंज्ञायाः 'सप्तम्यधिकरणे' इति
सप्तमीविभक्तौ च तत्सिद्धिः । सर्वासां कारकविभक्तीनामेकत्र मेलनमधोलिखित-
श्लोके द्रष्टव्यम्—

(अलग २) होने में कूटस्थभूत (वही ठहरा हुआ) कारक अपादान संज्ञक होता है ।

१--अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है । २--कारक तथा प्रातिपदिकार्थ से भिन्न जो
स्व-स्वामिभावादि (अपनापन या स्वामी सम्बन्धी आदि) सम्बन्ध को शेष कहते हैं; उस
(शेष) में षष्ठी विभक्ति होती है । ३--कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ (कट-कर्म-निष्ठ)
क्रिया का आधार जो कारक उसकी अधिकरण संज्ञा होती है । ४--अधिकरण में सप्तमी

अथ समासाः

तत्रादौ केवलसमासः । ^१समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेष-संज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः ॥ १ ॥ प्रायेण पूर्वपदार्थ-प्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः ॥ २ ॥ प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधान-स्तत्पुरुष-स्तृतीयः । तत्पुरुषभेदः-कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः ॥ ३ ॥ प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः ॥ ४ ॥ प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ॥ ५ ॥

समर्थः पदविधिः २ । १ । १ ॥ ^२पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्था-श्रितो बोध्यः ।

प्राक्कडारात्समासः २ । १ । ३ ॥ ^३'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् 'समासः' इत्यधिक्रियते ।

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे,
रामेगामिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्,
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम ! मामुद्धर ॥

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

प्रकृतसमासप्रकरणे प्राय एष नियमोऽपि स्मरणीयः—

चकारबहुलो द्वन्द्वः स चासौ कर्मधारयः ।

यस्य येषां बहुव्रीहिः शेषास्तत्पुरुषाः स्मृताः ॥ इति ॥

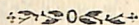
विकृति होती है । चकारात्-दूर तथा समीप अर्थ में भी ।

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

१—समास=दो या अनेक पदों के सम्मिलित होने का नाम समास है । उस (समास) के प्रधान पाँच भेद होते हैं—१-केवल समास । २-अव्ययीभाव । ३-तत्पुरुष । ४-बहुव्रीहि । ५-द्वन्द्व । अव्ययीभावादि विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त समास केवल-समास नामक होता है । जिस समास में पूर्व (प्रथम) पदार्थ (पद का अर्थ विषय) प्रधान होता है वह 'अव्ययीभाव' संज्ञक समास है । जिसमें उत्तर पदार्थ प्रधान हो, वह 'तत्पुरुष' संज्ञक होता है । जिसमें अन्य (समासोक्त पद से भिन्न-स्थानादि) प्रधान हो, वह 'बहुव्रीहि' संज्ञक होता है । जिसमें समस्त दोनों पद प्रधान हों, वह 'द्वन्द्व' संज्ञक है । तत्पुरुष का भेद कर्मधारय और कर्मधारय समास का भेद द्विगु-समास होता है । २--पद को उद्देश्य करके की जानेवाली विधि समर्थ का आश्रय करके रहती है । ३--'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पहले तक 'समास' का अधिकार जाता है ।

सह सुपा २।१।४ ॥ 'सुप् सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्राति-
पदिकत्वेन सुपो लुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृत्तद्धितसमासैकशेषसना-
द्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थाज्वबोधकं वाक्यं विग्रहः । स च लौकि-
कोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः । पूर्वं अम् भूत सु
इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्व-
निपातः । ३ इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च । वागर्थी इव वागर्थीविव ।

॥ इति केवलसमासः ॥



अथाव्ययीभावसमासः

अव्ययीभावः २।१।५ ॥ 'अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्युद्धचर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भा-
वपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्यस्यौगपद्यसःदृश्यसम्पत्तिसाकल्याऽन्तवचनेषु २।१।६ ॥

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते सोऽव्ययी-
भावः । प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा । विभक्तौ-
'हरि डि अधि' इति स्थिते—

परार्थेति—समस्यमानपदाथपेक्षया मित्रार्थाभिधानमित्यर्थः । यथा 'राजपुरुषः'
इत्युक्ते राज्ञः पुरुषस्यैव बोधो भवति । लोके प्रयोगार्हः लौकिकः । लोके
प्रयोगानर्हः अलौकिकः ।

भूतपूर्वः—अत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकविग्रहे, 'पूर्वं अम् भूत सु' इत्यलौकि-
विग्रहे, 'सह सुपा' इत्यनेन विभाषा समाससंज्ञायां समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन 'सुपो
धातु—' इति सुपो (विभक्त्योः) लुकि, भूतपूर्वे चरट् इति निर्देशेन भूतशब्दस्य
पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ तस्य स्त्वविसर्गौ 'भूतपूर्वः' इति ।

॥ इति केवल-समासः ॥



१—सुबन्त का सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है । २—'इव' शब्द के साथ
समास होता है, और विभक्ति का लोप भी नहीं होता है ।

॥ इति केवल-समासः ॥



३—'तत्पुरुषः' सूत्र के पूर्व तक 'अव्ययीभाव' का अधिकार है । ४—विभक्ति-समीप-
आदि अर्थों में विद्यमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह (समास)
अव्ययीभाव-संज्ञक होता है ।

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १ । २ । ४३ ॥ ^१समासशास्त्रे प्रथमा-
निर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ।

उपसर्जनं पूर्वम् २ । २ । ३० ॥ ^२समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम् ।
इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्याऽन्यत्वात्प्रातिपदिक-
संज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि ।

अव्ययीभावश्च २ । ४ । १८ ॥ ^३अयं नपुंसकं स्यात् ।

नाऽव्ययीभावादतोऽन्त्वपञ्चम्याः २ । ४ । ८३ ॥ ^४अदन्तादव्ययीभावा-
त्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात् । गाः पातीति गोपस्त-
स्मिन्नित्यधिगोपम् ।

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २ । ४ । ८४ ॥ ^५अदन्तादव्ययीभावात्तृतीया-
सप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा ।
कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । मद्राणां समृद्धिः समद्रम् । यवनानां व्युद्धि-
दुर्यवनम् । मक्षिकाणमभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा
सम्प्रति न युज्जत इत्यतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि । विष्णोः
पश्चादनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः । रूपस्य
योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमतिक्रम्य यथाशक्ति ।

प्रथमानिर्दिष्टमिति—समाससंज्ञाविधायकशास्त्रघटकप्रथमान्तपदजन्यबोधविषयोऽर्थं
उपसर्जनसंज्ञः स्यादित्यर्थः । तथाहि—अधिहरि इत्यत्र समाससंज्ञाविधायकं शास्त्रम्
अव्ययं विभक्ति इत्यादि, तद्घटकं प्रथमान्तपदम् अव्ययमिति, तज्जन्यबोधविषयः
'अधि' इति तस्योपसर्जनसंज्ञेति निष्कर्षः ।

हरौ इति अधिहरि—'हरि डि अधि' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययं विभक्ति-
समीप-' इत्यव्ययीभावसमासे, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति 'अधि'
इत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यधेः पूर्वनिपाते, कृतद्धितेति प्रातिपदि-
कत्वे, 'सुपो धातु-' इत्यादिना विभक्तेर्लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिक-
निमित्तकस्वाद्युत्पत्तौ अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप् सुपः' इति सुपो
लुकि' अधिहरि' इति ।

१—समास शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन संज्ञा होती है । २—समास में उपसर्जन का
पूर्व—निपात होता है । ३—अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग में होता है । ४—अदन्त अव्ययी-
भाव से सुप् का लुक् (लोप) नहीं होता, किन्तु पञ्चमी को छोड़कर उसको अमादेश भी हो जाता
है । ५—अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी विभक्ति को अम्भाव विकल्प से होता है ।

अव्ययीभावे चाऽकाले ६ । ३ । ८१ ॥ 'सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहस्रि । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत् सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साऽग्नि ।

नदीभिश्च २ । १ । २० ॥ 'नदीभिः सह संख्या समस्यते । ३३समा-
हारे चार्यामिष्यते । पञ्चगङ्गम् ।

तद्धिताः ४ । १ । ७६ ॥ 'आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५ । ४ । १०७ ॥ 'शरदादिभ्यष्टच् स्यात्स-
मासान्तोज्व्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् । [ग]
'जराया जरस् च । उपजरसमित्यादि ।

अनश्च ५ । ४ । १०८ ॥ 'अन्नन्तादव्ययीभावादृच् ।

नस्तद्धिते ६ । ४ । १४४ ॥ 'नान्तस्य भस्य टेलोपस्तद्धिते । उप-
राजम् । अध्यात्मम् ।

नपुंसकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । १०९ ॥ 'अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्ता-
दव्ययीभावादृच्वा स्यात् । उपचर्मम् । उपचर्म ।

झयः ५ । ४ । १११ ॥ 'झयन्तादव्ययीभावदृच् वा स्यात् । उपसमि-
धम्—उपसमित् । ॥ इत्यव्ययीभावः समासः ॥

पञ्चगङ्गम्—'पञ्चानां गङ्गानाम्' इति लौकिके 'पञ्चन् आम् गङ्गा आम्'
इत्यलौकिके विग्रहे नदीमिथेति समासे, कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातु-'
इति सुपो लुकि, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकारलोपे, 'स नपुंसकम्' इति
नपुंसकसंज्ञायाम्, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वे, ततः प्रातिपदिकत्वेन
सौ, सोरमि पूर्वहूपे च कृते 'पञ्चगङ्गम्' इति ।

१—अव्ययीभाव समास में सह को 'स' आदेश होता है, काल को छोड़कर । २—नदी
वाचक समर्थ सुबन्तों के साथ संख्या-वाचकों का समास होता है । ३—यह (नदीभिश्च)
सूत्र समाहार में भी लगता है, ऐसा ही शृष्ट है । ४—पञ्चमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त
'तद्धिताः' इस सूत्र का अधिकार जाता है । ५—अव्ययीभाव समास में शरदादि-गण-
पठित-शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है । ६—जरा शब्द को जरस् आदेश होता है ।
७—अन्नन्त अव्ययीभाव से टच् होता है । ८—तद्धित प्रत्यय पर हो तो नान्त भसंज्ञक
टि का लोप होता है । ९—अन्नन्त जो नपुंसक तदन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय विकल्प
से होता है । १०—झयन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

॥ इत्यव्ययीभावः समासः ॥

अथ तत्पुरुषसमासः

तत्पुरुषः २ । १ । २२ ॥ ^१अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहिः ।

द्विगुश्च २ । १ । २३ ॥ ^२द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

द्वितीयाश्रितातीतर्षितगतगत्यस्तप्राप्तापन्नैः २ । १ । २४ ॥ ^३द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः । कृष्णश्रितः—कृष्णश्रित इत्यादि ।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २ । १ । ३० ॥ ^४तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनाऽर्थेन च सह वा प्राग्वत् । शंकुलया खण्डः शंकुलाखण्डः । धान्येनाऽर्थो धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्षणा काणः ।

कर्तृकरणे कृता बहुलम् २ । १ । ३२ ॥ ^५कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखैर्भिन्नो नखभिन्नः । कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् । नखनिर्भिन्नः ।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २ । १ । ३६ ॥ ^६चतुर्थ्यन्तार्थाय तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु यूपदारु । *^७तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली । *^८अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् । द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ।

तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभावेति—अयम्भावः—प्रकृतिः समवायिकारणं, विकृतिः कार्यम्, एवञ्च यत्र समवायिकारणकार्यभावस्तत्र समासः, यथा 'घटाय मृत्तिका घटमृत्तिका' 'वस्त्राय तन्तवः वस्त्रतन्तवः' 'यूपाय दारु यूपदारु' इत्यादिषु समासः, न तु 'रन्धनाय स्थाली' इत्यादाविति बोध्यम् ।

१—'तत्पुरुषः' का अधिकार 'शेषो बहुव्रीहिः' सूत्र से पूर्व तक जाता है । २—द्विगु-समास भी तत्पुरुष संज्ञक होता है, अर्थात् तत्पुरुष का भेद ही द्विगु है । ३—द्वितीयान्त का श्रित-अतीत-आदि प्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प में समास होता है और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है । ४—तृतीयान्त का तृतीयान्तार्थकृत-गुणवचन के साथ तथा अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है । ५—कर्ता या करण में जो तृतीया उसका कृदन्त के साथ बहुलता (विकल्प) से समास होता है । ६—चतुर्थ्यन्त=के लिए जो है, तद्वाचक शब्द के साथ तथा अर्थ, बलि-आदिकों के साथ विकल्प से समास होता है । ७—तदर्थ से प्रकृति-विकृति भाव (स्वरूपान्त प्राप्ति) ही इष्ट है । अत एव 'रन्धनाय स्थाली' में समास नहीं हुआ । कारण कि बटुली का रूपान्तर नहीं होता । ८—चतुर्थ्यन्त सुबन्त का अर्थ शब्द के साथ नित्यसमास और विशेष (प्रधान) का लिङ्ग भी कहना चाहिये ।

^१पञ्चमी भयेन २।१।३७ ॥ चोराद्भयं चोरभयम् ।

^२स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९ ॥

^३पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२ ॥ अलुगुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः ।
अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरागतः । कृच्छ्रादागतः ।

षष्ठी २।२।८ ॥ * [षष्ठ्यन्तं] सुबन्तेन प्राग्वत् । राजपुरुषः ।

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१ ॥ ^१अवयविना सह
पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी । षष्ठीसमासापवादः । पूर्व
कायस्य पूर्वकायः । अपरकायः । एकाधिकरणे किम् ? पूर्वश्लोत्राणां ।

अर्थं नपुंसकम् २।२।२ ॥ ^१समांशवाच्यार्थशब्दो नित्यं क्लीबे, स
प्राग्वत् । अर्थं पिप्पल्या अर्थपिप्पली ।

सप्तमी शौण्डैः २।१।४० ॥ ^१सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेपु
शौण्डः अक्षशौण्डः इत्यादि । द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि
तृतीयादि-विभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः ।

^१द्विसंख्ये संज्ञायाम् २।१।५० ॥ संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम् ।
पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः । तेनेह न-उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ।

विशेषलिङ्गतेति—परवल्लिङ्गस्य बाधकमिदम् । अर्थपिप्पली-अर्थं पिप्पल्या
इति विग्रहे 'अर्थं नपुंसकम्' इति समासे, अर्थस्योपसर्जनत्वेन पूर्वप्रयोगे, सुपो
धातुरिति सुपो लुकि, ततः समासत्वेन 'सु' आदि विभक्तिकार्ये च कृते 'अर्थपिप्पली'
इति । अत्र 'पिप्पली' शब्दे 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति वचनेनानुप-
सर्जनत्वात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वो न । शौण्डादिभिरिति—शौण्ड-
कितव-धूर्त-व्याड-प्रवीण-संवीत-अन्तर-अधि-पटु-पण्डित-कुशल-निपुण-चपल-
सज्ञकाः शौण्डादयः ।

१-पञ्चम्यन्त का भय-वाचक समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । २-स्तोक-अन्तिक
एवं दूरार्थक तथा कृच्छ्र-प्रकृतिक पञ्चम्यन्त का चान्त-प्रकृतिक के साथ समास होता है ।
३-उत्तर पद पर हो तो स्तोक आदि शब्दों से पञ्चमी का लोप नहीं होता है । ४-षष्ठ्यन्त
प्रातिपदिक का सुबन्त समर्थ के साथ समास होता है । ५-पूर्वादि-शब्दों का अवयवी के साथ
समास होता है, किन्तु यदि वह अवयवी एकत्वसंख्या-विशिष्ट (एकाधिकरण में) हो तब ।
६-नित्य नपुंसक जो समांश 'बराबरी भाग' का वाचक अर्थ-शब्द उसका अवयवी के साथ
समास होता है । ७-सप्तम्यन्त सुबन्त का शौण्डादिगणपठित-शब्दों के साथ समास होता
है । ८-दिशावाचक तथा संख्या-वाचक शब्दों का समास संज्ञा अर्थ में ही होता है ।

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २ । १ । ५१ ॥ ^१तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्घे प्राग्वत् । पूर्वस्यां शालायां भवः पूर्वा शाला इति समासे जाते—^२सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।

दिकपूर्वपदादसंज्ञायां जः ४ । २ । १०७ ॥ ^३अस्माद् भवादर्थे जः स्यादसंज्ञायाम् ।

तद्धितेष्वचामादेः ७ । २ । ११७ ॥ ^४त्रिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च । पौर्वशालः । पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीही ^५द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।

गोरतद्धितलुकि ६ । ४ । ९५ ॥ ^६गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्च् स्यात् समासान्तो, न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

पौर्वशालः—‘पूर्वस्यां शालायां भवः’ इति लौकिकविग्रहे, ‘पूर्वा ङि शाला ङि’ इत्यलौकिके ‘तद्धितार्थोत्तरपद-’ इति समासे, समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, ‘सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः’ इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे ‘पूर्वशाला’ इत्यस्मात् डौ ‘दिकपूर्वपदादसंज्ञायां जः’ इति अप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुपः (ङेः) लुकि ‘तद्धितेष्वचामादेः’ इत्याद्यचो वृद्धौ ‘सु’ आदि विभक्तिकार्ये च ‘पौर्वशालः’ इति ।

पञ्चगवधनः—‘पञ्च गावो धनं यस्य’ इति लौकिकविग्रहे ‘पञ्चन् जस् गो जस् धन सु’ इत्यलौकिकविग्रहे, पूर्वम् अन्यपदार्थप्रधानत्वात् ‘अनेकमन्यपदार्थे’ इति सूत्रेण बहुव्रीहिसंज्ञकसमासः, ततः ‘तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च’ इति तत्पुरुषसमासे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो धातुरिति सुपो लुकि, अन्तर्वतिविभक्तिमाश्रित्य पदत्वेन पञ्चन् इत्यस्य नलोपे, ‘पञ्च गो धन’ इति स्थिते, गोशब्दात् ‘गोरतद्धितलुकि’ इति टच्यनुबन्धलोपे, ‘एचोऽयवायावः’ इत्यवादेशे, प्रातिपदिकत्वात्सौ, उकारस्येत्संज्ञालोपयोः सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते ‘पञ्चगवधनः’ इति ।

१—तद्धितार्थ का विषय हो, या उत्तर पद पर हो या समाहार वाच्य हो तो दिशावाचक तथा संज्ञावाचक सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । २—सर्वनाम को वृत्ति ‘समास’ मात्र में पुंवद्भाव होता है । ३—संज्ञा से भिन्न अर्थ में दिकपूर्वपद-समास से भव-आदि अर्थ में ‘ज’ प्रत्यय होता है । ४—तद्धितार्थ प्रत्ययों में ङित् या णित् पर हो तो अचो के आदि अच् को वृद्धि होती है । ५—उत्तरपद पर रहते द्वन्द्व और तत्पुरुष समास को नित्य समास होता है, ‘ऐसा कहना चाहिये’ । ६—गो-शब्दान्त-तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, किन्तु तद्धित का लोप ‘पर में’ न हुआ हो तब ।

१तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२॥

संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२॥ २द्वितीयार्थत्रोक्तस्त्रिविधः सङ्ख्या-
पूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

द्विगुरेकवचनम् २।४।१॥ द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् ।

स नपुंसकम् २।४।१७॥ ५समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् ।

पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम् ।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७॥ ५भेदकं समानाधिकरणेन
भेदेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम्—
कृष्णसर्पः । क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।

उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५॥ ६घन इव श्यामो घन-
श्यामः । ७शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् । शाक-
प्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः ।

नञ् २।२।६॥ ८नञ् सुपा सह समस्यते ।

नलोपो नञः ६।३।७३॥ ९नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः—
अब्राह्मणः ।

विशेषणं विशेष्येण इति—

भेदं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् ।

प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ॥

पदार्थे स्वार्थनिरपेक्षादप्रधानं विशेषणम् ।

विशेष्यं तु प्रधानं स्यात्स्वार्थस्यैव समर्पणात् ॥

बहुलमिति—क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

१—समानाधिकरण 'एकाधिकरण' तत्पुरुष समास की कर्मधारय संज्ञा होती है । २—
'द्वितीयार्थत्रोक्तसमाहारे च' सूत्र-प्रतिपादित त्रिविध ओ तत्पुरुष समास वह यदि संख्यापूर्वक
हो तो द्विगुसंज्ञक होता है । ३—द्विग्वर्थक समाहार एकवत् 'एक वचन' होता है । ४—
समाहार में द्विगु तथा द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग होते हैं । ५—भेदक='विशेषण' का समानाधिकरण
भेद='विशेष्य' के साथ बहुलता 'विकल्प' से समास होता है । ६—उपमान-वाचक 'श्यामि'
शब्दों का सामान्य वचन के साथ समास होता है । ७—'शाकपार्थिवः' आदि की सिद्धि
के लिये उत्तर-पद का लोप कहना चाहिये 'होता है' । ८—नञ् का समर्थ सुबन्त के साथ
समास होता है । ९—उत्तर पद पर हो तो नञ् के नकार का लोप होता है ।

तस्मान्नुडचि ६ । ३ । ७४ ॥ ^१लुप्तनकारान्नत्र उत्तरपदस्याऽजादेनुडा-
गमः स्यात् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु 'न' शब्देन सह सुप्सुपेति समासः ।

कुगतिप्रादयः २ । २ । १८ ॥ ^२एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः
पुरुषः कुपुरुषः ।

ऊर्धादिच्चिडचश्च १ । ४ । ६१ ॥ ^३ऊर्धादियश्च्यन्ताः डाजन्ताश्च
क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुकलीकृत्य । पटपटाकृत्य । सुप्-
रूपः । ^४प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया । प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः । ^५अत्या-
दयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया । अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते १ । २ । ४४ ॥ ^६विग्रहे यन्निग्रतविभक्तिकं
तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः ।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १ । २ । ४८ ॥ ^७उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तश्च
तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः । ^८अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे
तृतीयया । अवक्रुष्टः कोकिलया-अवकोकिलः । ^९पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ।

अनश्वः—'न अश्वः' इति विग्रहे 'नञ्' इत्यनेन समासे, 'न लोपो नञः' इति
नलोपे, 'अ अश्व' इति दशायां, 'तस्मान्नुडचि—' इति नुट्यनुबन्धलोपे, ततः प्राति-
पदिकसंज्ञायाम् विभक्तिकार्ये च कृते 'अनश्वः' इति ।

अतिमालः—अतिक्रान्तः मालामिति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया'
इति समासे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि, 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इति सूत्रेणैव
मालेत्यस्यां उपसर्जनत्वे, तथा प्राक्प्रयोगस्य निषेधे च कृते, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'
इति ह्रस्वे, अतिमालशब्दात्प्रातिपदिकत्वेन 'सु' आदि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

१—लुप्त नकार (लोप हो गया है 'न' जिसका ऐसे) नञ् से उत्तर अजाद्वि शब्द को
नुट् का आगम होता है । २—'कुत्सितार्थ प्रतिपादक'—कु-शब्द तथा गति-संज्ञक शब्द एवं
प्र-आदि उपसर्ग शब्दों का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है । ३—क्रिया के योग में
ऊर्धादि 'ऊरी-आदि' च्यन्त एवं डाजन्त की गति संज्ञा होती है । ४—प्र-आदिक शब्दों का
गति-आदि अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक के साथ समास होता है । ५—अति-आदिक शब्द
क्रान्त आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ समस्त होते हैं । ६—विग्रह में जो नियत 'निश्चित एक'
विभक्तिक है उसको उपसर्जन-संज्ञा होती है किन्तु उसका पूर्वनिपात 'पूर्व' में प्रयोग नहीं होता ।
७—उपसर्जन जो गो शब्द तथा स्त्रीप्रत्ययान्त तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है । ८—अव-
आदिक उपसर्ग क्रुष्ट 'बोलने' आदि अर्थ में तृतीयान्त सुबन्त के साथ समस्त होते हैं ।
९—ग्लान-आदि अर्थ में परि आदि उपसर्गों का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है ।

परिलानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थं पञ्चम्या । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः ।

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३ । १ । ९२ ॥ सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् ।

उपपदमतिङ् २ । २ । १९ ॥ ^३उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते । अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् । माङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् । ^४गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः । व्याघ्री । अश्वक्रीती कच्छपीत्यादि ।

कुम्भकारः—कुम्भं करोतीति विग्रहे कर्मण्यण् इत्यणि 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इत्युपपदसंज्ञायां 'उपपदमतिङ्' इति समासे, प्रातिपदिकत्वेन सुपो घातुरिति सुपो लुकि, 'कुम्भ कृ अ' इति दशायां 'अचोऽङ्गिति' इति 'कृ' इत्यस्य वृद्धौ, रपरे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'कुम्भकारः' इति । व्याघ्री—'व्याजिप्रति' इति विग्रहे 'आतथोपसर्ग' इति कप्रत्यये 'आङ्' उपसर्गस्य 'घ्र' शब्देन 'वि' उपसर्गस्य च 'आघ्र' शब्देन सह 'गतिकारक—' इति परिभाषासहकारेण सुबुत्पत्तेः प्राक् गतिसमासे, 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति डीष्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' ह्रस्व्यादिना सोल्लोपे तत्सिद्धिः । अत्र सुबुत्पत्त्यनन्तरं समासे तु सुपः प्राक् टापि घदन्तत्वाभावान् डीष् न स्यादिति बोध्यम् । अश्वक्रीती—'अश्वेन क्रीता' इति विग्रहे गतिकारकेति परिभाषासहकारेण सुबुत्पत्तेः प्राक् कर्तृकरणे कृता बहुलमिति समासे 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति डीष्यनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो घातुरिति सुपो लुकि, ततः प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ तस्य लोपे च 'अश्वक्रीती' इति, अत्रापि सुबुत्पत्त्यनन्तरं समासे टाप्यदन्तत्वाभावान् डीष् न स्यात् । कच्छपी—'कच्छेन कच्छाम्यां वा पिबति' इति विग्रहे 'सुपि स्थः' इत्यत्र सुपीत्यस्य योय-विभागेन 'क' प्रत्यये, उपपदमिति समासे, सुपो लुकि, जातिवाचकत्वात् 'जातेरस्त्री'

- १—निर आदि उपसर्ग, क्रान्त-आदि अर्थ में पञ्च बन्त सुबन्त के साथ समस्त होते हैं ।
 २—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पद में वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भ-आदि तद्-वाचक पद उपपद-संज्ञक होता है । ३—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य समास होता है । वह समास तिङन्त से भिन्न के साथ प्रवृत्त होता है । ४—सुप् की उत्पत्ति के पूर्व ही गति-संज्ञकों, कारकों एवं उपपदों का कृदन्त-के साथ समास होता है ।

तत्पुरुषाङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६ ॥ ^१सङ्ख्याव्ययादेरंगुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अंगुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम् । निर्गतमंगुलिभ्यो निरंगुलम् ।

अहः सर्वकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७ ॥ ^२एभ्यो रात्रेर्च् स्याच्चात्सङ्ख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

रात्राह्लाहाः पुंसि २।४।२९ ॥ ^३एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्वेव । अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्रः । सर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । ^४संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

राजाहः सखिभ्यष्टच् ५।४।९१ ॥ ^५एतदन्तात्तत्पुरुषाट्च् स्यात् । परमराजः ।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।३।४६ ॥ ^६महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे । महाराजः । प्रकारवचने जातीयर् । महाप्रकारो महाजातीयः ।

इति ङीष्पनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' तस्य लोपे च तत्सिद्धिः । अत्रापि परिभाषाविरहे स एव दोषः ।

अहोरात्रः—'अहश्च रात्रिश्च' इति विग्रहे 'चार्ये द्वन्द्वः' इति समासे सुपो लुकि 'अहः सर्वकदेश-०' इति अच् प्रत्यये, इत्संज्ञकचकारलोपे, 'यस्येति च' इत्यनेनेकारलोपे, 'अहन्' इति नस्य हत्वे, 'हशि च' इत्युत्वे गुणे अहोरात्र इति स्थिते 'परवल्लिङ्गं—' इति सूत्रं प्रबाध्य 'रात्राह्लाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः ।

परमराजः—'परमश्चासौ राजा' इति विग्रहे, विशेषणं विशेष्येण इति समासे, सुपो लुकि, 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच्यनुबन्धलोपे, नस्तद्धित इति टेलोपे, विभक्तिकार्ये 'परमराजः' इति ।

१—संख्या या अव्यय है आदि में जिसके ऐसे अंगुलि-शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है । २—अहः 'अहन्' आदि से परे जो रात्रि शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है, चकाराव संख्यादि तथा अव्ययादि पूर्वक रात्रि शब्द से भी होता है । ३—'कृत समासान्त' रात्र, अह या अह है अन्त में जिनके ऐसे द्वन्द्व तथा तत्पुरुष पुल्लिङ्ग ही होते हैं । 'यह परवल्लिङ्गम् द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' का बाधक है । ४—संख्यापूर्वक रात्र-शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है । ५—राजन् अहन् या सखि ये कोई हों अन्त में जिनके ऐसे तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है । ६—समानाधिकरण उत्तर पद में या जातीयर् प्रत्यय पर

15 में हो तो महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है ।

द्व्यष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्याशीत्योः ६ । ३ । ४७ ॥ आत्स्यात् ।
द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशतिः ।

त्रैस्त्रयः ६ । ३ । ४८ ॥ त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् ।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २ । ३ । २६ ॥ एतयोः परपदस्येव
लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटौ । अर्धपिप्पली । ४ द्विगु-
प्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः-
पञ्चकपालः पुरोडाशः ।

प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया २ । २ । ४ ॥ ५ [प्राप्तापन्ने च द्वितीयया]
समस्येते । अकारश्चानयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्न-
जीविकः । अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात्समासः—निष्कौ-
शाम्बिः ।

अर्धर्चाः पुंसि च २ । ४ । ३१ ॥ ६ अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च
स्युः । अर्धर्चः । अर्धर्चम् । एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहा-ऽङ्कुश-पात्र-
सूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

अथ बहुव्रीहिसमासः

शेषो बहुव्रीहिः २ । २ । २३ ॥ ७ अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।

अनेकमन्यपदार्थे २ । २ । २४ ॥ ८ अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे
वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

अर्धर्चम्—ऋचोऽर्धम् इति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकेदेशिसमासे, 'ऋक्पूर-
ब्धूः—' इति समासान्त—'अ' प्रत्यये विभक्तिकार्ये कृते तस्य सिद्धिः ।

१—संख्या पर हो तो अष्टन शब्द को आत्व होता है, किन्तु बहुव्रीहि या अशीति पर
रहे तो नहीं होता है । २—'संख्या परे रहते' त्रि को त्रयस् आदेश होता है, 'किन्तु
बहुव्रीहि अशीति परे नहीं' । ३—द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास का लिङ्ग 'द्वितीय' पद के समान
होता है । ४—द्विगु—समास तथा प्राप्त, आपन्न या अलम् पूर्वक एवं गति—समास में पर-पर
का लिङ्ग नहीं होता । ५—प्राप्त एवं आपन्न-शब्द का द्वितीयान्त के साथ समास होता है
६—अर्धर्चादि-शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

७—बहुव्रीहि का अधिकार 'चार्ये द्वन्द्वः' के पूर्वतक जाता है । ८—अन्य (अर्थात्
समस्त पद से भिन्न) पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्तपदों का विकल्प से समास
होता है और वह समास बहुव्रीहि—संज्ञक होता है ।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २ । २ । ३५ ॥ 'सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहु-
व्रीहौ पूर्वं स्यात् । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ।

हलदन्तान्सप्तम्याः संजायाम् ६ । ३ । ९ ॥ 'हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या
अलुक् । कण्ठेकालः । प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् ।
उपहृतपशू रद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः ।
३॥ प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ।
४॥ नजोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः । अविद्यमानपुत्रः-अपुत्रः ।

स्त्रियाः पुंवाद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु
६ । ३ । ३४ ॥ 'भाषितपुंस्कात्-अनूङ्-ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः ।
निपातनात्पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तं पुंस्कं
तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं
स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः ।
गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः । चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनूङ् किम् ? वामोरुभार्यः ।
पूरण्यान्तु—

'ऊढो रथो येन सः'—ऊढरथः । 'उपहृतः पशुः यस्मि सः' उपहृतपशुः ।
'उद्धृतमोदनं यस्याः सा' उद्धृतौदना । 'वीराः पुरुषा यस्मिन् सः' वीरपुरुषकः ।
'प्रकर्षेण पतितानि प्रपतितानि, 'प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः' इति विग्रहे 'प्रादिभ्यो
धातुजस्य' इति वार्तिकेन समासे, 'पतितशब्दस्य वैकल्पिके लोपे च कृते सुपो लुकि,
ततो विभक्तिकार्ये च 'प्रपर्णः' 'प्रपतितपर्णः' इति रूपद्वयम् । 'न विद्यमानोऽविद्य-
मानोऽविद्यमानः पुत्रो यस्य सः' इति विग्रहे 'नजोऽस्त्यर्थानाम्-' इति वार्तिकेन
समासे उत्तरपदस्य लोपे च कृते, सुपो लुकि, ततो विभक्तिकार्ये 'अविद्यमानपुत्रः-
अपुत्रः' इति रूपद्वयम् । इदञ्च वार्तिकद्वयं वैकल्पिकोत्तरपदलोपार्थम् । भाषितः
पुमान् यस्मिन्नर्थे स भाषितपुंस्कः सोऽस्त्यस्य तद् भाषितपुंस्कम् । चित्रगुः-चित्रा
गावो ('चित्रा गौः' वा) यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे प्राति-

१—सप्तम्यन्त तथा विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व-प्रयोग ह ता है । २—हलन्त
तथा अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् 'लोप' नहीं होता है । ३—प्रादि परे धातुज 'धातु से
उत्पन्न' का अन्य पद के साथ समास होता है और उत्तरपद का लोप भी विकल्प से होता
है । ४—नञ् से परे अस्ति 'विद्यमान' अर्थ वाचक शब्द का अन्य पद के साथ समास
होता है और विकल्प से उत्तरपद का लोप भी होता है । ५—समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तर
पद में हो तो प्रवृत्ति-निमित्त के तुल्य होने पर जो भाषितपुंस्क 'पहले पुलिङ्ग हो' उससे

अप्पूरणीप्रमाण्योः ५।४।११६ ॥ ^१पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः—कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य सः स्त्रीप्रमाणः । अप्रियादिषु किम् ? कल्याणीप्रियः इत्यादि ।

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ५।४।११३ ॥ ^२स्वाङ्गवाचि-सक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच् स्यात् । दीर्घसक्थः । जलजाक्षी । स्वाङ्गात्किम् ? दीर्घसक्थि शकटम् । स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः । अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच् ।

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५ ॥ ^३आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ५।४।११७ ॥ ^४आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः ।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८ ॥ ^५हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद्बहुव्रीहौ । व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः किम् ? हस्तिपादः । कुसूलपादः ।

संख्या सुपूर्वस्य ५।४।१४० ॥ ^६पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् । सुपात् ।

पदिकत्वात्सुपो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्-' इत्यादिना चित्रेत्यस्य पुंवद्भावे 'गोस्त्रियोःसर्जनस्य' इति 'गो' निष्ठ-ओकारस्य ह्रस्वे प्रातिपदिक-संज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ विभक्तिकार्ये—च कृते 'चित्रगु.' इति । एवमेव 'रूपवती भार्या यस्य सः' रूपवद्भार्याः । अत्रापि पुंवद्भावेन रूपवतीशब्दस्य डीपो निवृत्ति-स्तथा भार्याशब्दस्याकारस्य ह्रस्वोऽकार इति ज्ञेयम् । 'द्वौ पादौ यस्य सः' द्विपात् ।

परे ऊङ् का अभाव जिसमें है ऐसे स्त्री-वाचक शब्द का 'पुल्लिङ्ग' वाचक शब्द के तुल्य रूप होता है किन्तु पूरणी या प्रियादि पर में रहें तो नहीं होता ।

१—पूरणार्थ प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग तदन्त तथा प्रमाण्यन्त 'प्रमाणी हो अन्त में जिसके ऐसे' बहुव्रीहि समास से अप् प्रत्यय होता है । २—स्वाङ्ग-वाची सक्थि एवं अक्षि-शब्दान्त बहुव्रीहि-समास से षच् प्रत्यय होता है । ३—बहुव्रीहि समास में द्वि एवं त्रि शब्द-पूर्वक मूर्धन्-शब्दान्त से 'ष'-प्रत्यय होता है । ४—बहुव्रीहि में, अन्तर् या बहिर्-शब्द पूर्व में हो जिसके ऐसे लोमन् शब्द से अप् प्रत्यय होता है । ५—बहुव्रीहि में हस्ति आदि से भिन्न जो उपमान-वाचक शब्द उससे परे पाद-शब्द का लोप होता है । 'यद्द समासान्त' है अतः दकारोत्तरवर्त्यकार का लोप होता है । ६—बहुव्रीहि में संख्या या सु है पूर्व में जिसके ऐसे पाद शब्द का समासान्त लोप होता है ।

उद्विभ्यां काकुदस्य ५।४।१४८ ॥ ^१लोपः स्यात् । उक्ताकुत् । विकाकुत् ।
पूर्णाद्विभाषा ५।४।१४९ ॥ ^२पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः ५।४।१५० ॥ ^३सुदुर्म्या हृदयस्य
हृद्भावो निपात्यते । सुहृत्-मित्रम् । दुर्हृत्-अमित्रः ।

^४उरः प्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१ ॥ सोऽपदादौ ८।३।३८ ॥
^५पाशकल्पककाम्येषु [परेषु] विसर्गस्य सः ।

कस्कादिषु च ८।३।४८ ॥ ^६एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यस्य
तु सः । इति सः । व्यूढोरस्कः ।

इणः षः ८।३।३६ ॥ ^७इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्-पाश-
कल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिष्कः ।

निष्ठा २।३।३९ ॥ ^८निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।

शेषाद्विभाषा ५।४।१५४ ॥ ^९अनुक्तसमान्ताद् बहुव्रीहेः कब् वा ।
महायशस्कः । महायशाः ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ॥

शोभनो पादो यस्य सः' सुपात् ।

'उद्गतं काकुदं यस्य सः' उक्ताकुत् । सुष्ठु शोभनं हृदयं यस्य सः इति सुहृत् ।
'व्यूढमुरो यस्य सः' इति व्यूढोरस्कः । अत्र 'अनेकमन्यपदार्ये' इति समासे, प्राति-
पदिकत्वासुपो लुकि, 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कपि, पकारलोपे, 'व्यूढ उरस् क'
इति, स्थिते, सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते, 'कस्कादिषु च' विसर्गस्य सत्त्वे, 'आद्
गुणः' इति गुणे, प्रातिपदिकत्वेन सौ तस्य रुत्वे विसर्गे च 'व्यूढोरस्कः' इति । एव
'महद् यशो यस्य सः' महायशस्कः-महायशाः इति ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासः ॥

१-बहुव्रीहि में उत या वि से परे काकुद शब्द का समासान्त लोप होता है । २-पूर्ण
शब्द से परे काकुद शब्द का लोप विकल्प से होता है । ३-मित्र एवं अमित्र अर्थ में, सु
या दुर् शब्द से परे हृदय शब्द को हृद् आदेश होता है । ४-उरःप्रभृति गणपठित शब्दों
से कप् प्रत्यय होता है । ५-पाश, कल्प, क या काम्य पर में हों तो विसर्जनीय को स
होता है । ६-कस्कादि गणपठित शब्दषट्क इण् से परे विसर्ग को षत्व होता है, तथा इण्
उत्तर से अन्य विसर्ग को स होता है । ७-इण् से परे विसर्ग को ष होता है, पाश, कल्प,
क, काम्य पर हो तब । ८-बहुव्रीहि में निष्ठान्त शब्द का पूर्व निपात होता है । ९-अनुक्त
समासान्त बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासः ॥

अथ द्वन्द्वसमासः

चार्षे द्वन्द्वः २।२।२९ ॥ ^१अनेकं सुबन्तं चाऽर्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र ईश्वरं गुहं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । भिक्षामटगां चानयेत्यन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात्समासो न । धवखदिरो छिन्धीति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषामिति समूहः—समाहारः ।

राजदन्तादिषु परम् २।२।३१ ॥ ^२एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजानो राजदन्ताः । ^३धर्मादिष्वनियमः । अर्थधर्मौ । धर्मार्थावित्यादि ।

द्वन्द्वे घि २।२।३२ ॥ ^४द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।

अजाघदन्तम् २।२।३३ ॥ ^५द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ ।

^६अल्पात्तरम् २।२।३४ ॥ शिवकेशवौ ।

पिता मात्रा १।२।७० ॥ ^७मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ वा ।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२ ॥ ^८एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दाङ्गिकवैणविकम् । रथिकाऽश्वारोहम् ।

पितरौ = 'माता च पिता च इति विग्रहे 'पिता मात्रा' इति सूत्रेण विकल्पेन पितृशब्दस्यैकशेषे मातृशब्दस्य लोपे च कृते 'पितृ औ' इति स्थिते, "ऋतो ङि सर्वनामस्थाने" इति गुणे रपरे च 'पितरौ' इति । लोपाभावे तु "मातापितरौ" इति ।

१—चार्ष 'च के अर्थ' में अर्थात् जैसे—रामश्च रामश्च रामश्च इत्यादि समुच्चयादि भेद में विद्यमान अनेक सुबन्तों का समास होता है 'अर्थात् वे समस्त होते हैं' और वह समास द्वन्द्व संज्ञक होता है । २—राजदन्तादि शब्दों में पूर्व प्रयोगार्ह 'पहले प्रयोग करने योग्य' पद का पर प्रयोग होता है । ३—धर्मादियों में कोई नियम नहीं है । ४—द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक का पूर्वनिपात होता है । ५—द्वन्द्व समास में अजादि अदन्त का पूर्व निपात होता है । ६—द्वन्द्व समास में अल्पात्तर=अत्यन्त अल्प अच् जिसमें हो उस का पूर्वनिपात होता है । ७—मातृ शब्द के साथ कहा गया पितृ शब्द विकल्प से शेष रहता है । ८—प्राणि, तूर्य, सेनाङ्गों का द्वन्द्व एकवत् होता है, अर्थात् इनमें एकवचन होता है ।

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५ । ४ । १०६ ॥ 'चवर्गान्तादषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमी-दृषदम् । वाक्त्वषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ।

॥ इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ॥

अथ समासान्ताः

ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५ । ४ । ७४ ॥ 'अ-अनक्षे' इति च्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः स्वादक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । अक्षे तु—अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।

अक्षणोऽदर्शानात् ५ । ४ । ७६ ॥ 'अचक्षुःपर्यायादक्षणोऽच् स्यात्समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः ।

४ उपसर्गादिध्वनः ५ । ४ । ८५ ॥ प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।

न पूजनात् ५ । ४ । ६९ ॥ 'पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । मुराजा । अतिराजा ।

॥ इति समासान्ताः ॥ ❀ इति समासप्रकरणम् ❀

शमी च दृषच्च अनयोः समाहारः शमीवृषदम् । वाक् च त्विट् च अनयोः समाहारः वाक्त्वषम् । छत्रञ्च उपानही च एषां समाहारः छत्रोपानहम् । प्रावृट् च शरच्च अनयोरितरेतरयोगः प्रावृट्शरदौ ॥ इति द्वन्द्वसमासः ॥

विष्णोः पुरम् विष्णुपुरम् । विमला आपो यत्र तत् विमलापम् । राज्ञो धूः राजधुरा । अक्षे धूः अक्षधूः । दृढा धूर्यस्यासौ दृढधूः । सख्युः पन्थाः सखिपथः । रम्यः पन्था यत्रासौ रम्यपथः । अत्र 'अनेकमन्यपदारथे' इति समासे, सुपो लुकि, 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति 'अ' प्रत्यये, मत्वेन 'नस्तद्धिते' इति टेलोपे विभक्ति-कार्ये च कृते 'रम्यपथः' इति ।

१—समाहार द्वन्द्व से चवर्गान्त दान्त षान्त एवं हान्त से टच् प्रत्यय होता है ।

॥ इति द्वन्द्वप्रकरणम् ॥

२—ऋक्, पू, अप् या धू अन्त में है जिसके पेसा जो समास उसका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय होता है किन्तु अक्ष अर्थ में जो धू, तदन्त से नहीं होता । ३—चक्षु 'नेत्र' से भिन्न पर्याय वाची जो अक्षि शब्द उससे समासान्त अच् प्रत्यय होता है । ४—उपसर्ग से परे जो अध्वन् शब्द उससे अच् प्रत्यय होता है । ५—पूजनार्थक शब्दों से परे समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं ॥ इति समासान्तः ॥

अथ तद्धिताः

तत्रादौ साधारणप्रत्ययप्रकरणम्

समर्थानां प्रथमाद्वा ४।१।८२ ॥ ^१इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिश' इति यावत् ।

अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४ ॥ ^२एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि—आश्वपतम् । गाणपतम् ।

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ४।१।८५ ॥ दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात् । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा—

हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४ ॥ ^४हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः । ^५देवाद्यज्जौ । दैव्यम् । दैवम् । ^६बहिषष्टिलोपो यञ्च । ^७ईकक्च ।

किति च ७।२।११८ ॥ ^८किति तद्धिते चाऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । वाहीकः । ^९गोरजादिप्रसङ्गे यत् । गोरपत्यादि गव्यम् ।

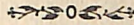
इदमिति—सूत्रमधिक्रियते इति तु नोक्तम्, स्वार्थिकप्रकरणे 'वा' मात्रस्य सम्बन्धात् । प्रागिति—'तेन दीव्यतिखनति-०' इति सूत्रस्थ-दीव्यतिरूपार्था यावन्तोऽपत्यादयोऽर्थास्तेष्वर्थेषु इति भावः ।

आश्वपतम्—अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतिना निवृत्तम्, अश्वपतेरिदम् इत्यादि लौकिकविग्रहे अश्वपत्यादिभ्यश्च इति सूत्रेण 'अण्' प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकत्वात् सुपो लुकि, आद्यचो वृद्धौ, 'यस्येति च' इति-इकारलोपे, तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सौ' तस्य 'अमि' 'आश्वपतम्' इति । गाणपतेरपत्यादि अर्थे गाणपतम् ।

१—'समर्थानां-प्रथमात्'-'वा'-इन तीनों पदों का अधिकार 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र से पूर्व तक जाता है । २—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में इन (अश्वपत्यादि गणपठित) शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । ३—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में दिति, अदिति, आदित्य एवं पत्युत्तरपद से 'ण्य' प्रत्यय होता है । ४—यम् पर हो तो हल् से परे यम् का लोप होता है, विकल्प से । ५—देव शब्द से यच् एवं अच् प्रत्यय होते हैं । ६—बहिषष् शब्द की टि का लोप होता है और यच् प्रत्यय भी होता है । ७—बहिषष् शब्द से ईकक् प्रत्यय तथा उसकी टि का लोप भी होता है । ८—कित् तद्धित पर हो तो अचों के आदि अच् को वृद्धि होती है । ९—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अजादि के प्रसङ्ग में गो शब्द से यत् प्रत्यय होता है ।

^१उत्सादिभ्योऽञ् ४ । १ । ८६ ॥ औत्सः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तापंसाधारणप्रत्ययप्रकरणम् ॥ १ ॥



अथ अपत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४ । १ । ८७ ॥ ^२‘धान्यानां भवने’ इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमात्नञ्स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंसनः ।

तस्याऽपत्यम् ४ । १ । ९२ ॥ ^३षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादिपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणान्ताश्च प्रत्यया वा स्युः ।

ओर्गुणः ६ । ४ । १४६ ॥ ^४उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । उपगोरपत्यम्—ओपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंसनः ।

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४ । १ । १६२ ॥ ^५अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।

एको गोत्रे ४ । १ । ९३ ॥ ^६गोत्रे एक एवाऽपत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः ।

गर्गादिभ्यो यञ् ४ । १ । १०५ ॥ ^७गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।

ओपगवः—‘उपगोरपत्यम्’ इति विग्रहे ‘तस्यापत्यम्’ इत्यणि णकारस्य लोपे, तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, ‘तद्धितेष्वचामादेः’ इति वृद्धौ, ‘ओर्गुणः’ इति गुणे, ‘एचोऽथवायावः’ इत्यवादेशे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ तस्य रुत्वे विसर्गं च कृते ‘ओपगवः’ इति ।

१—उत्सादि गणपठित शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है ।

॥ इति साधारणप्रत्ययप्रकरणम् ॥

२—‘धान्यानां भवने’ क्षेत्रे सूत्र से पूर्व-अर्थों में स्त्री एवं पुंस् शब्द से क्रम से नञ् स्नञ् प्रत्यय होते हैं । ३—उक्त-‘कहे गये’, वक्ष्यमाण ‘कहे जनेवाले’ सभी प्रत्यय कृतसन्धि ‘की हुई सन्धि वाले’ षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अपत्य अर्थ में विकल्प से होते हैं । ४—तद्धित-प्रत्यय पर हो तो उवर्णान्त भसंज्ञक-अङ्ग के अन्त्य अल् को गुण होता है । ५—अपत्यत्वेन विवक्षित पौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है । ६—गोत्र अर्थ में अपत्यसंज्ञक प्रत्यय एक ही होता है । ७—गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादि गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से यञ् प्रत्यय होता है ।

यज्ञोश्च २ । ४ । ६४ ॥ ^१गोत्रे यद्यन्तमग्रन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।

जीवति तु वंश्ये युवा ४ । १ । १६३ ॥ ^२वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यात् ।

गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४ । १ । १९४ ॥ ^३यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

यज्ञिगोश्च ४ । १ । १०१ ॥ ^४गोत्रे यौ यज्ञिगौ तदन्तात्फक् स्यात् ।

आयनेयीनीधियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७ । १ । २ ॥ ^५प्रत्ययादेः फस्य—आयन्, ढस्य—एय्, खस्य—ईन्, छस्य—ईय्, घस्य—इय्—एते स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यागणः । दाक्षायणः ।

अत इञ् ४ । १ । १९५ ॥ ^६अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।

अपत्य पौत्रप्रभृति गोत्रम्—जीवति तु वंश्ये युवा—इदमत्र ध्येयम् । यद्यप्यपत्यशब्दः आत्मजस्तनयः सूनुरित्यादि कोशात् पुत्रपर्याय एव तथाप्यपत्यं पौत्रप्रभृति-शास्त्रात् न पतन्ति पितरोऽनेनेत्यर्थको यौगिकाऽपत्यशब्दो गृह्यते । तच्चापत्यं त्रिविधम्—अनन्तरापत्यम्, गोत्रापत्यम्, युवापत्यञ्चेति । तत्रानन्तरापत्यं 'पुत्रः' । एवं मूलपुरुषतृतीयादेः सन्तानस्य 'अपत्यं पौत्रप्रभृति—' इत्यनेन गोत्रसंज्ञा । गोत्रापत्यप्रत्ययविवक्षायां मूलपुरुषसन्ततिषु एकत्र बहुत्र वा गोत्रत्वविववक्षायाम् 'एको गोत्रे' इति नियमात् एक एवापत्यप्रत्ययः । एवञ्च तृतीयापत्यस्य विवक्षायां गर्गस्यापत्यम् इति विग्रहे गर्गस्य गोत्रापत्यम् 'गार्ग्यः' इत्येव स्यात् । जीवति तु वंश्ये इति—यस्य सन्तानस्य पितृपितामहाद्यन्यतमोऽस्ति तस्य युवसंज्ञा न तु गोत्रसंज्ञा । एवञ्च अनन्तरापत्यप्रत्यये 'गार्गिः' । गोत्रापत्ये 'गार्ग्यः' । युवापत्ये 'गार्ग्यागणः' । अत इञ्—अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तस्मादिञ् स्यादपत्येऽर्थे ।

१—गोत्र में जो यद्यन्त या अद्यन्त तदवयव यञ् एवम् अञ् का लुक् 'लोप' होता है, यदि यञ् या अञ् प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं । २—वंश में पिता आदि के जीवित रहने पर पौत्र आदि का जो अपत्य चतुर्थादि (प्रपौत्रादि) उसकी युव-संज्ञा हो जाती है । ३—युवापत्य अर्थ में गोत्र-प्रत्ययान्त से हो 'बाद में ही' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिङ्ग में तो युव-संज्ञा नहीं होती है । ४—गोत्र अर्थ में जो यञ् या इञ् तदन्त से फक् प्रत्यय होता है । ५—प्रत्यय के आदिभूत फ के स्थान में आयन्, ढ को एय्, ख को ईन्, छ को ईय् और घ को इय् आदेश होते हैं । ६—अपत्य अर्थ में तदन्त शब्दप्रकृति षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से इञ् प्रत्यय होता है ।

^१बाह्वादिभ्यश्च ४ । १ । ९६ ॥ बाह्विः । औडुलोमिः । ^२लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः । उडुलोमाः । आकृतिगणोज्यम् ।

अनुष्यानन्तर्यं ^३विदादिभ्योऽञ् ४ । १०४ ॥ एभ्योऽञ् गोत्रे, ये त्वत्राऽनृ-
पयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं वैदः, वैदौ ।

यज्ञजोश्च २ । ४ । ६४ ॥ ^४गोत्रे यद्यन्तमन्तञ्च तदवयवयोरेतयो-
लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । विदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ ।
पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।

^५शिवादिभ्योऽण् ४ । १ । ११४ ॥ अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

^६ऋष्यन्धकवृष्णिगुरुभ्यश्च ४ । १ । ११४ ॥ ऋषिभ्यः—वाशिष्ठः । वैश्वामि-
त्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः ।
साहदेवः ।

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४ । १ । ११५ ॥ ^७संख्यादिपूर्वस्य मातृ-
शब्दस्योदादेशः स्यादण् प्रत्ययरश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः ।
भाद्रमातुरः ।

बाहोरपत्यम् बाह्विः । उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः । विदस्य गोत्रापत्यं वैदः,
वैदौ, विदाः । विदाः इत्यत्र यज्ञजोश्चेति अजो लुक् । तेन वृद्धयमावः । दुहितुरपत्यं
दौहित्रः । शिवस्यापत्यं शैवः । गाङ्गाया अपत्यं गाङ्गः । वसिष्ठस्यापत्यं वाशिष्ठः ।
विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः । वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः । एवं 'नाकुलः' इत्या-
दावपि विग्रहः । द्वैमातुरः—'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' इति विग्रहे अण् प्रत्यये कृते
'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इत्यनेन मातृ-ऋकारस्योदादेशे रपरे 'तद्धितेष्वचामादेः'

१--बाह्वादि गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भी इञ् प्रत्यय होता है ।
२--लोमन् शब्द से अपत्य अर्थ में बहुत्व विवक्षित हो तो अकार प्रत्यय होता है (कहना
चाहिये) । ३--विदादिगणपठितशब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से गोत्र अर्थ में अञ् प्रत्यय
होता है, किन्तु जो कि ऋषिमित्र है उनसे अपत्य अर्थ में 'अञ्' होता है । अन्यत्र 'ऋषिवाचक
शब्द' से तो गोत्र अर्थ में 'अञ् प्रत्यय' होता है । ४--यदि यन्त या अन्त कृत बहुत्व हो
तो गोत्र में जो यन्त या अन्त तदवयव यञ्, अञ् का लोप होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग
में नहीं । ५--अपत्य अर्थ में शिवादि--गणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अण्
प्रत्यय होता है । ६--ऋषि, अन्धक, वृष्णि या कुरु वाचक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अण्
प्रत्यय होता है अपत्य अर्थ में । ७--संख्या, सम् पवं भद्र-पूर्व जो मातृ शब्द उसको 'उत्'
आदेश होता है तथा अण् प्रत्यय होता है ।

स्त्रीभ्यो ढक् ४ । १ । १२० ॥ ^१स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ।

^२कन्यायाः कनीन च ४ । १ । ११६ ॥ चादण् । कानीनो व्यासः
कर्णश्च ।

^३राजश्वशुराद्यत् ४ । १ । १३७ ॥ ^४ऋराज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ।

ये चाऽभावकर्मणोः ६ । ४ । १६८ ॥ ^५यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या
स्यान्न तु भावकर्मणोः । राजन्यः । जातावेवेति किम् ?

अन् ६ । ४ । १६७ ॥ ^६अन् प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः । श्वशुर्यः ।

^७क्षत्राद्धः ४ । १ । १३८ ॥ क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ।

^८रेवत्यादिभ्यष्टक् ४ । १ । १४६ ॥

ठस्येकः ७ । ३ । ५० ॥ ^९अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात् । रैवतिकः ।

जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ४ । १ । १६८ ॥ ^{१०}जनपदक्षत्रियवाचकाच्छ-
ब्दादञ् स्यादपत्ये । पाञ्चालः । ^{११}ऋक्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य

इति वृद्धौ 'द्वैमातुरः' इति । विनतायाः अपत्यं वैनतेयः । कन्यायाः अपत्यं
कानीनः ।

राजन्यः—'राज्ञोऽपत्यम्' इति विग्रहे 'राजश्वशुराद्यत्' इति यति तकारलोपे,
मत्वात् 'नस्तद्धिते' इत्यनेन टेलोपि प्राप्ते 'ये चाभावकर्मणोः' इत्यनेन तन्निषेधे
(प्रकृतिभावे), प्रातिपदिकत्वेन सु आदि विभक्तिकार्ये कृते तत्सिद्धिः । राज्ञोऽपत्यं
दास्यादावुत्पन्नो राजनः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः ।

जनपदेति—जनपदो जनपदनामधेयशब्दो वाचको यस्य स जनपदशब्द इति ।
तथा च जनपदवाची सन् यः क्षत्रियादिवाची शब्दस्तत्प्रकृतिकात् षष्ठ्यन्ताद-

- १—स्त्री-प्रत्ययान्त प्रकृति षष्ठ्यन्त सुदन्त समर्थसे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।
२—कन्या शब्दको कनीन आदेश होता है चकारात् अण् प्रत्यय भी होता है । ३—अपत्य
अर्थ में राजन् एवं श्वशुर—शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से यत् प्रत्यय होता है ।
४—राजन् शब्द से जाति (अर्थात् प्रकृति प्रत्यय—समुदाय से जाति=आकृतिलक्षणा
जाति) वाच्य हो तभी यत् प्रत्यय होता है । ५—तद्धितार्थ यकारादि प्रत्यय पर रहे तो
अन् प्रकृति से ही रहता है । अर्थात् अन् का लोप नहीं होता किन्तु भावकर्म को छोड़कर ।
६—अण् प्रत्यय पर हो तो अन् प्रकृति से ही रहता है । ७—जाति वाच्य हो तो अपत्य
अर्थ में क्षत्र शब्द से 'घ' प्रत्यय होता है । ८—रेवत्यादिगणपठित शब्दों से ठक् प्रत्यय
होता है । ९—अङ्ग से परे जो ठ उसको इक आदेश होता है । १०—जनपद वाची होता
हुआ जो क्षत्रिय-वाची शब्द उससे अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । ११—जनपद वाची

राजन्यप्रत्ययवत् । पञ्चालानां राजा पाञ्चालः । १*कुरोरण् वक्तव्यः ।
पौरवः । २*पाण्डोर्इयण् । पाण्ड्यः ।

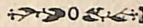
३*कुरुनादिभ्यो ण्यः ४ । १ । १७२ ॥ कौरव्यः । नैषध्यः ।

ते तद्राजाः ४ । १ । १७४ ॥ ४*अत्रादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः ।

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २ । ४ । ६२ ॥ ५*बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य
लुक्, तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः । पञ्चालाः—इत्यादि ।

कम्बोजाल्लुक् ४ । १ । १७५ ॥ ६*अस्मात्तद्राजस्य लुक् । कम्बोजः ।
कम्बोजः । ७*कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । चोलः । शकः । केरलः ।
यवनः ।

॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥



अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

तेन रक्तं रागात् ४ । २ । १ ॥ अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः ।
कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ।

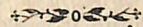
पत्यार्थेऽञ् स्यादित्यर्थः । पुरोरपत्यं पौरवः, पौरवो, पुरवः—इत्यादि । पाण्डोरपत्यं
पाण्ड्यः । अत्रापि पाण्ड्यो, पाण्डवः इत्यादि प्रयोगाः । कुरोरपत्यं कौरव्यः ।
निषधस्यापत्यं नैषध्यः । एवमग्रेऽपि । इदमत्र ध्येयम्—पञ्चालाङ्गवङ्गमगध-
कलिङ्गादयश्शब्दाः देशवाचिनो राजवाचिनश्च । तत्र देशवाचित्वे बहुवचनान्ताः,
राजवाचित्वे एकवचनान्ताः ॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥

तेन रक्तं रागात्—रञ्जकद्रव्यवाचकात् तृतीयान्ताद् रक्तमित्यर्थेऽण् प्रत्ययो

जो क्षत्रिय—तुल्य शब्द उससे राजा अर्थ में अपत्य की तरह प्रत्यय होते हैं ।

१—पुर शब्द से अण् प्रत्यय होता है । २—पाण्डु शब्द से ङ्यण् प्रत्यय होता है ।
३—कुरु शब्द एवं नकारादि (नकार हो आदि में जिसके ऐसे) शब्द से ण्य प्रत्यय होता
है । ४—पूर्वोक्त अण् आदि प्रत्यय तद्राज—संज्ञक होते हैं । ५—यदि प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो
बहुत्व अर्थ में तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर । ६—कम्बोज
शब्द से विहित तद्राज—संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है । ७—कम्बोजादि—गणपठित शब्दों
से परे तद्राज—संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है, 'ऐसा कहना चाहिये' ।

॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ॥



८—राग वाचक शब्द प्रकृतिक तृतीयान्त समर्थक सुबन्त से 'रक्त' अर्थ से अण् प्रत्यय
होता है ।

१नक्षत्रेण युक्तः कालः ४ । २ । ३ ॥ अण् स्यात् । ३तिथ्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् । पुष्येण युक्तं पौषम्—अहः ।

लुबविशेषे ४ । २ । ४ ॥ ३पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्, पष्टिदण्डात्मकस्य कालस्याज्वान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ।

४दृष्टं साम ४ । २ । ७ ॥ तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम ।

५वामदेवाद्भ्यङ्ङ्यौ ४ । २ । ९ ॥ वामदेवेन दृष्टं साम-वामदेव्यम् ।

परिवृतो रथः ४ । २ । १० ॥ ६अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वासो रथः ।

७तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४ । २ । १४ ॥ शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः ।

संस्कृतं भक्षाः ४ । २ । १६ ॥ ८सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः ।

९सास्य देवता ४ । २ । २४ ॥ इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् ।

भवति इत्यर्थः । नक्षत्रेणेति—नक्षत्रवाचकात्तृतीयान्ताद्युक्त इत्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति युक्तश्चेत्कालः । दृष्टं साम—तृतीयान्ताद् दृष्टमित्यर्थेऽण् स्यात् दृष्टं प्रत्यक्षविषयीभूतं साम चेत् इत्यर्थः । वामदेवाविति—तृतीयान्ताद् वामदेवशब्दाद् दृष्टमित्यर्थे डच्च् डचश्च प्रत्ययौ स्याताम् दृष्टं साम चेत् इत्यर्थः । पाशुपतम्—‘पशुपतिः देवता अस्य’ इति विग्रहे अश्वप्रत्यादिभ्यश्चेति-अणि सुपो लुकि, भत्वादिकारलोपे वृद्धौ विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । बार्हस्पत्यम् । अत्र ‘पत्युत्तरपदाण्यः’ इति ण्यो ज्ञेयः ।

१—नक्षत्र-वाचक-शब्द-प्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से ‘युक्तः कालः’-अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । २—नक्षत्र-विहित अण् पर हो तो तिथ्य एवं पुष्य के यकार का लोप होता है । ३—अविशेष अर्थ में—अर्थात् पष्टि (साठ) दण्डात्मक (२४ घण्टे के) काल के बीच के किसी विशेष (प्रधान) काल की प्रतीति न होती हो तो पूर्व सूत्र से विहित जो प्रत्यय उसका लोप होता है । ४—तृतीयान्त समर्थ से दृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, वह दृष्ट यदि साम हो तब । ५—वामदेव-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ से ड्यच्च् एवं ड्य प्रत्यय होते हैं । ६—तत्तद्-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से परिवृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । ७—अमत्र (पात्र, बर्तन) वाचक शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से उद्धृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । ८—तत्तद्-शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से संस्कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, वह संस्कृत पदार्थ भक्ष्य=खाद्य हो तब । ९—तत्तद् शब्द-प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से ‘अस्य देवता’ अर्थ में यथाविहित तत्तद् प्रत्यय होते हैं ।

^१शुक्राद्धन् ४ । २ । २६ ॥ शुक्रियम् ।

^२सोमाट्ट्यण् ४ । २ । ३० ॥ सौम्यम् ।

^३वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४ । २ । ३१ ॥ वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

रीङ् ऋतः ७ । ४ । २७ ॥ ^४अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्चौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः । यस्येति च । पितृव्यम् । उषस्यम् ।

^५पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४ । २ । ३६ ॥ एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ।

^६तस्य समूहः ४ । २ । ३७ ॥ काकानां समूहः काकम् ।

^७भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ ॥ भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह “भस्याऽडे तद्धिते” इति पुंवाद्भावे कृते—

इनण्यनपत्ये ६ । ४ । १६४ ॥ ^८अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात् । तेन ‘नस्तद्धिते’ इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम् ।

शुक्राद्धन्—प्रथमान्तात् ‘शुक्र’ शब्दाद् देवतास्य इत्यर्थे घन् प्रत्ययः स्यात् ।

सोमाट्ट्यण्—प्रथमान्तात्सोमशब्दात् ‘देवतास्य’ इत्यर्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति ।

‘वाय्वृतु’ इति । प्रथमान्तेभ्यो वाय्वृतुपित्रुषस् शब्देभ्यः देवतास्य इत्यर्थे यत्प्रत्ययः स्यात् । उषःकालामिमानी देवता अस्य इति उषस्यम् । तस्य समूहः—पष्ठघन्तात्समूह इत्यर्थेऽण् स्यात् । भिक्षादिभ्यः इति—पष्ठघन्तभिक्षादिभ्यः समूहेऽर्थेऽण् स्यात् । ‘भस्याडे तद्धिते’ इति—ढमिन्ने तद्धिते परे भस्य पुंवादित्यर्थः । शत्रन्तयुवती शब्दस्य तु ‘यौवतम्’ इति भवति ।

१—शुक्र-शब्द-प्रकृति प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से ‘अस्य देवता’ अर्थ में घन् प्रत्यय होता है । २—सोम शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से ‘अस्य देवता’ अर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है । ३—वायु, ऋतु, पितृ या उषस् शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से ‘अस्य देवता’ अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ४—कृद्भिन्न यकार या सार्वधातुक भिन्न यकार या च्वि प्रत्यय पर हो तो ऋदन्त अङ्ग को रीङ् आदेश होता है । ५—पितृव्य, मातुल, मातामह एवं पितामह ये शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं । ६—तत्तत् शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं । ७—भिक्षादिगणपठित शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । ८—ड भिन्न तद्धित पर में हो तो भसंज्ञक प्रातिपदिक को पुंवाद्भाव होता है । ९—अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में किया गया अण् पर हो तो इन् प्रकृति से ही रह जाता है, अर्थात् उसका लोप नहीं होता है ।

^१ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४ । २ । ४३ ॥ ^२'तलन्तं स्त्रियाम्' । ग्रामता । जनता । बन्धुता । ^३ऋगजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् । गजता । सहायता ।

^४ऋ अह्नः खः क्रतौ । अहीनः ।

^५अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४ । २ । ४७ ॥

इसुसुक्तान्ताक् ७ । ३ । ५१ ॥ ^६इस्उस्उक्तात्परस्य ठस्य कः । सावतुकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् ।

^७तदधीते तद्वेद ४ । २ । ५९ ॥

न ध्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वी तु ताभ्यामैच् ७ । ३ । ३ ॥ ^८'पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः । किं तु ताभ्यां पूर्वी क्रमादजावागमी स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

^९क्रमादिभ्यो वुन् ४ । २ । ६१ ॥ क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ।

इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥ ३ ॥

तदधीते तद्वेद—द्वितीयान्ताद् 'अधीते' इत्यर्थे उक्ता अणादयो वक्ष्यमाणारश्च त्यया वा स्युः इति । वैयाकरणः—'व्याकरणमधीते वेद वा' इति विग्रहे 'तदधीते तद्वेद' इति सूत्रेणाणि णकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि मत्वाद् ग्रथेति चेत्यनेनाकारलोपे 'तद्वितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ प्रासायां 'नम्वाभ्यां पदान्ताभ्यां—' इति ऐजागमेऽनुबन्धलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य ह्ये विसर्गे च 'वैयाकरणः' इति । क्रमादिभ्य इति—द्वितीयान्तक्रमादिभ्यः 'अधीते' 'वेद' इत्यर्थे वुन् प्रत्ययः स्यात् ।

॥ इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥

१—ग्राम, जन एवं बन्धु शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है । २—तल् प्रत्ययान्त सुबन्तों का प्रयोग खीलिङ्ग में ही होता है । ३—गज एवं सहाय शब्द से भी तल् प्रत्यय होता है (कहना चाहिये) । ४—ऋतु (यज्ञ) अर्थ में अहन् शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है । ५—चेतन-भिन्नवाची हस्तिन् शब्द एवं धेनुशब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से ठक् प्रत्यय होता है । ६—इस्, उस्, उक् या त हो अन्त में जिसके उससे परे ठ (ठक्) को क होता है । ७—तत्तत् शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से अधीते एवं वेद अर्थ में अणादिक प्रत्यय होते हैं । ८—पदान्त यकार या वकार से परे वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार वकार के पूर्व को क्रम से ऐ, औ आदेश होते हैं । ९—क्रमादिगणपठितशब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से अधीते एवं वेद अर्थों में वुन् प्रत्यय होता है ॥ इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

अथ चातुरधिकप्रकरणम्

१तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४ । २ । ६७ ॥ उदुम्बराः सन्त्य-
स्मिन्देशे औदुम्बरो देशः ।

२तेन निर्वृत्तम् ४ । २ । ६८ ॥ कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ।

३तस्य निवासः ४ । २ । ६९ ॥ शिबीनां निवासो देशः शैबः ।

४अदूरभवश्च ४ । २ । ७० ॥ विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।

जनपदे लुप् ४ । २ । ८१ ॥ ५जनपदे वाच्ये चातुरधिकस्य लुप् ।

लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १ । २ । ११ ॥ ६लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्ग-
वचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः ।
वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

७वरणादिभ्यश्च ४ । २ । ८२ ॥ अजनपदार्थं आरम्भः । वरणानामदूर-
भवं नगरं वरणाः ।

८कुमुदनडवेतसेभ्यो ङ्मनुप् ४ । २ । ८७ ॥

क्षयः ८ । २ । १० ॥ ९क्षयन्तान्मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

तदस्मिन्नस्ति, तेन निर्वृत्तम्, तस्य निवासः, अदूरभवश्चेति सूत्रचतुष्टयमनु-
वर्त्याह—‘चातुरधिकस्य’ इति ।

प्रत्ययलोपे कृते यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति न्यायेन प्रकृतेरेव
निवासरूपार्थाभिधानात्तदनुरोधेन पुंस्त्वैकवचने प्राप्तेऽतिदेशोऽयम् ‘लुपि युक्तवद्व्य-
क्तिवचने’ इति । अत्र युक्तशब्दः प्रकृतिवाची, व्यक्तिशब्दो लिङ्गवाची,
अतः उच्यते ‘प्रकृतिवल्लिङ्गवचने’ इति ।

१-प्रथमान्त समर्थं सुबन्त से ‘अस्मिन् अस्ति’ अर्थ में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं,
किन्तु यदि तन्नामा (प्रथमान्त सुबन्तनामा) देश हो तो तब । २-तृतीयान्त समर्थं सुबन्त
से ‘निर्वृत्तम्’ अर्थ में यथा-विहित (अणादि) प्रत्यय होते हैं । ३-षष्ठ्यन्त समर्थं सुबन्त से
‘निवास’ अर्थ में यथाविहित (अणादि) प्रत्यय होते हैं । ४-षष्ठ्यन्त समर्थं सुबन्त से
‘अदूरभव’ अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ५-जनपद (देश वा जनसमूह) वाच्य हो तो
चातुरधिक-प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जाता है । ६-लुप् हो जाने पर प्रकृति की तरह
लिङ्ग तथा वचन होते हैं । ७-वरणादिगण पठित प्रकृतिक पठ्यन्त समर्थं सुबन्त से
चातुरधिक प्रत्यय का लुप् होता है । ८-कुमुद, नड, वेतस-शब्दों के तत्पद शब्द प्रकृतिक
सुबन्त से ङ्मनुप् प्रत्यय होता है । ९-क्षयन्त से परे मनुप् के मकार को वकार आदेश
होता है ।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९ ॥ ^१मवर्णाऽवर्णान्तान्म-
वर्णविणोपधाच्च यवादिर्वजितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।

^२नडशादाड्ङ्वलच् ४।२।८८ ॥ नड्वलः । शाद्वलः ।

^३शिखाया वलच् ४।२।८९ ॥ शिखावलः ।

॥ इति चातुरथिकप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ शैषिकप्रकरणम्

शेषे ४।२।९२ ॥ ^४अपत्यादिचतुर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राऽणादयः
स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः ।
दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां
दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

^५राष्ट्राऽवारपाराद्वखौ ४।२।९३ ॥ आभ्यां क्रमाद्वखौ स्तः शेषे ।
राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । *^६अवारपाराद्विगृहीतादपि विप-
रीताच्चेति वक्तव्यम् । अवारीणः । पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृति-
विशेषाद्वाऽदयष्ट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थ-
विभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

मादुपधायाश्चेति—'मश्च अश्च' अनयोः समाहारो 'म', तस्मात् 'मात्' इति ।
वेतसाः सन्त्यत्रेति वेतस्वान् । नडाः सन्त्यत्रेति नड्वलः । शादाः सन्त्यत्रेति
शाद्वलः । शिखा अस्त्यस्मिन् देशे शिखावलः ॥ इति चातुरथिकप्रकरणम् ॥

ननु 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' इति नियमस्तथाच 'राष्ट्रावारपाराद्-'
इत्यादिसूत्रेऽर्थानिर्देशादिमे षादयः प्रत्ययाः स्वार्थे एवं भवेयुरिति शङ्कायामुच्यते—
इह प्रकृतिविशेषादिति—इह = शैषिके । प्रकृतिविशेषात्=राष्ट्रादिशब्दात् इत्यादि ।

१—मकार या अवर्ण है अन्त में जिसके एवं मकार या अवर्ण है उपधा में जिसके उससे
परे मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है, यवादिगण को छोड़कर । २—नड एवं शाद
शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से चातुरथिक अर्थ में 'ड्वलच्' प्रत्यय होता है । ३—शिखाशब्द-
प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से 'वलच्' प्रत्यय होता है ।

॥ इति चातुरथिकप्रकरणम् ॥

४—अपत्य आदि चतुर्थ्यन्त से भिन्न अर्थ को शेष कहते हैं । उस (शेष) अर्थ में
अण् आदिक प्रत्यय होते हैं । ५—राष्ट्र एवं अवारपार शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्तों से
जातादि अर्थ में क्रम से ष एवं ख प्रत्यय होते हैं । ६—अवार तथा पार शब्द से विगृहीत
(अलग २) तथा विपरीत (पारावार) शब्द से भी ख प्रत्यय होता है ।

१ ग्रामाद्यखञौ ४ । २ । १४ ॥ गाम्यः । ग्रामीणः ।

२ नद्यादिभ्यो ढक् ४ । २ । ९७ ॥ नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

३ दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४ । २ । ९८ ॥ दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

४ द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४ । २ । १०१ ॥ दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

५ अव्ययात्त्यप् ४ । २ । १०४ ॥ अमेहकतसित्रेभ्य एव । अमात्यः । इहत्यः । कत्यः । ततस्त्यः । अत्यन्नेर्धुन इति वक्तव्यम् । नित्यः ।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् १ । १ । ७३ ॥ १ यस्य समुदायस्याञ्चां मध्ये आदिवृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात् ।

२ त्यदादीनि च १ । १ । ७४ ॥ वृद्धसंज्ञानि स्युः ।

३ वृद्धाच्छः ४ । २ । २१४ ॥ शालीयः । मालीयः । तदीयः । अवा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदतीयः । दैवदत्तः ।

४ गहादिभ्यश्च ४ । २ । १३८ ॥ गहीयः ।

५ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४ । ३ । १ ॥ चाच्छः । पक्षेऽण् । युवोर्युष्माकं वाऽयं—युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

दक्षिणस्यामदूरे भवा दक्षिणा तत्र भवो दाक्षिणात्यः । पश्चाद्भवः पाश्चात्यः ।

दुरो भवः पौरस्त्यः । शालीयः—'शालायां भवः' इति विग्रहे 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इति 'शाला' इत्यस्य वृद्धसंज्ञायां 'वृद्धाच्छः' इत्यनेन 'छ' प्रत्यये, सुपोः पदिक, आयनेयीत्यादिना 'छ' इत्यस्य ईयादेशे, मत्वेनाकारस्य लोपे प्रातिपदिक-संज्ञाया सो तस्य रुत्वे विसर्गे च 'शालीयः' इति ।

१—ग्राम-शब्द प्रकृतिक समर्थं सुबन्त से, जातादि अर्थ में य एवं खञ् प्रत्यय होते हैं ।
 २—नद्यादिगणपठितशब्दप्रकृतिक समर्थं सुबन्त से जातादि अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ।
 ३—दक्षिणा, पश्चात् एवं पुरस्-प्रकृतिक समर्थं से जातादि अर्थ में त्यक् प्रत्यय होता है ।
 ४—द्यु (दिव्), प्राक् (प्राच्), अवाक् (अवाच्), उदक् (उदच्), एवं प्रतीच-शब्द-प्रकृतिक समर्थं सुबन्त से जातादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ५—अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है । ६—जिस समुदाय से अर्थों के मध्य में आदि वृद्धि (आ ऐ या औ) हो वह वृद्ध-संज्ञक होता है । ७—त्यदादि भी वृद्ध-संज्ञक होते हैं । ८—वृद्धसंज्ञक समर्थं सुबन्त से छ प्रत्यय होता है । ९—गहादिगणपठित शब्दप्रकृतिक समर्थं सुबन्त से भी छ प्रत्यय होता है ।
 १०—युष्मद् या अस्मद्-शब्द प्रकृतिक समर्थं सुबन्त से खञ् प्रत्यय विकल्प से होता है, पश्चात् छ प्रत्यय होता है, पक्ष में अण् प्रत्यय होता है ।

तस्मिन्नणि च युष्माकाऽस्माकौ ४।३।२॥ ^१युष्मदस्मदोरेतावादेशौ
स्तः खञ्जणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकावेकवचने ४।३।३॥ ^२एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तव-
कममकौ स्तः खञ्जि अणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः ।
छे तु—

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८॥ ^३मपर्यन्तयोरेतयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ
स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।

^४मध्यान्मः ४।३।८॥ मध्यमः ।

कालाट्टञ् ४।३।११॥ ^५कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् ।
सांवत्सरिकम् । ^६अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः ।

^७प्रावृष एण्यः ४।३।१७॥ प्रावृषेण्यः ।

सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३॥ ^८साय-
मित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च ।
सायन्तनम् । प्राह्णे-प्रगे-अनयोरेदन्तत्वं निपात्यते । प्राह्णेतनम् । प्रगेतनम् ।
दोषातनम् ।

तावकीनः—तव अयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञ्जि,
अनुबन्धलोपे ग्रायनेयीति खस्येनादेशे 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशे, आदि-
वृद्धौ, भत्वेन यस्येति चेत्यनेन ककारोत्तरवत्यंकारस्य लोपे प्रातिपदिकत्वेन सौ तस्य
रुत्वे विसर्गं च 'तावकीनः' इति । अणि तु 'तावकः' इति । खञ्चेत्यनेन चकारा-
च्छे कृते तस्येयादेशे, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति सूत्रेण 'युष्म' इत्यस्य 'त्व' आदेशे
'त्वदीयः' इति ।

१—खञ् या अण् प्रत्यय पर हो तो युष्मद्-अस्मद् शब्द को (क्रम से) युष्माक,
अस्माक होते हैं । २—खञ् या अण् प्रत्यय पर रहे तो एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् को
(क्रम से) तवक, ममक आदेश होते हैं । ३—प्रत्यय या उत्तरपद पर हो तो एकार्थवाची
युष्मद्, अस्मद्, शब्द के मपर्यन्त (युष्म, अस्म) को क्रम से त्व एवं म आदेश होते
हैं । ४—मध्य शब्द से जातादि अर्थ में 'म' प्रत्यय होता है । ५—कालवाचक शब्दों से
जातादि अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है । ६—अव्ययसंज्ञक शब्दों की 'टि' का लोप भ्रंशान्ता
में ही होता है । ७—प्रावृषशब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से एण्य प्रत्यय होता है । ८—साय-
चिरं, प्राह्णे या प्रगे-इन चारों से एवं कालवाची अव्यय से भी ट् यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं
एवं उनको तुट का आगम भी होता है ।

तत्र जातः ४ । ३ । २५ ॥ 'सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घाद-
यश्च स्युः । सुध्ने जातः सौध्नः । उत्से जात औत्सः । राष्ट्रे जातो
राष्ट्रियः । अवारपारे जातः अवारपारीणः इत्यादि ।

१ प्रावृषष्प् ४ । ३ । २६ ॥ एण्यापवादः प्रावृषिकः ।

२ प्रायभवः ४ । ३ । ३९ ॥ तत्रेत्येव । सुध्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति
सौध्नः ।

३ संभूते ४ । ३ । ४१ ॥ सुध्ने सम्भवति सौध्नः ।

४ कोशाड्ढञ् ४ । ३ । ४२ ॥ कौशेयं वस्त्रम् ।

५ तत्र भवः ४ । ३ । ५३ ॥ सुध्ने भवः सौध्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ।

६ दिगादिभ्यो यत् ४ । ३ । ५४ ॥ दिश्यम् । वर्ग्यम् ।

७ शरीरावयवाच्च ४ । ३ । ५५ ॥ दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । १ अध्यात्मादेष्ट-
जिष्यते । अध्यात्मनि भवम् आध्यात्मिकम् ।

अनुशतिकादीनां च ७ । ३ । २० ॥ १० एषामुभयपदवृद्धिर्त्रिति णिति
किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकि-
कम् । आकृतिगणोऽयम् ।

औत्सः—अत्र 'उत्सादिभ्योऽञ्' इति अणप्रत्ययः । राष्ट्रियः—इत्यत्र 'राष्ट्रावार-
पार-' इति घप्रत्ययः । तत्रेत्येव—सप्तम्यन्तसमर्थात् प्रायभव इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च
प्रत्यया भवन्ति इत्यर्थः । तत्र भवः—भव इत्यर्थे सप्तम्यन्तसमर्थादणादयो भवन्ति ।
शरीरावयवाच्चेत्यत्र चकारात् 'दिगादिभ्यो यत्' इत्यतो यत्—इत्याकृष्यते ।

- १—सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'जातः' अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं ।
२—प्रावृष्-शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से ठप् प्रत्यय होता है । ३—तत्तत्प्रातिपदिक सप्तम्यन्त
समर्थ सुबन्त से प्रायभाव अर्थ में (यथासम्भव) अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं ।
४—सप्तम्यन्तसमर्थसुबन्त से सम्भूत (होने) अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं ।
५—कोश-शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से सम्भूत अर्थ में ङञ् प्रत्यय होता है । ६—तत्तत्-
शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'भवः' अर्थ में अयादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं ।
७—दिगादिगणपठित शब्द प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से प्रायभव-अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।
८—शरीरावयववाची शब्द प्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से भी भव-अर्थ में यत् प्रत्यय
होता है । ९—अध्यात्मादि गण पठित समर्थ सुबन्त से भव-अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।
१०—त्रित्, णित्, या कित्-तद्धित पर हो तो अनुशतिकादिगण पठित शब्दों को उभय-
पदवृद्धि (दोनों पदों की वृद्धि) होती है ।

- १ जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४ । ३ । ६२ ॥ जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ।
 २ वर्गान्ताच्च ४ । ३ । ६३ ॥ कवर्गीयम् ।
 ३ तत् आगतः ४ । ३ । ७४ ॥ स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः ।
 ४ ठगायस्थानेभ्यः ४ । ३ । ७५ ॥ शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः ।
 ५ विद्यायोनिस्म्बन्धेभ्यो वुञ् ४ । ३ । ७७ ॥ औपाध्यायकः । पैतामहकः ।
 ६ हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४ । ३ । ८१ ॥ समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे-गहादित्वाच्छः । समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम् । देवदत्तम् ।
 ७ मयट् च ४ । ३ । ८२ ॥ सममयम् । देवदत्तमयम् ।
 ८ प्रभवति ४ । ३ । ८३ ॥ हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा ।
 ९ तद् गच्छति पयिद्वतयोः ४ । ३ । ८५ ॥ स्रुघ्ने गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ।
 १० अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४ । ३ । ८६ ॥ स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।

ठगायस्थानेभ्यः—आयः स्वामिग्राहो भागः स यस्मिन्नुत्पद्यते तदायस्थानम्, तद्वाचकात्पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे ठक् स्यात् इत्यर्थः । जिह्वामूलाङ्गुलेभ्यो वुञ्—विद्याकृतो योनिःकृतः सम्बन्धो येषां तद्वाचकादागतेऽर्थे वुञ् स्यात् इति । प्रभवति—प्रभवः प्रथमप्रकाशस्तत्कर्तारं प्रभवति इत्यर्थे पञ्चम्यन्तसमर्थादणादयो घादयश्च स्युः । तद्गच्छति—द्वितीयान्ताद् गच्छतीत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः, यो गच्छति स चेत्यन्था दूतो वा । अभि इति—द्वितीयान्तात् 'अभिनिष्क्रामति' इत्यर्थेऽणादवः

१—जिह्वामूल तथा अङ्गुलि-शब्द-प्रकृतिकसमर्थं सुबन्त से भव-अर्थ में छ प्रत्यय होता है । २—वर्गान्तशब्द प्रकृतिक समर्थं सुबन्त से भी भव-अर्थ में छ प्रत्यय होता है । ३—तत्तद्शब्दप्रकृतिकपञ्चम्यन्त समर्थं सुबन्त से आगत अर्थ में अणादि एवं घादि प्रत्यय होते हैं । ४—आय (आमदनी) स्थानवाचक शब्दप्रकृतिकसमर्थं सुबन्त से आगत-अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ५—विद्यासम्बन्धवाचक तथा योनिस्म्बन्धवाचक-शब्दप्रकृतिक पञ्चम्यन्त-समर्थं सुबन्त से आगत अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । ६—हेतुवाची एवं मनुष्यवाची शब्द-प्रकृतिकपञ्चम्यन्त समर्थं सुबन्त से आगत-अर्थ में रूप्य प्रत्यय होता है । ७—पूर्व (४।३।८१) सूत्रोक्त अर्थ में मयट् प्रत्यय भी होता है । ८—पञ्चम्यन्तसमर्थं सुबन्त से 'प्रभवति' अर्थ में अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं । ९—द्वितीयान्तसमर्थं सुबन्त से 'गच्छति' अर्थ में अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं, किन्तु वह (जानेवाला) यदि पन्था (मार्ग, रास्ता) या दूत हो तब । १०—यदि द्वार वाच्य हो तो द्वितीयान्त समर्थं सुबन्त से 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४ । ३ । ८७ ॥ १ शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ।

२ सोऽस्य निवासः ४ । ३ । ८९ ॥ स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रुघ्नः ।

३ तेन प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ ॥ पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।

४ तस्येदम् ४ । ३ । १२० ॥ उपगोरिदम् औपगवम् ।

इति शैषिकाः ॥ ५ ॥

५०६५

अथ विकारार्थप्रकरणम्

१ तस्य विकारः ४ । ३ । १३४ ॥ १ अश्मनो विकारो टिलोपो वक्तव्यः । अश्मनो विकारः आश्मः । भास्मनः । मार्त्तिकः ।

२ अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४ । ३ । १३५ ॥ चाद्विकारे । मयूर-स्याऽवयवो विकारो वा मायूरः । मौर्व काण्डं भस्म वा । पैपलम् ।

३ मयङ् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४ । ३ । १४३ ॥ प्रकृति-मात्रान्मयङ् वा स्यात् विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्ये-त्यादि किम् ? मौद्गः सूपः । कार्पासम् आच्छादनम् ।

स्युः, यन्निष्क्रामति तद् द्वारञ्चत् इति । अधिकृत्य—इति । द्वितीयान्तात् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च भवन्ति । तेन प्रोक्तम्—तृतीयान्तात्प्रोक्तमित्यर्थे-ऽणादयः स्युः । पाणिनीयम्—अत्र 'वृद्धाच्छः' इति छः ।

॥ इति शैषिकाः ॥

५०६५

अणादि तथा घादि प्रत्यय होते हैं ।

१—द्वितीयान्तसमर्थ सुबन्त से 'अधिकृत्य कृतः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं, किन्तु जो किया गया हो वह यदि ग्रन्थ हो तब । २—प्रथमान्त सुबन्त समर्थ से 'अस्य निवासः' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ३—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'प्रोक्त' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ४—षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'इदम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

॥ इति शैषिकप्रकरणम् ॥

५०६५

५—षष्ठ्यन्त सुबन्त से 'विकार' अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ६—विकार अर्थ में अश्मन् शब्द की टि का लोप होता है । ७—प्राणिवाचक तथा औषधिवाचक शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से अवयव एवं (चकारात्) विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । ८—भक्ष्य और आच्छादन अर्थ को छोड़कर विकार एवं अवयव अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से मयट् प्रत्यय विकल्प से होता है ।

^१नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४ । ३ । १४४ ॥ आन्नमयम् । शरमयम् ।

^२गोश्च पुरीषे ४ । ३ । १४५ ॥ गोः पुरीषं गोमयम् ।

^३गोपयस्योर्यत् ४ । ३ । १६० ॥ गव्यम् । पयस्यम् ।

❁ इति विकारायंकाः ❁ (इति प्राग्दीव्यतीयाः) ॥ ६ ॥

❁ ० ❁

अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्टक् ४ । ४ । १ ॥ ^१तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते ।

^२तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४ । ४ । २ ॥ अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितो वा आक्षिकः ।

^३संस्कृतम् ४ । ४ । ३ ॥ दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् ।

^४तरति ४ । ४ । ५ ॥ तेनेत्येव । उडुपेन तरति औडुपिकः ।

चरति ४ । ४ । ८ ॥ ^५तृतीयान्ताद् गच्छति-भक्षयतीत्यर्थयोष्टक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । दध्ना चरति दाधिकः ।

^६संसृष्टे ४ । ४ । २२ ॥ दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

तेन दाव्यतीति—तृतीयान्तसमर्थात् 'दीव्यति खनति-जयति जितम्' इत्येतेष्वर्थेषु ठक् स्यात् । संस्कृतम्—तृतीयान्तसमर्थात् संस्कृतमित्यर्थे ठक् स्यात् । मारीचिकम् मरीचेन संस्कृतमित्यर्थे 'संस्कृतम्' इत्यनेन ठकि ककारलोपे, ठस्येकादेशेऽनुबन्धलोपे मत्वादलोपे किति चेत्यनेनाद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकत्वात्सौ विभक्तिकार्यं च कृते तत् सिद्धिः । संसृष्टे—तृतीयान्तसमर्थात् संसृष्टमित्यर्थे ठक् ।

१--विकार तथा अवयव अर्थ में वृद्ध-संज्ञक तथा शरादिगण पठित शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से नित्य ही मयट् प्रत्यय होता है । २--गो-शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से पुरीष (मल) अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है । ३--गो शब्द तथा पयस्-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

॥ इति प्राग्दीव्यतीयाः ॥

❁ ० ❁

४--'तद्वहतिरथयुग-प्रासङ्गम्' सूत्र से पूर्व तक इस सूत्र का अधिकार जाता है । ५--तृतीयान्तसमर्थ सुबन्त से दीव्यति, खनति, जयति तथा जितम् इन चारों अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । ६--तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'संस्कृत' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ७--तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'तरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ८--तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से गच्छति तथा भक्षयति अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । ९--तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से संसृष्ट (मिश्रित, मिलाया हुआ) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

^१उञ्छति ४।४।३२ ॥ बदराण्युञ्छति बादरिकः ।

^२रक्षति ४।४।३३ ॥ समाजं रक्षति सामाजिकः ।

^३शब्ददुर्बुरं करोति ४।४।३४ ॥ शब्दं करोति शाब्दिकः । दुर्बुरं करोति दार्दुरिकः ।

^४धर्मं चरति ४।४।४१ ॥ धार्मिकः । *^५अधर्मान्चेति वक्तव्यम् । अधार्मिकः ।

^६शिल्पम् ४।४।५५ ॥ मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दिङ्गकः ।

^७प्रहरणम् ४।४।५७ ॥ तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य आसिकः । धानुष्कः ।

^८शीलम् ४।४।६१ ॥ अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः ।

^९निकटे वसति ४।४।७३ ॥ नैकटिको भिक्षुकः ।

॥ इति ठगधिकारः ॥ ७ ॥

०

उञ्छति—अत्र तत्प्रत्यनुपूर्वादित्यतस्तत्पदमनुवर्तते । तेन 'द्वितीयान्तसमर्थात् उञ्छति' इत्यर्थे ठक् स्यात् इत्यर्थः । रक्षति—द्वितीयान्तसमर्थाद् 'रक्षति' इत्यर्थे ठक् । शब्ददुर्बुरशब्दाद् द्वितीयान्तसमर्थात् 'करोति' इत्यर्थे ठक् । धर्मं चरति—द्वितीयान्तसमर्थाद् धर्मशब्दाच्चरति 'अनुतिष्ठति' इत्यर्थे ठक् स्यात् । शिल्पम्—अत्र तदस्य पण्यमित्यतस्तदस्येत्यस्य सम्बन्धो ज्ञेयः । तेन—प्रथमान्तसमर्थात् शिल्पमित्यर्थे ठक् । एवं प्रहरण—शिल्पयोरपि । निकटे वसति—अत्र तत्र नियुक्त इत्यतस्तत्रेत्यधिक्रियते, तेन—सप्तम्यन्तसमर्थान्निकटशब्दाद् वसतीत्यर्थे ठक् स्यात् ।

॥ इति ठगधिकारः ॥

१—द्वितीयान्त समर्थं सुबन्त से 'उञ्छति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । २—द्वितीयान्त समर्थं सुबन्त से 'रक्षति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ३—शब्द और दुर्बुर—शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थं सुबन्त से 'करोति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ४—धर्मप्रकृतिक द्वितीयान्त से 'चरति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ५—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्त से 'चरति' अर्थ में ठक् होता है । ६—प्रथमान्त समर्थं सुबन्त से 'अस्य शिल्पम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ७—प्रथमान्त समर्थं सुबन्त से 'अस्य प्रहरणम्' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ८—प्रथमान्त समर्थं सुबन्त से 'शीलमस्य' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । ९—निकटशब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थं सुबन्त से 'वसति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

॥ इति ठगधिकारः ॥

०

अथ प्राग्घतीयप्रकरणम्

प्राग्घताद्यत् ४।४।७५ ॥ १तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

२तद्वहति रथयुगप्रासङ्गन् ४।४।७६ ॥ रथं वहति रथ्यः । युग्यः ।

प्रासङ्ग्यः ।

३धुरो यद्ढकौ ४।४।७७ ॥ हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

४न भकुर्छुराम् ८।२।७९ ॥ भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया इको दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौर्यः ।

५नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतानुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्याऽऽनाम्यसमसमितसंमितेषु ४।४।९२ ॥ नावा तार्यं नाव्यं = जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं तुल्यम् ।

६तत्र साधुः ४।४।९८ ॥ अग्रे साधुः अग्र्यः । सामसु साधुः सामन्यः । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।

७सभाया यः ४।४।१०५ ॥ सभ्यः । ऋइति यतोऽवधिः ।

॥ इति प्राग्घतीयाः ॥

तद्वहतीति—द्वितीयान्तसमर्थेभ्यो रथयुगप्रासङ्गशब्देभ्यो 'वहति' इत्यर्थे यत् स्यात् । युग्यः—युगं वहतीति विग्रहे द्वितीयान्तयुगशब्दाद्यकिं तद्वहतिरथयुगेति सूत्रेण यत् प्रत्यये तकारलोपे, प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि मत्वाद्यच्च भिमिति गकारोत्तरवत्यंकारस्य लोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । धुरं वहति इति धुर्यः । नोदय इति—नावादिभ्योऽष्टम्यस्तार्यादिष्वर्थेषु यत् । तत्र साधुः—सप्तम्यन्तसमर्थात् 'साधुः' इत्यर्थे यत् । कर्मणि साधुः 'कर्मण्यः' इत्यादि । सभाया यः—सप्तम्यन्तसमर्थात् समाशब्दात्साधुः इत्यर्थे यः स्यात् ॥ इति प्राग्घतीयाः ॥

१—'तस्मै हितम्' सूत्र से पूर्वतक 'यत्' प्रत्यय का अधिकार होता है । २—रथ, युग, या प्रामङ्ग-शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'वहति' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ३—धुर-शब्दप्रकृतिक द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'वहति' अर्थ में यत् एवं ढक् प्रत्यय होता है । ४—भसंज्ञक को तथा कुर या छुर की उपधाभूत इक् को दीर्घ नहीं होता है । ५—नौ, वयस् आदि (सूत्रोक्त) तत्तत्-शब्दप्रकृतिक तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से तार्य, तुल्य-आदि (सूत्रोक्त) अर्थों में यत् प्रत्यय होता है । ६—सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से 'साधु' (कुशल चतुर) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ७—सभा शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ इति प्राग्घतीयप्रकरणम् ॥

अथ छयतोरधिकारप्रकरणम्

१ प्राक् क्रीताच्छः ५ । १ । १ ॥ तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।

२ उगवादिभ्यो यत् ५ । १ । २ ॥ प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्यापवादः । शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु । गव्यम् ।

३ नाभि नभं च । नभ्योऽञ्जनम् ।

४ तस्मै हितम् ५ । १ । ५ ॥ वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ।

५ शरीरावयवाद्यत् ५ । १ । ६ ॥ दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।

६ आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्त्वः ५ । १ । ९ ॥

आत्माध्वानौ खे ६ । ४ । १६९ ॥ एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम् आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।

॥ इति छयतोः पूर्णोऽवधिः (इति प्राक्क्रीतीयः) ॥ १ ॥

अथ ठञधिकारप्रकरणम्

१ प्राग्बतेष्ठम् ५ । १ । १८ ॥ तेन तुल्यमिति वर्ति वक्ष्यति ततः प्राक् ठञधिक्रियते ।

शङ्कव्यम्—शङ्कवे हितमिति विग्रहे 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति, तकारलोपे मसंज्ञायां 'ओर्गुणः' इति गुणे, वान्तो यि-इति वान्तादेशे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्ति-कार्ये च कृते 'शङ्कव्यम्' इति ।

तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसमर्थात् 'हितम्' इत्यर्थे छः (उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च तु यत्) इति । शरीरावयवेति—चतुर्थ्यन्तसमर्थात् शरीरावयवात् 'हितम्' इत्यर्थे यत् प्रत्ययः । वत्सेभ्यो हितम् दन्त्यम् इत्यादि । आत्मनेति—चतुर्थीसमर्थात् आत्मन् विश्वजनभोगोत्तरपदात् 'हितम्' इत्यर्थे खः स्यात् ॥ इति छयतोरधिकारप्रकरणम् ॥

१—'तेन क्रीतम्' सूत्र से पूर्व तक छ प्रत्यय का अधिकार है । २—तेन क्रीतम् से पूर्व उवर्णान्त या गवादिगणपठित जो शब्द, तत्प्रकृतिक चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'हित' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । ३—नाभि शब्द को नभ आदेश भी होता है । ४—चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से हित अर्थ में छ प्रत्यय होता है । ५—शरीरावयववाचक शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्तसे हित अर्थ में य प्रत्यय होता है । ६—आत्मन्, विश्वजन या भोग शब्द उत्तरपद हो जिसका ऐसे प्रातिपदिक प्रकृतिक चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त से हित अर्थ में ख प्रत्यय होता है । ७—ख प्रत्यय पर हो तो आत्मन् तथा अध्वन् शब्द प्रकृति से ही रहते हैं (अर्थात् टि का लोप आदि नहीं होता) ॥ इति छयतोरधिकारप्रकरणम् ॥

८—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से पूर्व तक ठञ् प्रत्यय का अधिकार है ।

१तेन क्रीतम् ५ । १ । १७ ॥ सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ।

२सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणौ ५ । १ । ४१ ॥ ३तस्येश्वरः ५ । १ । ४२ ॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणौ स्तः । ४ अनुशतिकादीनां च । सर्वभूमेरीश्वरः
सार्वभौमः । पार्थिवः ।

५पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ५ ।
१ । ५९ ॥ एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

६तदर्हति ५ । १ । ६३ ॥ लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीयान्ताट्टादयः
स्युः । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वेतच्छत्रिकः ।

७दण्डादिभ्यो यत् ५ । १ । ६६ ॥ एभ्यो यत्स्यात् । दण्डयः । अर्घ्यः ।
वध्यः ।

८तेन निर्वृत्तम् ५ । १ । ७९ ॥ अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् ।

॥ इति ठगोऽवधिः (इति प्राग्बतीयाः) ॥ १० ॥

तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसमर्थात् 'क्रीतम्' इत्यर्थे ठञ् स्यात् । प्रस्थेन प्रस्थ-
परिमाणेन धान्येन क्रीतं प्रास्थिकम् । सर्वभूमि तथा तस्येश्वरः—इति सूत्रयोरर्थः—
षष्ठयन्ताभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां 'ईश्वरः' इत्यर्थेऽणौ स्तः । पङ्क्ति
शब्दोऽनेकार्थः, छन्दोभेदक्रमसन्निवेशे दशसंख्यायाश्चेत्यादि । अत्र पञ्चन् शब्दस्य
टिलोपः, तिप्रत्ययः, चोः कुरिति कुत्वम् । द्वा दश तौ परिमाणमस्येति विग्रहे
विंशतिः, अत्र प्रकृतेर्विनादेशश्चतिप्रत्ययोऽपदत्वञ्च निपात्यते । नस्यानुस्वारः । एव-
मग्रेऽपि । इदमत्र ध्येयम् (विंशत्याद्याः सदैकत्वे) विंशत्याद्याः संख्यायां संख्येये
चैकवचनान्ताः । विंशतिर्गविः गवां विंशतिरित्यादि । दण्डादिभ्यो यत्—द्वितीयान्तसम-
र्थेभ्यो दण्डादिभ्यो 'अर्हति' इत्यर्थे यत् । आह्निकमित्यत्राल्लोपोऽनः इत्यकारलोपः ।

॥ इति ठजधिकारप्रकरणम् ॥

१—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से क्रीत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । २—सर्वभूमि तथा
पृथिवीशब्दप्रकृतिक षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से अण्, अञ् प्रत्यय होते हैं । ३—षष्ठयन्त—समर्थ
सुबन्त से ईश्वर अर्थ में अण्, अञ् प्रत्यय होते हैं । ४—अनुशतिकादिगणपठित शब्दों
को उभयपदवृद्धि होती है । ५—पङ्क्ति, विंशति आदि (सूत्रोक्त) शब्द निपातन से सिद्ध
होते हैं । ६—द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त से 'लब्धुं योग्यो भवति' इस अर्थ में ठञ् आदि प्रत्यय
होते हैं । ६—दण्डादि-गणपठित शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से यत् प्रत्यय होता है । ८—
कालवाचकतृतीयान्त समर्थ सुबन्त से निवृत्त 'सिद्ध, तैयार' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

॥ इति ठजधिकारः ॥

अथ त्वतलाधिकारप्रकरणम्

१तेन तुल्यं क्रिया चेद्वृत्तिः ५ । १ । ११५ ॥ ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मण-
वदधीते । क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

२तत्र तस्येव ५ । १ । ११६ ॥ मथुरायामिव मथुरावत् सुध्ने प्राकारः ।
चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।

३तस्य भावस्त्वतलौ ५ । १ । ११७ ॥ प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ।
गोभावो गोत्वम्, गोता । ४त्वान्तं क्लीबम् ।

५आ च त्वात् ५ । १ । १२० ॥ 'ब्राह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक् त्वतलावधि-
क्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समा-
वेशार्थः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पौंसनम् । पुंस्त्वम् । पुंस्ता ।

६पृथादिभ्य इमनिज्वा ५ । १ । १२२ ॥ वा वचनमणादिसमावेशार्थम् ।

७र ऋतो हलादेर्लघोः ६ । ४ । १६१ ॥ हलादेर्लघोः ऋकारस्य रः
स्यादिष्टेभ्यस्सु परतः । ८पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् ।

९टेः ६ । ४ । १५५ ॥ भस्य टेलोपः स्यादिष्टेभ्यस्सु । पृथोर्भावः
प्रथिमा ।

अपवादैः सहेत्यादि—प्रयम्भावः । भावार्थप्रत्ययप्रकरणेऽग्रे इमनिजादयः प्रत्ययाः
विधीयन्ते, ते च त्वतलोर्बाधका न भवेयुरित्यधिकारसूत्रम् । 'स्त्रीपुंसाभ्याम्-' इति
सूत्रविहिताभ्यां नञ्स्नञ्भ्यां सह त्वतलोः प्रयोगसमावेशार्थश्चकारः । स्त्रैणम्-
स्त्रियो भाव इति विग्रहे तस्य भावस्त्वतलौ इति प्राप्नो त्वतलौ प्रबाध्य 'स्त्री-
पुंसाभ्यां नञ्स्नञौ-' इति नञि अकारलोपे, षादिवृद्धौ, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्ति-
कार्ये च कृते 'स्त्रैणम्' इति । प्रथिमा—पृथोर्भाव इति विग्रहे पृथु अस् इत्यस्मात्

१—तृतीयान्त समर्थ सुबन्त से 'तुल्य' अर्थ में वृत्ति प्रत्यय होता है, किन्तु जिससे तुल्य
हो वह यदि क्रिया हो तब । २—सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से इव अर्थ में वृत्ति
प्रत्यय होता है । ३—षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भाव अर्थ में त्व तथा तल् प्रत्यय होते
हैं । ४—त्व प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग होता है (तथा तल् प्रत्ययान्त स्त्री लिङ्ग होता है) ।
५—'ब्राह्मणस्त्वः' सूत्र के पूर्व तक त्व-तल् प्रत्यय का अधिकार जाता है । ६—पृथादिगण
पठित षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है । ७—
इष्टन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो हलादि लघु ऋकार को र भाव होता है ।
८—पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ, परिवृढ-शब्दों के ही लघु ऋकार को र-भाव होता है ।
९—इष्टन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो असञ्ज्ञक टि का लोप होता है ।

१ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५ । १ । १३१ ॥ इगन्ताल्लघुपूर्वात् प्रातिपदिकाद्भावेऽण् प्रत्ययः । पार्थवम् । अदिमा । मार्दवम् ।

२ वर्णदृढादिभ्यः घ्यञ् च ५ । १ । १२३ ॥ चादिमनिच् । शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । दार्ढ्यम् । द्रढिमा ।

३ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५ । १ । १२४ ॥ चाद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ।

४ सख्युर्ध्वः ५ । १ । ११६ ॥ सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।

५ कपिज्ञात्योर्ढक् ५ । १ । १२७ ॥ कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

६ पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५ । १ । १२८ ॥ सेनापत्यम् पौरोहित्यम् ।
॥ इति त्वतलोरधिकारः ॥ ११ ॥

पृथ्वादिभ्य इमनिच्चेति विकल्पेनेमनिच्प्रत्यये, प्रातिपदिकत्वाद् विभक्तेर्लुकि, र ऋतो हलादेर्लघोरिति ऋकारस्य रकारादेशे, टेरिति टेलोपे, प्रातिपदिकसंज्ञायां विभक्तिकार्ये च कृते 'प्रथिमा' इति । पक्षे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वाद्' इत्यम् प्रत्यये आदिवृद्धौ यथाप्रासकार्ये च 'पार्थवम्' इति । त्वप्रत्यये 'पृथुत्वम्' इति । तल्-प्रत्यये 'पृथुता' इति । वर्णदृढादिभ्य इति-षष्ठ्यन्तसमर्थेभ्यो वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च 'भावः' इत्यर्थे घ्यञ् प्रत्ययः, चादिमनिच् स्यात् । सख्युर्ध्वः-षष्ठ्यन्तात्सखिशब्दाद् भावकर्मणोरर्थयोर्ढक् स्यात् ।

पत्यन्तेति-षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तशब्देभ्यः पुरोहितादिशब्देभ्यश्च भावकर्मणोरर्थयोर्ढक् स्यात् । सेनापत्यम्-सेनापतेर्भावः कर्म वेति विग्रहे सेनापति अस् इत्यस्मात् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यकि ककारलोपे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि भसंज्ञायां यर्येति चेति तकारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे, कित्वादाद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सुवृत्पत्तौ, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ॥ इति त्वतलोरधिकारः ॥

१-लघु हो पूर्व में जिसके ऐसे इगन्त प्रातिपदिक से भाव-अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । २-वर्णवाचक तथा दृढादिगणपठित शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से घ्यञ् प्रत्यय होता है, चकारात् इमनिच् प्रत्यय भी होता है । ३-गुणवाचक शब्द तथा ब्राह्मणादिगणपठित शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से कर्म तथा भाव अर्थ में भी घ्यञ् प्रत्यय होता है । ४-सखिशब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से कर्म एवं भाव अर्थ में य प्रत्यय होता है । ५-कपि तथा ज्ञाति शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से भाव तथा कर्म अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । ६-पति शब्द हो अन्त में जिसके ऐसे शब्द तथा पुरोहितादि गणपठित शब्द-प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से भाव तथा कर्म अर्थ में यक् प्रत्यय होता है ॥ इति त्वतलोरधिकारः ॥

अथ भवनाद्यर्थकप्रकरणम्

१ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५ । २ । १ ॥ भवत्यस्मिन्निति भवनम् ।
मुद्गानां क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

२ व्रीहिशाल्योर्ढक् ५ । २ । २ ॥ व्रीहियम् । शालेयम् ।

३ हैयङ्गवीनं संजायाम् ५ । २ । २३ ॥ ४ ह्योगोदोहशब्दस्य ह्यिङ्गुरा-
देशो विकारार्थे खञ्च निपात्यते । दुह्यते इति दोहः क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य
विकारः हैयङ्गवीनं नवनीतम् ।

५ तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५ । २ । ३६ ॥ तारकाः सञ्जाता
अस्य तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ।

६ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नन्मात्रचः ५ । २ । २७ ॥ तदस्येत्यनुवर्तते । ऊरु
प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदघ्नम् । ऊरुमात्रम् ।

७ यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५ । २ । ३९ ॥ यत्परिमाणमस्य यावान् ।
तावान् । एत्रावान् ।

८ किमिदिभ्यः वो घः ५ । २ । ४० ॥ आभ्यां वतुप् स्याद्वकारस्य घञ्च ।

धान्यानामिति—षष्ठ्यन्ताद् धान्यवाचिशब्दाद् 'भवनम्-क्षेत्रम्' इत्यर्थे खञ्
स्यात् । व्रीहि०-षष्ठ्यन्तसमर्थव्रीहिशालिशब्दाभ्यां भवनम्-क्षेत्रम् इत्यर्थे ढक् स्यात् ।
तदस्य संजातमिति—प्रथमान्तेभ्यः संजातोपाधिकेभ्यः तारकादिशब्देभ्योऽस्येत्यर्थे
'इतच्' स्यात् । सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा । पण्डा संजाताऽस्येति पण्डितः । एवं
लज्जितः, पुष्पितः, तृषितः, पुलकितः, फलितः—इत्यादि । प्रमाणे इति—प्रमाणे
वर्तमानात्प्रथमान्तादस्तीति निर्दिष्टे प्रमेयेऽर्थे द्वयसज्-दघ्नन्-मात्रच् प्रत्ययाः स्युः ।

१-धान्यवाचक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'भवन क्षेत्र' 'होने योग्य खेत' अर्थ में खञ् प्रत्यय
होता है । २-व्रीहि तथा शालि शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से 'भवन क्षेत्र' अर्थ
में ढक् प्रत्यय होता है । ३-संज्ञा में 'हैयङ्गवीन' शब्द साधु होता है अर्थात् ह्योगोदोह
शब्द को 'हैयङ्गु' आदेश होता है और विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय भी होता है । ख को
ईन हो जाता है और अित्वादादि अच् को वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार 'हैयङ्गवीनम्' रूप
की सिद्धि होती है । ४-तारकादिगणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्य
सञ्जातम्' अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है । ५-प्रथमान्तसमर्थ सुबन्त से 'अस्य प्रमाणम्' अर्थ
में द्वयसज्, दघ्नन्, मात्रच् प्रत्यय होते हैं । ६-यत्, तत् या एतत् शब्दप्रकृतिक
समर्थ सुबन्त से अस्य परिमाणम् अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है । ७-किम् और इदम्
शब्द से वतुप् प्रत्यय होता है और व को घ होता है ।

१ इदं किमोरीशकी ६ । ३ । ९० ॥ दृग्दृशवतुषु इदम् ईश् किम् की स्यात् । इयान् । कियान् । [ईदृक्, ईदृशः । कीदृक्, कीदृशः—आदि] ।

२ संख्याया अवयवे तयप् ५ । २ । ४२ ॥ पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम् ।

३ द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा ५ । २ । ४३ ॥ द्वयम् । द्वितयम् । त्रयम् । त्रितयम् ।

४ उभादुदात्तो नित्यम् ५ । २ । ४४ ॥ उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्स चोदात्तः । उभयम् ।

५ तस्य पूरणे डट् ५ । २ । ४८ ॥ एकादशानां पूरण एकादशः ।

६ नान्तासंख्यादेर्मट् ५ । २ । ४९ ॥ ६ डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तात्किम् ?

७ ति विशतेर्डिति ६ । ४ । १४२ ॥ विशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे । विशः । असंख्यादेः किम् ? एकादशः ।

आद्यौ द्वौ 'ऊर्ध्वमाने', अन्तिमः परिच्छेदकमात्रे इति विशेषः । इयान्-इदम्-रिमाण-मस्येति विग्रहे निमिदम्भ्यामिति वतुपि, वस्य घत्वे च कृते, आयनेयीति घस्येयादेशे, प्रातिपदिकत्वेन सौ, उगिदचामिति नुमागमेऽनुबन्धलोपे, इदं किमोरिति ईशादेशे, शलोपे, भत्वेन यस्येति चेतीकारलोपे, उपधादीर्घे, तकारस्य संयोगान्तलोपे इयान् सु इति स्थिते, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'इयान्' इति । संख्यायाः इति । अवयवे वर्तमाना-त्संख्यावाचकात्प्रथमान्तादत्रयविरूपेऽर्थे तयप् । तस्य पूरणे डट्-संख्येयार्थवाचि-संख्यावाचकात् प्रथमान्तात्पूरणेऽर्थे डट् स्यात् । विशः—'विशतेः पूरणः' इति विग्रहे 'तस्य पूरणे' इति डटि, 'ति विशतेः—' इति लोपविधानसामर्थ्येन तिमात्रस्य लोपे 'विश अ' इति स्थिते 'असिद्धवदत्रामात्' इति तिलोपस्यासिद्धत्वाद् यस्येति चेति लोपाप्रवृत्तौ, 'अतो गुणे' इत्यकारयोः पररूपे, प्रातिपदिकत्वेन सु-आदि-विभ-क्तिकार्ये कृते 'विशः' इति ।

१—दृग्, दृश, या वतु पर हो तो इदम् को 'ईश्' तथा किम् को 'की' आदेश होता है । २—संख्यावाचक शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अवयवाः अस्य' इस अर्थ में तयप् प्रत्यय होता है । ३—द्वि या त्रि शब्द से विहित जो तयप् प्रत्यय उसको विकल्प से अयच् आदेश होता है । ४—उभयशब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से विहित तयप् को अयच् आदेश होता है, और वह उदात्त संशक होता है । ५—पष्ठयन्त समर्थ सुबन्त से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है । ६—जिसके आदि 'पूर्व' में कोई 'अन्य' संख्या नहीं हो ऐसे नकारान्त संख्यावाची शब्द से परे जो डट् उसको मट् का आगम होता है । ७—डिट् परे रहते भसंज्ञक विशति शब्द के ति का लोप होता है ।

१ षट्क कतिपयचतुरां शुक् ५ । २ । ५१ ॥ एषां थुगागमः स्माडुटि ।
पण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्याऽऽस्त्व्यात्वेऽप्यत एव
ज्ञापकाडुट् । कतिपयथः । चतुर्थः ।

२ द्वेस्तीयः ५ । २ । ५४ ॥ डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः ।

३ त्रैः सम्प्रसारणं च ५ । २ । ५५ ॥ तृतीयः ।

४ श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ५ । २ । ८४ ॥ श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेः-छान्दसः ।

५ पूर्वादिनिः ५ । २ । ८६ ॥ पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

६ सपूर्वाच्च ५ । २ । ८७ ॥ कृतपूर्वी ।

७ इष्टादिभ्यश्च ५ । २ । ८८ ॥ इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥ ११ ॥

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

८ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५ । २ । ९४ ॥ गावोऽस्याऽस्मिन्वा सन्ति
गोमान् ।

कतिपयेति—अयम्भावः—षट्कतिपयेति डटस्थुगागमः क्रियते । तथा डट् च संख्या-
वाचकशब्दादेव भवति । कतिपयशब्दस्तु न संख्यावाचक इति कुतः प्रवृत्तिरित्यत
ग्राह-कतिपयेत्यादि । एवञ्च ज्ञापकादेव डटि तस्य थुगागमे च कृते 'कतिपयथः' इति ।

कृतपूर्वा—अविवक्षितकर्मकात्कृधातोर्भवि क्त प्रत्यये पूर्वं कृतमनेनेति विग्रहे,
सह सुपेति समासोत्तरं सपूर्वाच्चेतीनिप्रत्यये, यथाप्रासकार्यं च कृते तत्सिद्धिः । एवं
कथितपूर्वी, श्रुतपूर्वी इत्यादयः ।

तदस्यास्त्यास्मिन्निति—सत्ताक्रियाकर्तृभूतात्प्रथमान्तात्समर्थार्थं 'अस्यास्मिन्वा'
इत्यर्थं मतुप् स्यात् ।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

१—षट्, कति, कतिपय और चतुर् शब्द को शुक् का आगम होता है डट् परे हो तो ।

२—द्वि-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है । ३—
त्रि-शब्द-प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और त्रि को
सम्प्रसारण भी होता है । ४—'छन्दोऽधीते' 'वेद पढ़ता है' अर्थ में 'श्रोत्रिय' निपातन होता
है । ५—पूर्व शब्द प्रकृतिक द्वितीयान्त क्रियाविशेषण से 'इनि' प्रत्यय होता है । ६—
सपूर्व 'पूर्व में कोई शब्द हो ऐसा' जो पूर्व शब्द उससे भी इनि प्रत्यय होता है । ७—इष्टादि-
शब्दप्रकृतिक समर्थ सुबन्त से 'इनि' प्रत्यय होता है ॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

८—प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'अस्यास्ति' तथा 'अस्मिन्नस्ति' अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है ।

१तसौ मत्वर्थे १।४।१९ ॥ तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे । गरुत्मान् । वसोः सम्प्रसारणम् । विदुष्मान् । ॐ^३गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ठः । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पठः । कृष्णः ।

२प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६ ॥ चूडालः । चूडावान् । प्राणिस्थात्किम् ? शिखावान् दीपः । प्राण्यङ्गादेव । नेह—मेधावान् ।

३लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१०० ॥ लोमादिभ्यः शः । लोमशः । लोमवान् । रोमशः । रोमवान् । पामादिभ्यो नः । पामनः ।

४अङ्गात्कल्याणे । अङ्गना । ५लक्ष्म्या अच्च । लक्ष्मणः । पिच्छादिभ्य इलच् । पिच्छलः । पिच्छवान् । उरसिलः । उरस्वान् ।

६दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६ ॥ उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः ।

७केशाद्द्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९ ॥ केशवः । केशी । केशिकः । केशवान् । ८अन्येभ्योऽपि दृश्यते । मणिवः । ९अर्णसो लोपश्च । अर्णवः ।

१०अत इनिठनौ ५।२।११५ ॥ दण्डी । दण्डिकः ।

११व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६ ॥ व्रीही । वीहिकः ।

प्राणिस्येति—सत्ताक्रियाकर्मभूतादाकारान्तात्प्राण्यङ्गाचकाल्लज्वा स्यात् । लक्ष्मणः—लक्ष्मीशब्दस्याकारादेशो 'न' प्रत्ययश्च । मत्वर्थे लक्ष्मीवान् । दन्त उन्नत उरच्—उन्नतोपाधिकात्प्रथमान्तादन्तशब्दान्मतुवर्थे उरच् स्यात् । अर्णसो—अर्णःशब्दाद् 'व' प्रत्ययः सस्य लोपश्च मत्वर्थे । अर्णासि जलानि सन्त्यस्मिन्नित्यणवः ।

१—मत्वर्थं प्रत्यय पर हो तो तान्त सान्त की भसंज्ञा होती है । २—गुणवाचक शब्द से विहित मतुप् प्रत्यय का लुक् 'लोप' हो जाता है । ३—प्राणिस्थ आकारान्त शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त से 'अस्यास्ति' अर्थ में लृच् प्रत्यय विकल्प से होता है । ४—लोमादिगणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'श' प्रत्यय तथा पामादि से 'न' प्रत्यय एवं पिच्छादि से इलच् प्रत्यय होते हैं । ५—अङ्ग शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होता है । ६—लक्ष्मी शब्द को अकार अन्तादेश तथा चकारात् 'न' प्रत्यय भी होता है । ७—दन्त शब्द प्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से उन्नत अर्थ में उरच् प्रत्यय होता है । ८—केशशब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'व' प्रत्यय विकल्प से होता है । ९—अन्य शब्दों से भी 'व' प्रत्यय होता है । १०—अर्णस् शब्द से 'व' प्रत्यय होता है और अन्त्य अल् का लोप भी होता है । ११—अदन्त शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से इनि तथा ठन् प्रत्यय होता है । १२—व्रीह्यादि गणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से इनि और ठन् प्रत्यय होता है ।

^१अस्मायामेधास्रजो विनिः ५ । २ । १३१ ॥ यशस्वी । यशस्वान् ।
मायावी । मेधावी । स्रज्वी ।

^२वाचो ग्मिनिः ५ । २ । १२४ ॥ वाग्मी ।

^३अर्शादिभ्योऽच् ५ । २ । १२७ ॥ अर्शास्यस्य विद्यन्ते अर्शासः ।
आकृतिगणोऽयम् ।

^४अहंशुभमोर्युस् ५ । २ । १४० ॥ अहंयुः अहङ्कारवान् । शुभंयुस्तु
शुभान्वितः । ॥ इति मत्वर्थीयाः ॥ १२ ॥

अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

^५प्राग्दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ ॥ 'दिक्शब्देभ्यः' इत्यतः प्राग्वक्ष्य-
माणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः ।

^६किसर्वनामबहुभ्योऽद्वादिभ्यः ५ । ३ । २ ॥ किमः सर्वनाम्नो बहु-
शब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

^७पञ्चम्यास्तसिल् ५ । ३ । ७ ॥ पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल्वा स्यात् ।

^८कु तिहोः ७ । २ । १०४ ॥ किमः कुः स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ
परतः । कुतः । कस्मात् ।

वाच इति—वाचो ग्मिनिः स्यान्मत्वर्थे । इकारो नकाररक्षार्थः । चकारस्य
कृत्वे जडत्वे च कृते "वाग्मी" इति । एतस्य सर्वप्रयोगे द्वयोरङ्कारयोः श्रवणं
भवतीति । द्वित्वे कृते तु त्रयाणामिति विशेषः (अत्र मतभेदश्च वर्तते विस्तरभयान्न
प्रकाशयते) । कुतः—कस्मादिति विग्रहे 'किम् ङसि' इति दशायां 'पञ्चम्यास्तसिल्'
इति तसिल्प्रत्यये, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो घातुरिति सुपो लुकि, 'कु
तिहोः' इति किमः क्रुमावे कृते, स्वरादौ पाठेन तसिलन्तस्याव्ययत्वेन तद्धितान्ता-
दागतस्य सुपो लुकि, ङसः सकारस्य रुत्वादिकार्ये कृते 'कुतः' इति ।

१—असन्त-शब्द तथा माया, मेधा एवं स्रज-शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त
से 'विनि' प्रत्यय होता है । २—वाच्-शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से 'ग्मिनि'
प्रत्यय होता है । ३—अर्शास्-आदि गणपठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त समर्थ सुबन्त से अच्
प्रत्यय होता है । ४—अहं तथा शुभं-शब्दों से युस् प्रत्यय होता है ॥ इति मत्वर्थीयाः ॥

५—'दिक्शब्देभ्यः' सूत्र से पूर्व आगे कहे जानेवाले प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक होते हैं । ६—
'किसर्वनाम-' इस सूत्र का अधिकार 'दिक्शब्देभ्यः' से पूर्व तक जाता है । ७—द्वयादिभिन्न
किं, सर्वनाम, बहुशब्द प्रकृतिक पञ्चम्यन्त से तसिल् प्रत्यय विकल्प से होता है । ८—तादि या
हादि विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय पर हो तो किम् शब्द को 'कु' आदेश होता है ।

१इदम् इश् ५ । ३ । ३ ॥ प्राग्दिशीये परे । इतः ।

२अन् ५ । ३ । ५ ॥ एतदः प्राग्दिशीये । अनेकाल्त्वात्सवदिशः । अतः ।
अमुतः । यतः । ततः । बहुतः । द्वयादेस्तु द्वाभ्याम् ।

३पर्यभिभ्यां च ५ । ३ । ९ ॥ आभ्यां तसिल् स्यात् । परितः । सर्वत
इत्यर्थः । अभितः । उभयत इत्यर्थः ।

४सप्तम्यास्त्रल् ५ । ३ । १० ॥ कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

५इदमो हः ५ । ३ । ११ ॥ त्रलोऽपवादः । इह ।

६किमोऽत् ५ । ३ । १२ ॥ वा ग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात्किमोऽद्वा
स्यात् । पक्षे त्रल् ।

७क्वासति ७ । २ । १०५ ॥ किमः क्वादेशः स्यादति । क्व । कुत्र ।

८इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५ । ३ । १४ ॥ पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि
तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद्भ्रुवदादियोग एव । स भवान् । ततो
भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं
दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ।

९सर्वैकान्यकि्यत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ ॥ सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थे-
भ्यः स्वार्थे दा स्यात् ।

‘अस्मात्’ इति इतः । अन्-एतदः स्थाने ‘अन्’ इत्यादेशः प्राग्दिशीये परे ।
अतः-अत्र अनो नस्य नलोपः प्रातिपदिकान्तरस्येति लोपः । सप्तम्यास्त्रल्--सप्तम्य-
न्तेभ्यः किमादिभ्यस्त्रल् प्रत्ययः स्यात्स्वार्थे । कस्मिन्निति कुत्र । एवं यस्मिन्,
तस्मिन्, बहुषु इति क्रमेणैतेषु विग्रहः । इह-अस्मिन् देशे इति विग्रहे इदमो ह्
इति ह-प्रत्यये इदम इशादेशे रूपम् । क्व कुत्रेत्युभयत्रापि कस्मिन्निति विग्रहः ।

१-प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो इदम् शब्द को इश् आदेश होता है । २-प्राग्दिशीय
विभक्ति पर हो तो एतत्-शब्द को ‘अन्’ आदेश होता है । ३--परि तथा अभि शब्द से
तसिल् प्रत्यय होता है । ४--द्वयादिभिन्न किं, सर्वनाम, बहु शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त से त्रल्
प्रत्यय होता है । ५--इदम्-शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त समर्थ से ‘ह’ प्रत्यय होता है । ६--
किम्-शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त सुबन्त से ‘अत्’ प्रत्यय विकल्प से होता है । ७--अत् पर हो
तो किम् शब्द को ‘क्व’ आदेश होता है । ८--पञ्चमी एवं सप्तमी से भिन्न विभक्ति अन्त में
हो जिसके उससे (प्रथमान्त, द्वितीयान्त से) भी तसिल्-आदि प्रत्यय होते (देखे जाते)
हैं । ९--सर्व, एक, अन्य, किं, यत्, तत्-शब्द प्रकृतिक कालार्थक सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त
से स्वार्थ में ‘दा’ प्रत्यय होता है ।

^१सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५ । ३ । ६ ॥ दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ।

^२इदमो हिल् ५ । ३ । १६ ॥ 'सप्तम्यन्तात् काले' इत्येव ।

^३एतेतौ रथोः ५ । ३ । ४ ॥ इदमृशब्दस्य एत इत इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले एतर्हि । काले किम् ? इहं देशे ।

^४अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् ५ । ३ । २१ ॥ कर्हि । कदा । रर्हि । यदा । तर्हि । तदा ।

^५एतदः ५ । ३ । ५ ॥ 'एत' 'इत' एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन् काले एतर्हि ।

^६प्रकारवचने थाल् ५ । ३ । २३ ॥ प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यान् स्वार्थे । तेन प्रकारेण तथा । यथा ।

^७इदमस्थमुः ५ । ३ । २४ ॥ थालोऽपवादः । 'एतदोऽपि वाच्यः ॥ अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् ।

^८किमश्च ५ । ३ । २५ ॥ केन प्रकारेण कथम् ।

॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥ १४ ॥

कदा—'कस्मिन् काले' इति विग्रहे 'सर्वैकान्य-०' इति दाप्रत्यये 'प्राग्दिशो-०' इति विभक्ति-संज्ञायां 'किमः कः' इति कादेशे रूपम् । एतर्हि—'अस्मिन् काले' इति विग्रहे 'इदमोहिल्' इति हिल्प्रत्यये लकारस्येत्वे लोपे च कृते सुपो लुकि 'एतेतौ रथोः' इति इदं-शब्दस्य एत आदेशे 'एतर्हि' इति । अनद्यतन इति—अतीतायाः रात्रेः पश्चाद्धैनागामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनकालस्तद्मिन्ने हिल् प्रत्ययः ॥ इति प्राग्दिशीया ॥

१—दादि (दकारःदि) प्राग्दिशीय प्रत्यय पर हों तो सर्व-शब्द को 'स' आदेश हाता है । २—इदम्-शब्दप्रकृतिक सप्तम्यन्त से काल-अर्थ में हिल् प्रत्यय होता है । ३—रेफादि थकारादि प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो इदम्-शब्द को एत, इत आदेश होते हैं । ४—अनद्यतन अर्थ में किमादि से 'हिल्' प्रत्यय विकल्प से होता है । ५—रेफादि या थकारादि प्राग्दिशीय विभक्ति पर हो तो एतत्-शब्द को एत, इत आदेश होते हैं । ६—प्रकारवृत्ति किमादिशब्द-प्रकृतिक सुवन्त से स्वार्थ में 'थाल्' प्रत्यय होता है । ७—इदम् शब्द से स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है । ८—एतत्-शब्द से भी 'थमु' प्रत्यय स्वार्थ में होता है । ९—किम्-शब्द से भी स्वार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है ॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥



अथ प्राग्वीयप्रकरणम्

^१अतिशयने तमविष्टनौ ५ । ३ । ५५ ॥ अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः । लघिष्ठः ।

तिङ्श्च ५ । ३ । ५६ ॥ ^२तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ।

तरप्तमपौ घः १ । १ । २२ ॥ ^३एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

किमेत्तिङ्व्ययघादान्ब्रव्यप्रकर्षे ५ । ४ । ११ ॥ ^४किम् एदन्तात्तिङो-
ऽव्ययाच्च यो घस्तन्तादामुः स्यान्नतु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्लेतमाम् ।
पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः ।

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ ॥ “द्वयोरेकस्याऽति-
शये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः । पूर्वयोरपवादः । अयमनयोरति-
शयेन लघुर्लघुतरः । लघीयान् । उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः । पटीयांसः ।

प्रशस्यस्य श्रः ५ । ३ । ६० ॥ ^५अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः ।

प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३ ॥ ^६इष्टादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेथान् ।

अतिशयेति—बहुषु तुल्यरूपप्रकर्षसम्मवाद्यत्र सवपिक्षया प्रकर्षस्तदभिधायक-
स्तमबादिः । ‘तरप्’ विधायकसूत्रे द्वयोरिति श्रवणाद् बहूनां मध्ये एकस्मिन् प्रकर्ष-
विवक्षायां तमविष्टनौ भवत इत्यर्थः । यथा—‘अयमप्याढ्यः’, ‘अयमेषामाढ्यः’
इत्यर्थे आढ्यतमः । किन्तमाम्—अयमेषामतिशयेन किमिति विग्रहे किं शब्दादति-
शयने तमविष्टनाविति तमपि ‘तरप्तमपौ घः’ इति तस्य घसंज्ञायां ‘किमेत्तिङ-
व्यय-०’ इति ‘आमुप्रत्यये’, तस्मिन्परे मकारोत्तराकारस्य ‘यस्येति च’ इति लोपे
षामोरनुबन्धलोपे स्वरादित्वादव्ययसंज्ञायां विभक्तौलुकि ‘किन्तमाम्’ इति । प्राह्लेत-
माम्—अत्र घकालेति सप्तम्या अलुबोध्यः । लघीयान्—अयमेषामतिशयेन लघुः—
इति विग्रहे ‘द्विवचनविभज्योप-०’ इति ईयसुन्यनुबन्धलोपे, सुपो लुकि, प्रातिपदि-

१—अतिशय (अत्यन्त) विशिष्टार्थवृत्ति शब्दप्रकृतिक सुबन्त से तमप् तथा इष्टन् प्रत्यय होता है । २—अतिशय—अर्थ द्योत्य हो तो तिङन्त से भी तमप् प्रत्यय होता है । ३—तरप् तथा तमप्—प्रत्यय घ-संज्ञक होते हैं । ४—किम्-शब्द से, एदन्त से ‘तिङन्त से या अव्यय से विहित जो ‘घ’, तदन्त से ‘आम्’ प्रत्यय होता है किन्तु द्रव्यप्रकर्ष (द्रव्य की उन्नति या आधिक्य) को छोड़कर । ५—दो (व्यक्तियों वा पदार्थों) में से एक का अतिशय द्योत्य होने पर तथा विभक्तव्य उपपद रहने पर सुबन्त एव तिङन्त से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होता है । ६—अजादि (इष्टन् या ईयसुन्) प्रत्यय पर हो तो प्रशस्य शब्द को ‘श्र’ आदेश होता है । ७—इष्टादि प्रत्यय पर हो तो एकाच् प्रकृति से ही रहता है ।

ज्य च ५ । ३ । ६१ ॥ ^१प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्यादिष्टेयसोः । ज्येष्ठः ।

^२ज्यादादीयसः ६ । ४ । १६० ॥ आदेः परस्य । ज्यायान् ।

बहोर्लोपो भू च बहोः ६ । ३ । १५८ ॥ ^३बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद्वहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ।

इष्टस्य यिट् च ६ । ४ । १५९ ॥ ^४बहोः परस्य इष्टस्य लोपः स्यादिडागमश्च । भूयिष्ठः ।

विन्मतोर्लुक् ५ । ३ । ६५ ॥ ^५विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्टेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वगवान् त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ।

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५ । ३ । ६७ ॥ ^६ईशदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचितिकल्पम् ।

कत्वेन सौ, 'उगिदचाम्' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे 'लघु ईयस्' इति स्थिते, 'टेः' इति घकारोत्तरवर्त्युकारस्य लोपे, 'अत्वसन्त-०' इति नकारस्योपधादीर्घे, सोर्लोपे, सकारस्य च संयोगान्तलोपे सिद्धं रूपम् । श्रेष्ठः—'अतिशयेन प्रशस्यः' इति विग्रहे अतिशयाने तमबिष्ठनाविति इष्टन्यनुबन्धलोपे, 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशे, टेरिति टेलोपे प्राप्ते प्रकृत्यैकाजिति प्रकृतिभावे, गुणे, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य हत्वे विसर्गे च 'श्रेष्ठः' इति । ज्येति—ज्यशब्दात्परस्येयस षात् स्यात् । ज्यायान्—द्वयोर्मध्ये प्रशस्यो ज्यायान् । अत्र प्रशस्यशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे-' इति ईयसुन्यनुबन्धलोपे, 'ज्य च' इति प्रशस्यस्य ज्यादेशे, 'ज्यादादीयसः' इत्यादेरीकारस्यादादेशे, अकः सवर्णे दीर्घे 'ज्यायत्' इति जाते, प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'उगिदचाम्' इति नुम्ययुबन्धलोपे, उपधादीर्घे, हल्ङ्घादिना सोर्लोपे, सस्य संयोगान्तलोपे 'ज्यायान्' इति । भूयिष्ठः—'अतिशयेन बहु' इति विग्रहे 'अतिशयाने तमबिष्ठनी' इत्यनेनेष्टन्यनुबन्धलोपे, 'इष्टस्य यिट्' इत्यनेनेष्टनेकारलोपे यिटि च कृते, यिटो टकारलोपे, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति 'भू' आदेशे, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ, तस्य हत्वे विसर्गे च 'भूयिष्ठः' इति । ईषदसमाप्तौ—

१—इष्ट या ईयसुन् प्रत्यय पर हो तो प्रशस्य को 'ज्य' आदेश भी होता है । २—ज्य से परे ईयसुन् प्रत्यय को आकार आदेश होता है । (आदेः परस्य) से आदि के ही स्थान में होता है । ३—बहु शब्द से परे इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्ययों का लोप होता है और बहु शब्द को 'भू' आदेश भी हो जाता है । ४—बहु-शब्द से परे इष्टन् का लोप, भू-आदेश तथा इष्टन् को यिट् का आगम भी होता है । ५—इष्टन् या ईयसुन् पर हो तो विन् तथा मतुप् प्रत्यय का लोप होता है । ६—ईषदसमाप्ति-अर्थ में कल्प, देश्य तथा देशीयर प्रत्यय होते हैं ।

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् ५ । ३ । ६८ ॥ ^१ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुच्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः । ईषदूनः पटुः बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ।

प्रागिवात्कः ५ । ३ । ७० ॥ ^२इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक्काधिकारः ।

^३अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५ । ३ । ७१ ॥ काऽपवादः । तिङ्श्चेत्यनुवर्तते ।

^४अज्ञाते ५ । ३ । ७३ ॥ कस्यायमश्वः अश्वकः । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वकैः । ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टैः प्रागकच् । युष्मकाभिः । ओकारेत्यादिकिम् ? युवकयोः । त्वयका ।

^५कुत्सिते ५ । ७ । ७४ ॥ कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः ।

^६कियत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५ । ३ । ९२ ॥ अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ।

^७वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५ । ३ । ९३ ॥ जातिपरिप्रश्ने इति प्रत्याख्यातमाकरे । बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात् । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकजर्थम् । यकः । सकः ।

॥ इति प्राग्वीयाः ॥ ५ ॥

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

^८इवे प्रतिकृतौ ५ । ३ । ९६ ॥ कन्स्यात् । अश्वं इव प्रतिकृतिः

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्सुबन्तात्तिङन्ताच्चैते प्रत्ययाः स्युः ।

अज्ञाते—अज्ञातत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्सुबन्तात्कप्रत्ययः स्यात् । कियदित्यादि—द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये निर्धार्यमाणवाचिभ्यः क्रिमादिभ्यो डतरच् प्रत्ययः स्यात् ।

॥ इति प्राग्वीयाः ॥

इवे प्रतिकृतौ—इवार्थे सदृशे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् स्यात् ।

१—ईषदसमाप्ति विशिष्ट अर्थ में सुबन्त से बहुच् प्रत्यय विकल्प से होता है और वह प्रकृति से पूर्व ही होता है किन्तु पर नहीं । २—‘इवे प्रतिकृतौ’ सूत्र से पूर्व तक क-प्रत्यय का अधिकार है । ३—अव्यय तथा सर्वनाम संज्ञक शब्दों को टि से पूर्व ‘अकच्’ प्रत्यय होता है । ४—अज्ञात (अनजान) अर्थ में क-प्रत्यय होता है । ५—कुत्सित ‘निन्दित’ अर्थ में क-प्रत्यय होता है । ६—दो में से किसी एक का निर्धारण ‘निश्चय’ करने अर्थ में किं, यत्, तत्-शब्दों से ‘डतरच्’ प्रत्यय होता है । ७—बहुतों के बीच में एकका निर्धारण करने में किं, यत्, तत्, शब्दों से ‘डतमच्’ प्रत्यय होता है ।

॥ इति प्राग्वीयाः ॥

८—प्रथमान्त से इव अर्थ में कन् प्रत्यय होता है, वह इव ‘सदृश’ यदि प्रतिकृति

अश्वकः । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् । अश्वकः ।

१ तत्प्रकृतवचने मयट् ५ । ४ । २१ ॥ प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनम्, भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये—प्रकृतम् अन्नम् अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये तु—अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व ।

२ प्रज्ञादिभ्यश्च ५ । ४ । ३८ ॥ अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

३ बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । ४२ ॥ बहूनि ददाति बहुशः । अल्पशः । *आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ॥ आदौ—आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृगिणोऽयम् । स्वरेण स्वरतः । वर्णतः ।

कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ५ । ४ । ५० ॥

*अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् ॥ विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ।

४ अस्य च्चौ ७ । ४ । ३२ ॥ अवर्णस्य ईत्स्यात् च्चौ । च्वेलोपे च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः कृष्णः संपद्यते तं करोति कृष्णीकरोति । ब्रह्मी भवति । गङ्गीस्यात् । *अव्ययस्य च्चावीत्वं नेति वाच्यम् ॥ दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः ।

विभाषा साति कात्स्न्ये ५।४।५२ ॥ च्विविषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये ।

‘तत्प्रकृतवचने—’ इति । (अस्य सूत्रस्यार्थद्वयम्)—प्रचुरस्य वचने बाधने सति प्रथमान्तात्समर्थात् मयट् स्यात् । प्राचुर्येण प्रस्तुतान्नादिवचनात्प्रथमान्तात्समर्थादधिकरणे मयट् । बह्वल्पेत्यादि—बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनशब्दात्स्वार्थे शस् स्यात् । ‘कृभ्वस्ति—’ इति । यस्य यो भावी न भूतः स तद्भावं चेत्सम्पद्यते तस्मिन्नभूततद्भावे वर्तमानान् सम्पत्तिक्रियाकर्तृभूतात्प्रातिपदिकात्कृभ्वस्तीनां योगे च्विः स्यात् ।

(प्रतिबिम्बं, पूर्णसमान) हीं तत्र । १—प्रातिपदिक मात्र से स्वार्थ में ‘कन्’ प्रत्यय होता है । २—प्रथमान्त से प्रकृतवचन में मयट् प्रत्यय होता है । ३—प्रज्ञादिगणपठितशब्द-प्रकृतिक प्रथमान्त से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है । ४—बह्वर्थक तथा; अल्पार्थक—कारक से शस् प्रत्यय विकल्प से होता है । ५—आद्यादिगण-पठित शब्दप्रकृतिक प्रथमान्त से तस्ति प्रत्यय होता है । ६—विकारात्मत्व ‘विकारस्वरूप’ को प्राप्त होनेवाली प्रकृति से विद्यमान जो विकारवाची शब्द उससे स्वार्थ में ‘च्वि’ प्रत्यय विकल्प से होता है कृ, भू, अस्ति के योग में । ७—च्वि-प्रत्यय पर हो तो अवर्ण को ईकार आदेश होता है । ८—च्वि-प्रत्यय पर हो तो अव्यय-सम्बन्धी अवर्ण का ईत्व नहीं होता है । ९—कात्स्न्यं ‘सम्पूर्ण’ अर्थ बोध्य हो तो च्वि के विषय में विकल्प से ‘साति’ प्रत्यय होता है ।

१सात्पदाद्योः ८।३।१११ ॥ सस्य षत्वं न स्यात् । कृत्स्नं शस्त्र-
मग्निः संपद्यते—अग्निसाद्भवति । दधि सिञ्चति ।

च्वो च ७।४।२६ ॥ २च्वो च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नीभवति ।

३अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५।४।५७ ॥ द्व्यजेव
अवरं = न्यूनं, न तु ततो न्यूनम् । अनेकाजिति यावत् । तादृशमर्धं यस्य
तस्मात् डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे । ४डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् ॥
इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् । नित्यमात्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् । "डाच्-
परं यदात्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयोः
पकारः । पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति । द्व्यजव-
रार्धात्किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनितौ
किम् ? पटिति करोति ।

॥ इति स्वार्थिकाः ॥ १६ ॥ इति तद्धिताः ॥

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

स्त्रियाम् ४।१।३ ॥ १अधिकारोऽयं समर्थानामिति यावत् ।

अजाद्यतष्टाप् ४।१।३ ॥ २अजादीनामकारान्तस्य च वाच्य यत्स्त्रीत्वं
तत्र द्योत्ये टाप्स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला ।

पटपटाकरोति—डाचि विवक्षिते द्वे बहुलमिति वार्तिकेन डाचः प्रागेव 'पट्ट'
शब्दस्य द्वित्वे 'पट्टपट्ट' इति स्थिते, 'अव्यक्तानुकरण-' इति डाचि, अनुबन्धलोपे,
परस्य पट्ट-शब्दस्य 'तस्य परमात्रेडितम्' इत्यात्रेडितसंज्ञायां 'नित्यमात्रेडिते
डाचि' इति वार्तिकेन पूर्वं 'पट्ट' इत्यस्य तकारस्य, पर-(द्वितीय)-'पट्ट'
इत्येतस्य पकारस्य पररूपे, परत्र टिलोपे कृते 'पटपटाकरोति' इति ।

॥ इति तद्धिताः ॥

१—पद के आदि सकार को तथा सातिप्रत्यय के सकार को षत्व नहीं होता है । २—
च्चि प्रत्यय पर हो तो पूर्व को दीर्घ होता है । ३—अव्यक्त 'अस्पष्ट' अनुकरण द्व्यजवरार्ध
(दो अच् से कम नहीं है अर्थ में जिसके ऐसे) शब्द से डाच् प्रत्यय होता है—कृ, भू,
अस्ति के योग में, किन्तु इति शब्द पर न हो तब । ४—डाच्-प्रत्यय की विवक्षा में बहुलता
से द्वित्व होता है । ५—डाच् से परे जो मात्रेडित उसके परे रहते पूर्व-पर के वर्ण को
पररूप होना है ॥ इति तद्धिताः ॥

६—'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र तक 'स्त्रियाम्' सूत्र का अधिकार है । ७—अजादिगण
(अज-शब्द है आदि में जिसके ऐसे अजादि गण) का तथा अकारान्त का वाच्य जो स्त्रीत्व,
वह द्योत्य हो तो टाप्-प्रत्यय होता है ।

वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । मेधा । गङ्गा । सर्वा-इत्यादि ।

उगितश्च ४ । १ । ६ ॥ ^१उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । भवती । भवन्ती । पचन्ती ।

टिड्डाणञ्द्वयसज्दघ्नज्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्क्त्वरपः ४ । १ । १५ ॥

^२अनुपसर्जनं यद्विदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप्स्यात् । कुरुचरी । नदट्-नदी । देवेट्-देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरु-द्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । प्रास्थिकी । लव-णिकी । इत्वरी । नञ्स्नञ्जीककृष्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् । ^३स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तिकी । याष्टिकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी ।

यञश्च ४ । १ । १६ ॥ ^४यञन्तात् स्त्रियां ङीप्स्यात् । अकारलोपे कृते-हलस्तद्धितस्य ६ । ४ । १५० ॥ ^५हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधा-भूतस्य लोप ईति परे । गार्गी ।

प्राचां षफ तद्धितः ४ । १ । १७ ॥ ^६यञन्तात् षफो वा स्यात्स च तद्धितः ।

पचन्ती—‘पचत्’ शब्दात् ‘उगितश्च’ इति ङीप्यनुबन्धलोपे ‘शष्यनोर्नित्यम्’ इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे, स्वादेरुत्पत्तौ विभक्तिकार्ये च ‘पचन्ती’ इति । कुरुचरी, नदी, देवी-एषु, ‘चरेष्टः’ इति टप्रत्ययो ज्ञेयः । सौपर्णेयी—इत्यादिषु क्रमेण ‘स्त्रीभ्यो ढक्’, ‘सास्य देवता’, ‘उत्सादिभ्योऽञ्’, ‘प्रमाणे द्वयसजू-०’, ‘संख्याया अवयवे तयप्’, ‘तेन दीव्यति-०’, ‘लवणाद्गुञ्’, ‘त्यदादिषु दृशो-०’, ‘इण्त्तष्-०’ इति सूत्रैस्तत्प्रयोगेषु तत्तत्प्रत्यया बोध्याः ।

गार्गी-गार्ग्यं-शब्दात् ‘यञश्च’ इति ङीप्यनुबन्धलोपे, भसंज्ञायां ‘यस्येति च’ इत्यनेनाकारलोपे, ‘हलस्तद्धितस्य’ इति यलोपे विभक्तिकार्ये च कृते ‘गार्गी’ इति ।

१—उगित् हो अन्त में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व घोट्य हो तब ।
 २—अनुपसर्जन जो टिदादि (टित्-ड-अण्-अञ्-द्वयसच्, दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरप्) एतदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक उससे ङीप् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व घोट्य हो तब । ३—स्त्रीत्व घोट्य हो तो नञ्, स्नञ्, ईकक् एवं ख्युन्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक एवं तरुण, तलुन प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । ४—स्त्रीत्व घोट्य हो तो यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । ५—ईत्=ईकार पर हो तो हल् से परे तद्धित-उपधाभूत-यकार का लोप होता है । ६—यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से षफ प्रत्यय विकल्प से होता है और उसकी तद्धित संज्ञा होती है ।

षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१ ॥ ^१षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । गार्ग्यायणी । गौरी । अनडुही । अनड्वाही । आकृतिगणं ऽयम् ।

वयसि प्रथमे ४।१।२० ॥ ^२प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात्स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुमारी ।

द्विगोः ४।१।२१ ॥ ^३अदन्ताद्विगोर्ङीप् स्यात् । त्रिलोकी । अजादित्वात्त्रिफला । त्र्यनीका येना ।

दर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४।१।३९ ॥ ^४वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात्प्रातिपदिकाद्वा ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।

वोतो गुणवचनात् ४।१।४४ ॥ ^५उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीप् स्तात् । मृद्गी, मृदुः ।

बह्नादिभ्यश्च ४।१।४५ ॥ ^६एभ्यो वा ङीप् स्यात् । वह्नी । बहुः । ^७कृदिकारादक्तिनः । रात्रिः । रात्री । ^८सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्ययेके । शकटी । शकटिः ।

^९पुंयोदाख्यायाम् ४।१।४८ ॥ या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीप् । गोपस्य स्त्री गोपी । ^{१०}ॐपालकान्तात् ।

वयसि प्रथमेति—कोमारं पञ्चमाब्दान्तं पोगण्डं दशमावधिः ।

कैशोरमापञ्चदशाद् यौवनं तु ततः परम् ॥

गोपी—‘गोपस्य स्त्री’ इति विग्रहः । अत्र ‘पुंयोगादाख्यायाम्’ इति ङीष्प्यनुबन्धलोपे, ‘यस्यति च’ इति यकारोत्तरवर्त्यकारलोपे विभक्तिकार्ये च कृते ‘गोपी’ इति ।

१—छात्रं घात्य हा तो षित्-प्रत्ययान्त प्रादिपदिक एवं गौरादिगणपठित शब्द प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । २—छात्रं घात्य हो तो प्रथम वयोवाची अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । ३—द्विगुसमास सम्बन्धी अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है । ४—वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तोपध तदन्त जो अनुपसर्जन प्रातिपदिक उससे ङीप् प्रत्यय विकल्प से होना है तथा तकार को नकार आदेश भी होता है । ५—गुणवाची उदन्त प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है । ६—बह्नादिगणपठित प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है । ७—क्तिन् अवयव से भिन्न जो कृत् का इकार तदन्त प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है । ८—किसी आचार्य का मत है कि क्तिन्नर्थ प्रत्ययावयव से भिन्न इकारान्त प्रातिपदिकमात्र में ङीप् प्रत्यय विकल्प से होता है । ९—जो पुम्=‘पुरुष’ वाचक शब्द पुंयोग से स्त्रीलिंग में विद्यमान हो उससे ङीप् प्रत्यय होता है । १०—पालक-शब्द ही अन्त में जिसके ऐसे शब्द से ङीप् नहीं होता है ।

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः ७ । ३ । ४४ ॥ ^१प्रत्ययस्थात्का-
त्पूर्वस्याऽकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत् । गोपालिका ।
अश्वपालिका । सर्विका । कारिका । अतः किम् ? नौका । प्रत्ययस्थात्किम् ?
शक्नोतीति शका । असुपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ^३सूर्याद्देवतायां
चाब्वाच्यः । सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । देवतायां किम् ? ^३सूर्याऽस्त्ययोश्छे
च ड्यां च । यलोपः । सूरी । कुन्ती । मानुषीयम् ।

^४इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४ ।
१ । ४९ ॥ एषामानुगागमः स्यात् डीष् च । इन्द्रस्य स्त्री इद्राणी । वरु-
णानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी । ^५हिमारण्ययोर्महत्त्वे ।
महद्विमं हिमानी । महदरण्यम्—अरण्यानी । ^६यवाद्दोषे । दुष्टो यवो
यवानी । ^७यवनाल्लिप्याम् । यवनानां लिपिर्यवनानी । ^८मातुलोपा-
ध्याययोरानुग्वा । मातुलानी । मातुली । उपाध्यायानी । उपाध्यायी ।

सर्विका—सर्वरुद्रान् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्यनुबन्धलोपे, 'प्रत्ययस्थात्-'
इति वकारोत्तरवर्त्यकारस्येकारे, अकः सवर्णे दीर्घे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।
मातुलानी—'मातुलस्य स्त्री' इति विग्रहः । अत्र 'इन्द्रवरुणभव-०' इति
डीष्यनुबन्धलोपे, 'मातुलोपाध्याययोः' इति वैकल्पिकेनानुगागमेऽनुबन्धलोपे
विभक्तिकार्ये च कृते 'मातुलानी' इति । आनुगमावे—'मातुली' इति । उपाध्याया १—
'उपेत्य अधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायस्तस्य स्त्री' इति विग्रहः । अत्र 'इडश्च' इत्युपादाने
घञ् । या तु स्वयमध्यापिका तत्र 'अपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा
डीष्' इति घञन्ताद् वैकल्पिकडीष्विधानेन उपाध्यायी उपाध्याया इति रूपद्वयम् ।

उपाध्यायस्य लक्षणम् । मनुः—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥

१—प्रत्यय के ककार से पूर्व जो अकार उसको इकार आदेश होता है आप् परे रहते,
किन्तु यदि वह सुप् आप् परे न हो तब । २—देवता अर्थ में वर्तमान सूर्य शब्द में चाप् प्रत्यय
होता है । ३—छ या डी प्रत्यय पर हो तो सूर्य एवं अगरत्य शब्द के यकार का लोप होता है ।
४—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल एवं आचार्य शब्दों
से आनुक् का आगम होता है और डीष् प्रत्यय भी होता है । ५—हिम तथा अरण्य शब्द से
महस्व अर्थ में डीष् तथा आनुक् होते हैं । ६—यव शब्द से दोष अर्थ में डीष् तथा आनुक्
होते हैं । ७—यवन शब्द से लिपि अर्थ में डीष् और आनुक् का आगम होता है । ८—मातुल
एवं उपाध्याय-शब्द से डीष् होता है और आनुक् आगम विकल्प से होता है ।

१३ आचार्यादिणत्वं च । आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी । १३ अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया ।

३ क्रीतात्करणपूर्वात् ४ । १ । ५० ॥ क्रीतान्ताददन्तात्करणादेः स्त्रियां डीष् स्यात् । वक्षक्रीती । कचिन्न । धनक्रीता ।

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगपधात् ४ । १ । ५४ ॥ ४ असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताददन्तान्डीष् वा स्यात् । केशानतिक्रान्ता अतिकेशा । चन्द्र-मुखी, चन्द्रमुखा । असंयोगोपधात्किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात्किम् ? सुशिखा ।

न क्रोडादिवह्वचः ४ । १ । ५६ ॥ ५ क्रोडादेर्वह्वचश्च स्वाङ्गान्न डीष् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ।

नखमुखात्संज्ञायाम् ४ । १ । ५८ ॥ ६ न डीष् ।

पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८ । ४ । ३ ॥ ७ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य गः स्यात्संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने । शूर्पणखा । गौरमुखा । संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ।

आचार्यलक्षणम्—प्राचिनोति हि शास्त्रार्थन्धिर्मान्निध्यापयत्यपि ।

शिष्यः स्वयञ्चाचरति यः स आचार्यं उच्यते ॥

या तु स्वयमध्यापिका सा 'प्राचार्या' इत्येकं रूपम् ।

अतिकेशी—'केशानतिक्रान्ता या सा' इति विग्रहः । अत्र 'स्वाङ्गाच्चोप-सर्जनात्' इति डीष्यनुबन्धलोपे, भस्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।

स्वाङ्गलक्षणम्—अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्यमविकारजम् ।

अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तथा युतम् ॥

चन्द्रमुखी—'चन्द्र इव मुखं यस्याः सा' इति विग्रहः ।

१—आचार्य शब्द से डीष् एवं आनुक् होता है और णत्व का अभाव भी होता है ।

२—अर्य एवं क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में डीष् तथा आनुक् विकल्प से होते हैं । ३—स्त्रीत्व द्योत्य हो तो, क्रीत-शब्द है अन्त में एवं करण कारक है आदि में जिसके ऐसे अदन्त प्राति-पदिक से डीष् होता है । ४—संयोगोपध से भिन्न उपसर्जन जो स्वांग-वाची शब्द तदन्त जो अदन्त-प्रातिपदिक उससे डीष् विकल्प से होता है । ५—क्रोडाद्रिगणपठित एवं बह्वच् स्वांगवाची प्रातिपदिक से डीष् नहीं होता है । ६—संज्ञा में नख या मुख-शब्दान्त प्रातिपदिक से डीष् नहीं होता है । ७—संज्ञा में, पूर्वपद में स्थित निमित्त (रेफ, षकार) से परे नकार को णत्व नहीं होता ।

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४ । १ । ६३ ॥ ^१जातिवाचि यत्र च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां डीप् स्यात् । तटी । वृषली । कठी । बह्वृची । जातेः किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात्किम् ? बलाका । अयोपधात्किम् ? क्षत्रिया । ^२ऋयोपधप्रतिषेधे ह्यगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः । हयी । गवयी । मुकयी । हलस्तद्धितस्येति यलोपः । मनुषी । ^३ऋमत्स्यस्य ड्याम् । यलोपः । मत्सी ।

इतो मनुष्यजातेः ४ । १ । ३५ ॥ डीष् । दाक्षी ।

ऊङुतः ४ । १ । ६६ ॥ ^४ऊदन्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात् । कुरूः । अयोपधात्किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

पङ्गोश्च ४ । १ । ६८ ॥ पङ्गूः । ^५श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च । श्वश्रूः ।

ऊरुत्तरपदादौपम्ये ४ । १ । ६९ ॥ ^६उपमानवाचि पूर्वपदमूरुत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्माद् ऊङ् स्यात् । करभोरूः ।

मनुषी—मनुष्यशब्दात् 'जातेरस्त्री-' इति डीष्यनुबन्धलोपे, मत्वादल्लोपे, 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । मत्सी-मत्स्य-शब्दात् 'जातेरस्त्री-' इति डीष्यनुबन्धलोपे-मत्वादल्लोपे, 'सूर्यतिष्य-' इति यलोपे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । दाक्षी-दाक्षिशब्दात् 'इतो मनुष्यजातेः' इति डीष्यनुबन्धलोपे, मत्वात् 'यस्येति च' इति दाक्षेरिकारलोपे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।

श्वश्रूः—श्वशुर शब्दात् 'ऊङुतः' इति ऊङ्यनुबन्धलोपे, 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इति शकारोत्तरवर्त्युकारलोपे, रकारोत्तरवर्त्युकारस्य च लोपे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः ।

१—नित्य स्त्रीलिङ्ग से भिन्न तथा यकारोपध से भिन्न जातिवाचक शब्द से डीष् होता है । २—योपध (यकारोपध) के प्रतिषेध में 'हय, गवय, मुकय, मनुष्य, मत्स्य'-इन शब्दों का प्रतिषेध नहीं होता है (अर्थात् इन योपधों से भी डीष् होता है) । ३—डी पर हो तो मत्स्य-शब्दावयव-यकार का लोप होता है । ४—मनुष्यजातिवाचक शब्द से डीष् होता है । ५—यकारोपध से भिन्न मनुष्यजाति वाचक उदन्त प्रातिपदिक से ऊङ् होता है स्त्रीत्व धोत्य हो तब । ६—पङ्गु शब्द से भी ऊङ् होता है । ७—श्वशुर-शब्द से ऊङ् होता है तथा उकार एवं अकार का लोप भी होता है । ८—उपमान-वाचक शब्द पूर्वपद में तथा ऊरु-शब्द उत्तर पद में है ऐसे प्रातिपदिक से ऊङ् होता है ।

१संहितशफलक्षणवामादेश्च ४ । १ । ७० ॥ अनौपम्यार्थं सूत्रम् ।
संहितोरुः । शफोरुः । लक्षणोरुः । वामोरुः ।

शाङ्गर्वाद्यञो डीन् ४ । १ । ७३ ॥ ३शाङ्गर्वादेरञो योज्कारस्त-
दन्ताच्च जातिवाचिनो डीन् स्यात् । शाङ्गर्वा । बैदी । ब्राह्मणी ।
४नृनरयोर्वृद्धिश्च । नारी ।

यूनस्तिः ४ । १ । ७७ ॥ ५युवन्शब्दात्स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात् । युवतिः ।

* इति स्त्रीप्रत्ययाः *

शास्त्रान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका ।

कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥ १ ॥

॥ इति श्रीवरदराजाचार्यकृता लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥

०

नारी—नृशब्दात् 'शाङ्गर्वाद्यञो-०' इति डीन्यनुबन्धलोपे 'नृनरयोर्वृद्धिश्च'
इति वृद्धौ (आरि) विभक्तिकार्ये च कृते 'नारी' इति ।

युवतिः—'युवन्' शब्दात् 'यूनस्तिः' इति ति प्रत्यये, स्वाधिष्ठितपदत्वे,
नलोपे, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । 'युवती' इति दीर्घकारस्य तु योति =
मिश्रीकरोत्यात्मानं पत्या सहेति विग्रहे युधातोर्लटि शत्रादेशेन 'उगितश्च' इति डोपि
कृते सिद्धिः ॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

इति श्रीगोरखपुरमण्डलान्तर्गत-घुआंटीकर-ग्रामनिवासि पं० राजकुमार-

मिथात्मज-पं० गोमतीप्रसाद मिश्र व्याकरणपोष्ठाचार्य-न्याय-साहित्य-

शास्त्र सम्पादिता शिवाख्या-संस्कृत-हिन्दी टीका समाप्ता ।

* अनया श्रीसाम्बसदाशिवः प्रीयताम् *

०

१—'संहित, शफ, लक्षण या वाम शब्द आदि में हो एवं ऊर्ह-शब्द उत्तर पद में हो
तो ऐसे प्रातिपदिक से ऊर्ह होता है । २-शाङ्गर्वादिगणपठित जो जातिवाचक प्रातिपदिक
उससे डीन् होता है । ३-नृ एवं नर प्रातिपदिक से डीन् एवं वृद्धि होते हैं । ४-स्त्रीत्व
छोत्य हो तो युवन् शब्द से ति-प्रत्यय होता है ॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

॥ इति श्रीगोमतीप्रसादशास्त्रिकृता हिन्दी टीका ॥

०

परिशिष्टम्

(१)

व्याकरणे विशेषोपयोगीनि लक्षणानि

(१) अथ किमिदं व्याकरणम् ?

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम् । शब्दों की सिद्धि जिसके द्वारा की जाय, उसे व्याकरण-शास्त्र अथवा शब्दानुशासन की संज्ञा दी गई है । शब्दसाधुत्वप्रतिपादक शास्त्र व्याकरण है ।

(२) सूत्रस्य स्वरूपम्

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारबद्धिश्चतो मूलम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ यथा “अदेङ् गुणः” ।

कम अक्षरों में सन्देहरहित, सारभूत, सर्वतः प्रभावी, निर्दोष एवं अनवरुद्ध रचना को सूत्र कहा जाता है । जैसे “अदेङ् गुणः” सूत्र संक्षेप में गुण संज्ञा के स्वरूप का बोधक है, जो बहुत ही कम अक्षरों में हैं तथा स्पष्टार्थ-प्रतिपादक भी है ।

(३) सूत्रस्य भेदाः

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

सूत्र के छह भेद हैं—(१) संज्ञा (२) परिभाषा (३) विधि (४) नियम (५) अतिदेश और (६) अधिकार ।

(१) संज्ञा-संज्ञिप्रत्यायकं सूत्रं—संज्ञासूत्रम् । यथा—“वृद्धिरादेच्” इति । संज्ञा और संज्ञी को बतलाने वाला सूत्र संज्ञासूत्र कहलाता है । जैसे—“वृद्धि-रादेच्” । इसमें वृद्धिपदबोध्य आ, ऐ, औ का परिज्ञान होता है । (२) प्रनियमे नियमकारिणी परिभाषा । यथा—“तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य” । नियम-रहित स्थलों पर व्यवस्था करना परिभाषा-सूत्र का कार्य है । जैसे “तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य” । इस सूत्र से सप्तमी-विभक्ति द्वारा विधीयमान कार्य का

अव्यवहित पूर्व में होना जाना जाता है। (३) आदेशादिविधायकं सूत्रम्—विधिसूत्रम् । यथा—‘इको यणचि’ । आदेशादि का विधान करने वाले सूत्रों को विधि-सूत्र कहा जाता है। जैसे “इको यणचि” द्वारा ‘इक्’ के स्थान पर ‘यण्’ आदेश का विधान किया जाता है। (४) प्राप्तस्य विधेर्नियामकं सूत्रं नियम-सूत्रम् । यथा “कृत्तद्धितसमासाश्च” । प्राप्तविधि के विषय में नियम करना नियम सूत्र का कार्य है। जैसे “कृत्तद्धितसमासाश्च” सूत्र से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। समास-संज्ञक ‘राजन् + अस्, पुरुष + सु’ आदि में तो अर्धवत्-सूत्र से ही प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती अतः समास ग्रहण व्यर्थ होकर यहाँ नियम करता है कि जिस शब्दसमूह में पूर्वभाग पद रहे उसकी यदि प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास में ही हो। इस नियम से ‘वाक्य’ आदि की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती। (५) “अतस्मिन् तद्धर्मापादकं सूत्रम्” अतिदेशसूत्रम् । यथा “लोटो लङ्” । अतिदेश शास्त्र वास्तव में आरोपबोधक है। वस्तुसत्ता न होने पर भी उसके धर्म का आरोप होने पर अतिदेश कहा जाता है। जैसे लोक में गुरु के न होने पर गुरुपुत्र में गुरु के समान आदर (सम्मान) आदि की भावना होना। वैसे ही व्याकरणशास्त्र में ‘लोट्’ लकार को ‘लङ्’ के समान मानना। जिसके फलस्वरूप ‘वस्’ ‘मस्’ आदि में सकार का लोप हो जाता है। (६) “उत्तरोत्तरसूत्रेषु स्वघटकपद-समर्थकम् सूत्रम्”—अधिकारसूत्रम् । यथा “कारके” । आगे आने वाले सूत्रों में अपना प्रभाव रखने वाला सूत्र अधिकारसूत्र कहलाता है। जैसे “कारके” की अनुवृत्ति कर्मादि में होने के कारण ‘कर्म’ ‘कर्ता’ ‘करण’ आदि कारक कहलाते हैं।

वार्तिक-लक्षणम्—

“उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः ॥”

यथा—‘यणः प्रतिषेधो वाच्यः’ ।

उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त का विचार जहाँ किया जाय, उस ग्रन्थ को ‘वार्तिक’ कहा जाता है। जैसे ‘यणः प्रतिषेधो वाच्यः’ (वा०) । ‘सुध् य उपास्यः’ में यकार का संयोगान्त लोप प्राप्त था किन्तु इस वार्तिक के द्वारा उसका निषेध कर दिया गया।

भाष्यलक्षणम्—

“सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥”

—यथा महाभाष्यादयो ग्रन्थाः ।

सूत्रों के मूल पदानुसार सूत्रों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के द्वारा अपने विचारों को भी जिस ग्रन्थ में व्यक्त किया जाता है, उस ग्रन्थ को भाष्य कहते हैं। जैसे ‘व्याकरण महाभाष्य’ में पाणिनि के सूत्रक्रमानुसार व्याख्या के साथ ही पतञ्जलि ने अपने विचारों को भी व्यक्त किया है।

व्याख्यानलक्षणम्—

“पदच्छेदः पदार्थोक्तिविग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥”

यथा काशिकादयो ग्रन्थाः ।

व्याख्यान में छह बातों की अपेक्षा होती है। ये बातें हैं—(१) पदों का पृथक्करण, (२) पदों के अर्थों का कथन, (३) समासयुक्त शब्दों का विग्रह; (४) वाक्यों की योजना, (५) आक्षेप एवम् उनका (६) समाधान। जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी का व्याख्यान ‘काशिका’ ग्रन्थ है। उसमें यही रीति अपनाई गई है। उदाहरणार्थ ‘वृद्धिरादैच्’ सूत्र की व्याख्या में पदच्छेद—वृद्धिः, आदैच्। पदार्थोक्ति—वृद्धि = संज्ञा, आव् दीर्घ आकार, ऐच् = ऐ औ। विग्रह—आव् च ऐच् च = आदैच्। वाक्ययोजना—आदैच् = आ, ऐ, औ, वृद्धिः = वृद्धिसंज्ञक होते हैं। आक्षेप—सर्वत्र यह नियम है कि उद्देश्य-कथन के बाद विधेय का कथन होता है। यहाँ पहले विधेय का कथन कैसे? समाधान—‘वृद्धि’ पद मङ्गलार्थक होने के कारण विधेय-पद का पूर्व प्रयोग किया गया है।

(२) लघुकौमुदीस्थ-सूत्रसूची

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अकथितं च	२११	अतिशयाने तम	२६१	अनुदात्तङित	१००	अम्बार्थनद्यो	४९
अकर्तरि च	२०५	अतो गुणे	६९	अनुदात्तस्य च	१६३	अम्सम्बुद्धौ	६७
अकः सवर्णे	१८	अतोदीर्घो	१०१	अनुदात्तोपदेश	१३८	अयामन्ता०	१३०
अकर्मकाच्च	१८४	अतो भिस ऐस्	३६	अनुनासिकस्य	१८३	अर्द्धिपद	१९६
अकृत्सार्वधातु०	१२१	अतोऽम्	५९	अनुनासिका०	२७	अर्तिपिपत्योश्च	१५१
अक्ष्णोऽद्दर्श०	२३१	अतो येयः	१०६	अनुपराभ्यां	१८६	अर्तिलघूसू	२०४
अचस्तास्व०	१२०	अतो रोरप्लुता	२९	अनुशतिका०	२४५	अर्तिही०	१७७
अचित्तहस्ति०	२४०	अतो लोपः	११६	अनुस्वारस्य	२५	अर्थवदधातु	३३
अचि र ऋतः	५७	अतो हला०	११२	अनृष्यानन्तर्ये	२३५	अर्धर्चाः पुंसि	२२६
अचि विभाषा	१६६	अतो हेः	१०४	अनेकमन्य०	२२६	अर्धं नपुंसकम्	२२०
अचि श्नुधातु०	५०	अतः कृकमिकंस	१९६	अनेकालिश०	१९	अर्वणस्त्रसावन	७४
अचोऽङ्गिति	४६	अत्रानुनासिकः	२७	अन्	२३६, २६०	अंशंआदि०	२५९
अचोऽन्त्यादि०	१७	अत्वसन्तस्य	८५	अन्तरं बहिर्यांगो	४०	अलोऽन्त्यस्य	१२
अचो यत्	१९३	अदभ्यस्तात्	१५०	अन्तर्बहिर्या	२२८	अलोऽन्त्यात्पूर्वं	४५
अचो रहा०	२१, ६८	अदर्शनं लोपः	४	अन्तादिवच्च	१८	अलंखल्वोः	२०८
अचः	८३	अदस औ सुलो	८९	अन्यथैवंकथमि	२१०	अल्पाचतरम्	२६०
अचःपर०	१३९, १७५	अदसो मात्	२०	अन्येभ्योऽपि	१९७	अल्लोपोऽनः	६२
अच्च घेः	४५	अदसोऽसेर्दादु०	८९	अपत्यं पौत्रम्	२३३	अवङ् स्फोटाय	१८
अजाद्यदन्तम्	२३०	अदिप्रभृतिभ्यः	१३७	अपह्ववे ज्ञः	१८४	अवयवे च	२४७
अजाद्यतष्टाप्	२६६	अदूरभवश्च	२४१	अपादाने पञ्च	२१४	अवेस्तृस्त्रोर्घञ्	२०८
अज्झनगर्मा०	१७८	अदेङ् गुणः	१४	अपृक्त एकाल्	४५	अव्यक्तानुकर	२६६
अज्ञाते	२६४	अदः सर्वेषां	१३७	अपो भि	९२	अव्ययीभावः	२१६
अज्ञेः सिचि	१६८	अद्भुतरादिभ्यः	६१	अप्लुत्प्लुच्	५१	अव्ययसर्वना	२६४
अट्कुप्वाङ्नुम०	३६	अधिकृत्यकृते०	२४७	अप्पूरणी०	२२८	अव्ययात्त्यप्	२४३
अणुद्वित्त्वर्णस्य०	१०	अनङ् सौ	४५	अप्रत्ययात्	२०६	अव्ययादाप्सुपः	९८
अत आदेः	१०९	अनचि च	१२	अभिज्ञावचने	१९०	अव्ययीभावश्च	९८
अत इम्	२३४	अनद्यतने लङ्	१०५	अभिनिष्क्राम	२४६	अव्ययीभावश्च	२१७
अत इनिठनौ	२५८	अनद्यतने लुट्	१०२	अभिप्रत्ययि	१८६	अव्ययीभावे	२१८
अत उपधायाः	१११	अनद्यतने०	२६१	अभ्यासस्यास	१४३	अव्ययीभावे	२१८
अत उत्सा०	१४१	अनश्च	२१८	अभ्यासाच्च	१३८	अव्ययं विभक्ति	२१६
„ „	१७०	अनाप्यकः	६१	अभ्यासे चर्च	१०२	अश्वपत्या०	२३२
अत एकहल्मध्ये	११३	अनिदितां हल	८३	अमि पूर्वः	३५	अष्टन आविभक्तौ	७५

अष्टाभ्य औश् ७५	आत्मन्विश्व २५१	इच्छा २०३	ईपदसमा २६३
अस्योगाल्लिट् ११०	आत्ममाने १९८	इजादेश्च १२७	ईषददुःसुषु ५०८
असिद्धवदत्रा १३८	आत्माध्वानौ २५१	इट् ईटि १०९	ई हल्यघोः १५२
अस्तिसिचो १०९	आदिरन्त्येन ५	इटोऽत् १२९	उगवादिभ्यो २५१
अस्तेर्भूः १४२	आदिर्विदुड ११३	इद्व्यत्तिव्यय० १३७	उगितश्च २६७
अस्थिदधि ६२	आदेच उपदे १२३	इणो गा लुङि १४४	उगिदचां सर्व ७२
अस्मद्युत्तमः १००	आदेशप्रत्यय ३७	इणो यण् १४३	उच्चैरुद्रात्तः ६
अस्मायामेधा २५९	आदेः परस्य २४	इणः घः २२९	उच्छ्रति २४९
अस्य च्चौ २६५	आद् गुणः १४	इणः पीध्वं० १२८	उणादयो २०४
अस्यतिवक्ति १४८	आद्यन्तवदेक ६९	इतराभ्योऽपि २३०	उतश्च प्रत्यया० १२५
अहन ९४	आद्यन्तौ टकि २६	इतश्च १०५	उतो वृद्धिर्लुकि १४०
अहंशुभमोर्युस २५९	आधारोऽधि० २१४	इतोऽत्सर्वना ७४	उत्सादिभ्योन् २३३
अहः सर्वैकदेश २२५	आनि लोट् १०४	इतो मनुष्य २७१	उद् ईत् ८४
आकडारादेका ४३	आने मुक् २०१	इदं किमो० २५६	उदश्चरः १८४
आववेस्त० २०२	आन्महतः स २२५	इदम इश् २६०	उदः स्थास्तम्भोः २३
आडि चापः ५५	आभीक्ष्ये २१०	इदमस्थमुः २६१	उदितो वा २०९
आडो नाऽस्त्रि० ४५	आभि सर्वनाम्नः २१	इदमो मः ६९	उदोष्ठ्यपूर्वस्य १५१
आ च त्वात् २५३	आमेतः १२९	इदमोऽहिल् २६१	उद्विभ्यां २२९
आ च हौ १५३	आमः ११६	इदमो हः २६०	उपदेशेऽजनु १४
आच्छीनघोः ९५	आम्प्रत्यय० १२८	इदितो नुम् ११३	उपदेशेऽस्वतः १२०
आटश्च ४९	आयनेयी २३४	इदद्भ्याम् ५७	उपपदमतिङ् २२४
आडजादीनाम् १०९	आयादय ११६	इदोऽय पुंसि ६९	उपमानादाचारे १८२
आडुत्तमस्य १०४	आर्धधातुस्येड् १०२	इनण्यनपत्ये २३९	उपमानानि २२२
आणनघाः ४९	आर्धधातुकं १०३	इन्द्रवरुणभ २६२	उपसर्गप्रा० १४२
आत औ णलः १२२	आर्धधातुके १३८	इन्द्रे च १८	उपसर्गस्या० १३२
आतश्चोपसर्गे १२५	आशिषि १०४	इन्द्रन्पूषार्य ७१	उपसर्गाद० ११२
आतो डितः १२७	आ सर्वनाम्नः ८६	इरितो वा १५५	उपसर्गादध्वनः २३१
आतो धातोः ४३	आहस्थः १४७	इवे प्रतिकृतौ २६४	उपसर्गादृति १७
आतोऽनुपसर्गे १९६	इकोऽचि विभ ६१	इपुगमियमां १२६	उपसर्गाः किया० १७
आतो युक् १८९	इको ज्ञल् १७८	इष्टादिभ्यश्च २५७	उपसर्गे च १९९
आतो युच् २०८	इको यणचि ११	इष्टस्य यिट् च २६३	उपसर्गे घोः० २०७
आलो लोप इटि १२२	इकोऽसवर्णे २०	इसुसुक्तान्तात्कः २४०	उपसर्जनं २१७
आतः १२३	इगन्ताच्च २५४	ई च गणः १७५	उपाच्च १८६
आत्मनेपदेष्वन १६४	इगुपधज्ञाप्ती० १९५	ईदृदेद्विवचनं १९	उपात्प्रतियत्न २७१
आत्मनेपदेष्व १३०	इग्यपः संप्र० ६६	ईद्यति १९३	उभादुदात्तो २५६

उभे अभ्यस्तम् ८६	एकाजुत्तरपदे ७२	कम्बोजा २३७	कृष्णे हेतु० १९६
उरण् रपरः १४	एको गोत्रे २३३	करणे यजः १९८	कृञ्चानुप्रयु० ११६
उरः प्रभृतिभ्यः २२०	एङः पदान्ता १८	कर्तरि कर्म० १८४	कृत्तद्धितस० ३३
उरत् ११६	एङि पररूपम् १७	कर्तरि कृत् १९२	कृत्यल्युटो १९३
उश्च १३४	एङ्हस्वात्संबुद्धेः ३५	कर्तरि शप् १०१	कृत्याः १९२
उषविद० १४०	एच इग्रस्वा० ६४	कर्तुरीप्सि० २११	कृदतिङ् ७६
उस्यपदान्तात् १२३	एचोऽयवाया० १३	कर्तृकरण० २१३	कृन्मेजन्तः ९८
ऊकालोज्झस्व ५	एजेः खश् १९६	कर्तृकरणे २१९	कृभ्वस्तियोगे २६५
ऊङुतः २७१	एत ईद्वहु ९०	कर्मणा २१३	कृसभृष्टु० १२०
ऊतियूति० २०७	एत ऐ १२९	कर्मणि २११	केशाङोऽ० २५८
ऊरूत्तर० २७१	एतत्तदोः सुलो० ३१	कर्मण्वण् १९५	कोशाङ्ङञ् २४५
ऊर्णोर्तेर्विभाषा १४८	एतदः २६१	कर्मवत्कर्म० १९०	किङिति च १०६
ऊर्णोर्तेर्विभाषा १४९	एतिस्तुशास् १९३	कष्टाय क्रम० १८३	क्तक्तवतू० १९९
ऊर्यादिच्चि २२३	एतैतो रथोः २६१	कस्कादिषु च २२९	क्त्रैर्मश् नि० २०६
ऊवपूरब्धुः २३१	एतेर्लिङि १४३	कानाम्नेङिते २९	क्वातोऽनु० ९८
ऊच्छत्युताम् १५२	एत्येधत्यृठ्सु १६	कान्यच्च १८२	क्यचि च १८२
ऊत उत् ५२	एरनेकाचोऽ० ५०	कालसमय० २०५	क्यस्य विभाषा १८२
ऊतश्च सं० १२४	एरुः १०४	कालाट्टञ् २४४	क्रमादिभ्यो २४०
ऊतश्च सं० १६०	एर्लिङि १२२	किति च २३२	क्रमः परस्मै० १२१
ऊतो ङिसर्व० ५१	एरच् २०६	किदाशिषि १०६	क्रीतात्करण २७०
ऊतो भा० १००	ओतः श्यनि १५६	किमश्च २६१	क्रयादिभ्यः १७१
ऊत्विग्दधृक् ७५	ओत् २०	किमिदम्भ्यां २५५	क्वसुश्च २०१
ऊत्यकः २१	ओदितश्च २००	किमेत्तिङ्० २६२	क्वाति २६०
ऊदुशनस्पुरु ५१	ओमाङोश्च १८	किमोऽत् २६०	क्विन्प्रत्ययस्य ७६
ऊद्धनोः स्ये १२४	ओर्गुणः २३३	किमः कः ६८	क्विप् च १९७
ऊन्नेभ्यो ५९	ओसि च ३७	किरतौ लवने १६६	क्षत्राद् घः २३६
ऊप्यन्ध० २३५	ओःपुयण्य० १७६	क्रियत्तदो० २६४	क्षायो मः ०००
ऊहलोर्ण्य० १९४	ओःसुपि ५३	किसर्वनाम० २५९	क्षुम्नादिषु च १८०
ऊत् इडा० १६६	ओङ आपः ५५	कुगतिप्रादयः २२३	क्वसस्याचि १४७
ऊदोरप् २०६	औतोऽश्शसोः ५४	कुतिङोः २५९	खरवसानयो० २७
एकवचनस्य च ८०	औत् ४७	कुत्सिते २६४	खरि च २४
एकवचनं संबुद्धिः ३५	कण्वादि० १८४	कुप्चोः कःपौ च २८	खित्यनव्य० १९८
एकविभ० २२३	कन्यायाः २३५	कुमुदनङवे० २४१	ख्यत्यात्परस्य ५७
एकाच उप० ११७	कपिज्ञातयो० २५४	कुरुनादिभ्यो २३७	गतिश्च ५१
एकाचो वशो ६५	कर्मेणङ् १३०	कुहोश्चुः १११	गन्धनाव० १८५

गमहनजन०	१२६	ङणोः कुक्कुक्	२६	जातेरस्त्री०	२७१	णिश्रिट्रुन्नु०	१३०
गमेरिट् प०	१२६	ङ्याप्प्रातिपदि०	३३	जिह्वामूला०	२४६	णेरनिटि	१३०
गर्गादिभ्यो	२३३	चङि	१३१	जीवति तु	२३४	णो नः	११२
गहादिभ्यश्च	२४३	चजोः कुधि०	१९४	जुसि च	१५०	णौ चङ्यु०	१३१
गाङ्कुटादि	१४५	चतुरनडुहो	६६	जुहोत्यादि०	१५०	ण्यासश्रन्थो	२०८
गाङ् लिटि	१४४	चतुर्थी तद०	२१९	जस्तन्भुस्तुन्मु०	१७२	ण्वुलृचौ	१९५
गातिस्थाद्युपा	१०७	चतुर्थी सम्प्र०	२१३	शान्नोर्जा	१५८	तडानावा०	१००
गुणवचनत्रा०	२५४	चरति	२४८	ज्य च	२६३	तत आगतः	२४६
गुणोऽपृत्ते	१४९	चरेष्टः	१९६	ज्यादादीय०	२६३	तत्पुरुषस्या०	२२५
गुणो यङ्लु०	१७९	चादयोऽस्तुत्वे	२०	ज्वरत्वर०	२०७	तत्पुरुषे कृति	१९९
गुणोऽर्तिसंयो	१२४	चार्ये द्रन्द्रः	२३०	झयः	२१८, २४१	तत्पुरुषः	२१९
गुपूधूपवि०	११६	चिणो लुक्	१५८	झयो होऽन्य	२४	तत्पुरुषः स०	२२२
गुरोश्च हलः	२०७	चिण् ते पदः	१५८	झरो झरि स०	२४	तत्प्रकृतिव०	२६५
गृहे कः	१९५	चिण्भाव०	१८८	झलां जश्	१२	तत्प्रयोजको	१७६
गोतो गित्	५४	चुटू	३४	झलां झशो०	२२	तत्र जातः	२४५
गोत्राद्यून्य०	२३४	चोः कुः	७७	झलो झलि	११९	तत्र तस्येव	२५३
गोपयसौर्यत	२४८	चौ	८३	झषस्तथो	१३७	तत्र भवः	२४५
गौरतद्धितलुकि	२२१	च्लि लुङि	१०७	झस्य रन्	१२९	तत्र साधुः	२५०
गोश्र पुरीषे	२४८	च्लेः सिच्	१०७	झेजुंस्	१०६	तत्रोद्धृतम०	२३८
गोत्रियोरुप	२२३	च्वौ च	२६६	झोऽन्तः	१०१	तत्रोपपदं	२२४
गृह्यज्यावयि	१५६	छादैर्घेऽद्र्यु०	२०८	टाङ्सिङसा	३६	तदधीते त०	२४०
गृहोऽलिटि	१७३	छे च	२९	टिङ्ढाणञ्	२६७	तदर्हति	२५२
गामजनबन्धु	२४०	छ्वोः शूड०	२०३	टित आत्मने	१२७	तदस्मिन्नस्ती	२४१
गामघखञौ	२४३	जक्षित्या०	८६	टेः	६१, २५३	तदस्य सं०	२५५
जि च भाव	२०५	जनपदश०	२३६	ट्वितोऽधुच्	२०६	तदस्यास्त्य०	२५७
जमास्थागापा	१४५	जनपदे लुप्	२४१	ठगायस्था०	२४६	तदोः सः	७८
जडिति	४५	जनसनखनां	१७०	ठस्येकः	२३६	तद् गच्छति	२४६
जसोरेद्धाव	१४२	जनिवध्यो०	१५८	डति च	४७	तद्राजस्य	२३७
जो ह्रस्वाच्चि	२७	जराया जरस्	४२	डः सि धुट्	२६	तद्गति	२५०
जिडसोश्च	४५	जल्पभिक्ष०	२०२	ड्वितः चित्रः	२०६	तद्वित्तसास०	९८
जिथडोः स्मा	३८	जसि च	४४	डो डे लोपः	१३७	तद्विताः	२१८
ज्व	१८	जसः शी	३८	दलोपे पूर्वस्य	३०	तद्वितार्थो०	२२१
जिति ह्रस्वश्च	५७	जश्शसोः शिः	६०	णलुत्तमो वा	११२	तद्विते च०	२२१
प्रथमयोरम्	७८	जहातेश्च	१५२	णिचञ्च	१७१	तनादिकु०	१४१
जान्घा०	४९	जहातेश्च	२०९	णिजां त्रया०	१५५	तनादिकु०	१६९

तनादिभ्य०	१७०	तिप्तस्त्रिसिप्	९९	त्रेःसंप्रसारणं	२५७	वृष्टं साम	२३८
तनोतेर्यकि	१८९	तिप्यनस्तेः	१६८	त्वमावेकवचने	७९	दोदढोः	२०१
तपरस्तत्का०	१४	तिरसस्ति०	८४	त्वामौ द्विती	८१	द्युतिस्वाप्योः	१३२
तपोऽनुतापे	१८९	तिर्विशतेः	२५६	त्वाहौ सौ	७८	द्युद्गथो लुङि	१३३
तयोरेव कृ०	१९२	तिष्ठतेरित्	१७७	थलि च सेटि	११३	द्युप्रागपागु०	२४३
तरति	२४८	तीषसहलुभ	१६५	थासः से	१२७	द्वन्द्वश्च	२३०
तरप्तमपौ घः	२६२	तुदादिभ्यःशः	१६१	थो न्यः	७४	द्वन्दाञ्चुद०	२३१
तवकममका	२४४	तुभ्यमद्यौ	८०	दक्षिणाश्वा	२४३	द्वन्द्वे धि	२३०
तवममौ ङसि	८०	तुमुण्वुलौ	२०५	दण्डादिभ्यो	२५२	द्विगुरेकवचनं	२२२
तव्यत्तव्या०	१९२	तुल्यास्यप्रयत्नं	९७	दधस्तथोश्च	१५४	द्विगुश्च	२१९
तसौ मत्वर्थे	२५८	तुद्योस्तातङ्	१०४	दधातेर्हिः	२०१	द्विगोः	२६८
तस्थस्थमिपां	१०४	वृज्वत्क्रोश्ङुः	५१	दन्त उन्नत	२५८	द्वितीयाद्यौस्त्वे	७०
तस्मान्छसो नः	३६	वृणह इम्	१६८	दयायासश्च	१३२	द्वितीयायां च	७९
तस्मादित्यु०	२४	वृतीया तत्कृ	२१९	दश्च ६९, १४१		द्वितीयाश्रि०	२१९
तस्मान्नुड्०	२१४	वृतीयादिषु	६३	दाणश्च सा	१८५	द्वित्रिभ्यां	२५६
तस्मान्नुड०	२२३	वृतीयास०	२१७	दादेर्घांतोर्धः	६५	द्वित्रिभ्यां ष	२२८
तस्मिन्नणि	२४४	वृत्	२०२	दाधा ध्वदाप्	१५४	द्विर्वचनेऽचि	११७
तस्मिन्निति	११	तुफलभज०	१३३	दाम्नीशस०	२०३	द्विवचनवि०	२६२
तास्मै हितम्	२५१	ते तद्राजाः	२३७	दिकपूर्वपदाद्	२२१	द्वेस्तीयः	२५७
तस्य निवासः	२४१	तेन क्रीतम्	२५२	दिकसंख्ये सं	२२०	द्वयष्टनः सं०	२२६
तस्य परमा०	२८	तेन तुल्यं	२५३	दिगादिभ्यो	२४५	द्वयैकयोर्द्वि०	३४
तस्य पूरणे	२५६	तेन दीव्यति	२४८	दित्यदित्या	२३२	धर्मं चरति	२४९
तस्य भाव०	२५३	तेन नि० २४१, २५२		दिव उत्	६८	धातोरैकाचो	१७९
तस्य लोपः	४	तेन प्रोक्तम्	२४७	दिव औत्	६७	धातोः	१९२
तस्य विकारः	२४७	तेन रक्तं रा०	२३७	दिवादिभ्यः	१५५	धातोः कर्मणः	१७७
तस्य समूहः	२३९	ते प्राग्धातोः	१०४	दीडो युङचि	१५७	धात्वादेः षः सः	६६
तस्यापत्यम्	२३३	तेमयावेकव	८१	दीपजनबुध	१५८	धान्यानां	२५५
तस्येदम्	२४७	तोर्लि	२३	दीर्घं इणः किति	१४३	धि च	१२८
तान्येकवचन	१००	तोः धि	२३	दीर्घाञ्जसि च	४८	धुरो यङ्ङकौ	२५०
तस्येश्वरः	२५२	तौ सत्	२०१	दीर्घांऽकितः	१७९	ध्रुवमपाये०	२१३
तासस्त्यो०	१०३	त्यदादिषु	८६	दीर्घो लघोः	१३१	न क्त्वा सेट्	२०९
तिङ्श्च	२६२	त्यदादीनामः	४८	दीर्घं च	११०	न क्रोडादिव	२७०
तिङ्स्त्रीणि	१००	त्यदादीनि च	२४३	दूराद् धूते च	१९	नक्षत्रेण युक्तः	२३८
तिङ्शित्सार्धं	१०१	त्रिचतुरोःस्त्रि	५७	दृढः स्थूल०	२०२	नखमुखा०	२५०
तितुत्रतथ०	२०३	त्रेस्त्रयः	४८, २२६	दृशेः क्वनिप्	१९८	न गतिर्हिंसा	१८५

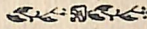
न डिसंबुद्धयोः ७०	न सम्प्रसारणे ७३	पङ्गोश्च २७१	पूर्वपदा० २७०
नष् २२२	न संयोगाद्गम ७१	पङ्क्तिर्वि० २५२	पूर्वपरावर० ४०
नडशादाड् २४२	नस्तद्धिते २१८	पचो वः २००	पूर्ववत्सनः १८५
न तिसृक्तसृ ५८	नहिवृतिवृ० ९१	पञ्चमी भयेन २२०	पूर्वादिनिः २५७
नरीभिश्च २१८	नहो धः ९१	पञ्चम्या अत् ८०	पूर्वापराध० २२०
नद्यादिभ्यो २४३	नाञ्चेःपूजायां ८४	पञ्चम्यास्तसिल् २५९	पूर्वादिभ्यो नव ४१
नन्दिग्रहि० १९५	नादिचि ३५	पञ्चम्याः २२०	पूर्वाऽभ्यासः १०२
नन्द्राः संयोगा १४८	नान्तादसं० २५६	पतिः समास ४७	पृश्वादिभ्यः २५३
न पदान्ताट्टोर २२	नाभ्यस्तस्या १५५	पत्यन्त० २५४	पोरदुपधात् १९३
नपरे नः २६	नाभ्यास्ताच्छ ८६	पथिमथ्युभुक्षा ७३	प्रकारवचने २६१
नपुंसकस्य० ६०	नामि ३७	पदान्तस्य ३६	प्रकृत्यैकान् २६२
नपुंसकाच्च ६०	नाव्ययी० २१७	पदान्ताद्वा २९	प्रज्ञादिभ्यश्च २६५
नपुंसकाद० २१८	निकटे वसति २४९	परवल्लिङ्गं २२६	प्रत्ययलोपे ४७
नपुंसके भावे २०८	नित्यं करोतेः १७०	परश्च ३३	प्रत्ययः ३३
न पूजनात् २३१	नित्यं कौटि १७९	परस्मैपदा० १०१	प्रत्ययस्थात् २६९
नभकु० २५०, १७०	नित्यं डितः १०५	परः सन्निकर्षः १०	प्रत्ययस्य लुक् ४७
न भूसुधियोः ५१	नित्यवी० २१०	परिवृतो रथः २३८	प्रत्ययोत्त० २४४
न माङ्योगे १०८	नित्यं वृद्धश्च २४८	परिव्यवेभ्यः १८४	प्रथमचर० ४१
न मुने ९०	निपात एकाज २०	परेर्मृषः १८६	प्रथमयोः पूर्वस ३४
नमः स्वरित० २१३	निवासचिति २०६	परोक्षे लिट् १०१	प्रथमानिदिष्टं २१७
न बदि १९१	निष्ठा १९९, २२९	पर्यभिभ्यां २६०	प्रथमायाश्च ७९
न आभ्यां० २४०	निष्ठायां सेटि २००	पाद्गाध्मा० १२२	प्रभवति २४६
न लिङि १७३	नीचैरनुदात्तः ६	पादस्य लोपो २२८	प्रमाणे द्वय० २५५
न लुमताङ्गस्य ४८	नुम्बिसर्ज० ८७	पादः पत् ८३	प्रशस्यस्य २६२
नलोपो नञः २२२	नृ च ५४	पिता मात्रा २३०	प्रहरणम् २४९
नलोपः प्रातिप० ४६	नृन्पे २८	पितृव्यमातु २३९	प्राक् क्रीता० २५१
नलोपः सुप० ७१	नेटि ११८	पुगन्तल० ११०	प्राक्कडा० २१५
न विभक्तौ ३५	नेड् वशि कृति १९७	पुमःखय्यम्परे २८	प्रागिवात्कः २६४
न वृद्धयश्च० १३३	नेदमदसोरकोः ७०	पुयोगादा० २६८	प्राग्वतेष्टन् २५१
न शसदद० १३३	नेयडुवड्स्थाना ५८	पुवः संज्ञा २०४	प्राग्वहतेष्टक् २४८
नशेर्वा ८७	नेर्गदनदप० १११	पुषादिद्युता १२७	प्राग्विताद्यत् २५०
नश्च २६	नेर्विशः १८४	पुंसि संज्ञायां २०८	प्राग्दिशो २५९
नश्चापदान्तस्य २५	नोपधायाः ७५	पुंसोऽसुड् ८८	प्राचां ष्क २६७
नश्चव्यप्रशान् २८	नौवगोधर्म० २५०	पूर्णादिभाषा २२९	प्राणिस्था० २५८
न षट्स्वस्र० ५९	नः नये १८२	पूर्वत्रासिद्धम् १५	प्रातिपदिका २१०

प्रादयः	२०	भोज्यं भक्ष्ये	१९४	यथासंख्य	१३	रात्सस्य	५२
प्राद्वहः	१८६	भोभगोभघो०	३०	यमरमन०	१२३	रायो हलि	५४
प्राप्तापन्ने च	२२६	भ्यसोऽभ्यम्	८०	यरोऽनुनासिके	२३	राब्लोपः	२०२
प्रायभवः	२४५	भ्रस्जो रो०	१६२	यस्मात्प्रत्यय	३५	राष्ट्रावार०	२४२
प्रावृष षण्यः	२४४	भ्राजभास०	२०२	यस्य हलः	१८०	रिड्शय०	१३४
प्रावृषष्टप्	२४५	मघवा बहुलम्	७२	यस्येति च	६०	रि च	१०३
प्रियवशे	१९७	मध्यान्मः	२४४	याढापः	५५	रीगृदुपध०	१८०
प्लुतप्रगृह्या	१९	मनः	१९८	यासुट्पर	१०६	रीडृतः	२३९
प्लादीना०	१७२	मय उवो वो वा	२०	युजेरसमासे	७६	रुधादिभ्यः	१६७
बहुगणव०	४७	मयट् च	२४६	युवावौ द्विवचने	७९	रेवत्यादि०	२३६
बहुवचने	३७	मयड्वैत०	२४७	युवोरनाकौ	१९५	रोऽसुपि	३०
बहुवचन०	८१	मस्त्विनशो०	१५७	युष्मदस्म०	८०	रो रि	३०
बहुव्रीहौ०	२२८	माङ्ङि लुङ्	१०७	युष्मदस्मद०	८०	रोः सुपि	६८
बहुषु बहुवच०	३४	मातुरुत्संख्या	२३५	युष्मदस्म०	२४३	वोरुपधा०	८७
बहोर्लोपो०	२६३	मादुपधा०	२४२	युष्मदस्म०	८१	लङः शा०	१४०
बह्वल्पार्था०	२६५	मितां हस्वः	१७७	युष्मद्युपपदे	१००	लटः शतृ०	२०१
बह्वादिभ्यश्च	२६८	मिदचो०	६०	यूनस्तिः	२६२	लट् स्मे	१९०
बाह्वादिभ्य०	२३५	मीनाति०	१५७	यूयवयौ जसि	७९	लशक्वतद्धिते	३६
ब्रुव ईट	१४७	मुखनासिकावच	६	यूस्त्र्याख्यौ	४९	लिङाशिषि	१०६
ब्रुवो वचिः	१४८	मृजेविभाषा	१९४	ये च	१७०	लिङः स०	१०६
ब्रुवःपश्चा०	१४७	मृजेवृद्धिः	१९४	ये चाभा०	२३६	लिङः सीयुट्	१२९
भञ्जेश्च	१८९	मेनिः	१०४	ये विभाषा	१७०	लिङ्निमित्ते	१०८
भवतेरः	१०२	मोऽनुस्वारः	२५	योऽचि	७९	लिङ्सि०	१४६
भस्य टेलोपः	७४	मो नो धातोः	६८	यः सौ	९१	लिङ्सि०	१७३
भावकर्मणोः	१८७	मो राजि समः	२५	र ऋतोह०	२५३	लिट्स्त०	१२८
भावे	२०५	म्रियतेर्लुङ्	१६६	रक्षति	२४९	लिटि धातो	१०१
भिक्षादि०	२३९	म्वोश्च	२०१	रदाभ्यां०	१९९	लिटः का०	२०१
भिक्षासेना०	१९६	यडोऽचि च	१८०	रधादिभ्यश्च	१५७	लिट् च	१०२
भियोऽन्यतर	१५१	य० वा	१८०	रलो व्युप०	२०९	लिट्यन्य०	१३७
भीहीभृदुवां	१५०	यचि भम्	४३	रषाभ्यां नोणः	६८	लिट्यभ्या०	१३५
भुजो०	१६९, १८५	यजयाचयत	२०६	राजदन्ता०	२३०	लिपिसि०	१६४
भुवो वुग्लु०	१०१	यजिनोश्च	२३४	राजनि युधि	१९८	लुग्वा दुह०	१४७
भूवादयो धातवः	१७	यञश्च	२६७	राजश्चशु०	२३६	लुङि च	१३९
भ्रुसुवोस्तिङि	१०७	यञञोश्च	२३४, २३५	राजाहः स०	२२५	लुङ्	१०७
भञ्जामित्	१५३	यत्तदेतेभ्यः	२५५	रात्राहाहाः	२२५	लुङ्लङ्	१०५

लुङ्सनोर्घरलृ	१३८	वाऽन्यस्य	१२३	विशेषणं०	२२२	शीङो रुट्	१४४
लुटः प्रथम०	१०३	वा पदान्तस्य	२५	विश्वस्य व०	७७	शीङः०	१४४
लुपि युक्तवद्०	२४१	वा बहूनां जा	२६४	विसर्जनीयरय सः२९		शीलम्	२४९
लुवविशेषे	२३८	वा भ्राश०	१२१	वृदान्द्वः	२४३	शुक्राद् घन्	२३९
लुटः सद्वा	२०१	वामदेवा०	२३८	वृद्धिरादैच्	१५	शुषः कः	२००
लुट् शेषे च	१०३	वामि	५९	वृद्धिरेचि	१६	शुद्ध प्रा०	१५२
लोटो लङ्०	२०४	वाम्शसोः	५८	वृद्धिर्यस्या	२४३	शो मुचा०	१६३
लोट् च	१०३	वाय्वृत्तुपि०	२३९	वृद्धयः स्यस	१३३	शेषात्कर्त०	१००
लोपश्चा०	१२५	वावसाने	३७	वृत्तो वा	१५२	शेषादि०	२२९
लोपो यि	१५३	वा शरि	२९	वैरपृक्तस्य	७६	शेषे	२४२
लोपो व्योर्व	१०६	वाऽसरूपो०	१९२	वोतो गुण०	२६८	शेषे प्रथमः	१००
लोपः शाकल्य	१५	वाह ऊठ्	६६	व्याङ्परि०	१८६	शेषे लोपः	७८
लोमादि०	२५८	विज इट्	१६७	व्रश्चभ्रस्ज०	७७	शेषो घ्यसखि	४८
लः कर्मणि	९९	विङ्वनोर०	१९७	व्रीहिशो०	२५५	शेषो बहु०	२२६
लः परस्मै०	१००	विदाङ्कुर्व०	१४०	व्रीह्यादि०	२५८	इनसोर०	१४२
ल्युट् च	२०८	बिदेः शतु०	२०१	शदेः शितः	१६६	इनान्नलोपः	१६८
ल्वदिभ्यः	२००	बिटो लटो०	१४०	शपृश्चनोर्नि	९५	इनाभ्यस्त०	१५३
वच उम्	१४८	विधायोनि०	२४६	शब्ददुर्दुरं०	२४९	श्रुवः शृ च	१२४
वचिस्व०	१३५	विषिनिमंत्र०	१०५	शब्दवैरक	१८३	श्रोत्रियश् छ०	२५७
वदव्रजह०	११४	बिन्मतोर्लुक्	२६३	शरीराव०	२५१	श्रयुकः०	१६०
वयसि प्रथमे	२६८	विपराभ्यांजेः	१८४	शरीराव०	२४५	श्लौ	१५०
वरणादि०	२४१	विप्रतिषेधे परं	३१	शरोऽचि	६८	शयुवमघो	७३
वर्गान्ताच्च	२४६	विभक्तिश्च	३४	शपूर्वाः खयः	१६०	षः प्रत्य०	२०२
वर्णदृढा०	२५४	विभाषा०	१५६	शलङ्गुप०	१४७	षट्चतुर्भ्यश्च	६८
वर्णादनु०	२६८	विभाषा०	६३	शश्छोटि	२५	षट्कतिक०	२५७
वर्तमान०	१९१	विभाषाचि०	१८९	शसो न	७९	षड्भ्यो लुक्	४७
वर्तमाने०	९९	विभाषा चेः	१६०	शात्	२२	षढोः कः सि	१३७
वर्षाभ्वश्च	५३	विभाषा तृती०	५२	शाङ्करवा०	२७२	षष्ठी	२२०
वसुसंख्वं०	६७	विभाषा दिक्स	५६	शास इदङ्ङ्लोः१९४		षष्ठी शेषे	२१४
वसोः सं०	८८	विभाषालुङ्ल०	१४५	शासिबसि०	१३७	षिद्गौरादि०	२६८
वाचो०	२५९	विभाषा०	२६५	शिखाया०	२४२	ष्टुना ष्टुः	२२
वा जृभ्रमु	१५६	विभाषा सुपो	२६४	शि तुक्	२७	ष्णान्ता षट्	७५
वा द्रुहमुहष्णुह	६५	विभाषेटः	१३०	शिल्पम्	२४९	सख्युरसम्बुद्धौ	४६
वा नपुंसक०	९५	विभाषोर्णोः	१४८	शिवादि०	२३५	सख्युर्यः	०५४
वान्तो यि प्रत्यये	१३	विरामोऽव०	३४	शि सर्वनाम	६०	सत्यापपा०	१७४

स नपुंसकम्	२२२	सः स्यार्थ०	१७८	सोऽस्य नि०	२४७	स्मोत्तरे ल०	१०७
सनाशंस०	२०२	सह सुपा	२१६	सौ च	७२	स्यतासी	१०३
सनाद्यन्ता०	११६	सहस्य०	८१	संख्याया अव	२५६	स्यसिच्०	१८७
सनिग्रहगु०	१७८	सहिवहोरो०	१३७	संख्यापूर्वो०	२२२	स्वतन्त्रः १७६, २१३	
सन्यडोः	१७८	सहे च	१९९	संख्यासुपू०	२२८	स्वपो नन्	२०७
सन्यतः	१३१	सहेः साडः सः	६७	संपरिभ्यां०	१७१	स्वमज्ञाति०	४०
सन्वल्ल०	१३१	सात्पदाद्योः	२६६	संप्रसारणाच्च	६६	स्वमोर्नपुंस०	६१
सपूर्वाच्च	२५७	साधकतर्म	२१३	संबुद्धौ शाकल्य	२०	स्वरतिसु०	११८
सप्तमीवि०	२२७	सान्तमहतः	८५	संबोधने च	२११	स्वरादिनि०	९६
सप्तमी०	२२०	साम आकम्	८०	सम्भूते	२४५	स्वरितवितः	१००
सप्तम्यधि०	२१४	सायचिरं०	२४४	संयोगादे०	२००	स्वाक्ता०	२७०
सप्तम्या०	२६०	सार्वधातु०	१२४	संयोगान्तस्य०	१२	स्वादिभ्यः	१६०
सप्तम्यां जनेर्देः	१९९	सार्वधातु०	१०१	संयोगे गुरु	११०	स्वादिष्वस०	४३
सभाया वः	२५०	सार्वधातुके	१८७	संसृष्टे	२४८	स्वौत्रसमौट्	३३
समर्थः पदविधिः	२१५	सावनडुहः	६७	संस्कृतम्	२४८	ह प्रति	१२९
समर्थानां	२३२	सास्य देवता	२३८	संस्कृतं भक्षाः	२३८	हनी वध०	१३७
समवाये च	१७१	सिचि च	१५२	संहितशफ०	२७२	हन्तेर्जः	१३८
समवप्रविभ्यः	१८४	सिचि वृद्धिः	१२१	स्कोः संयो०	७८	हलन्त्यम्	४
समस्तृती०	१८५	सिजभ्यस्त०	१०३	स्तन्भेः	१७२	हलश्च	२०८
समः समि	८४	सिपिधातो०	१६८	स्तन्भुस्तु	१७२	हलदन्ता	२२७
समः सृष्टि	२७	सुट् तिथोः	१२९	स्तुसुधू०	१६०	हलः	२००
समानकर्तृ०	२०९	सुडनपुंसकस्य	४३	स्तोकान्ति०	२२०	हलः इनः	१७२
समासेऽन०	२१०	सुप आत्मनः	१८१	स्तोः श्चुना०	२२	हलस्तद्धि०	२६७
समाहारः स्व०	६	सुपि च	३६	स्त्रियाम्	२६६	हलादिः शेषः	१०२
संबुद्धौ च	५५	सुपो धातु०	१८२	स्त्रियां च	५९	हलि च	१७१
सरूपाणामेक०	३४	सुपः	३४	स्त्रियां क्तिन्	२०७	हलि लोपः	६९
सर्वत्र विभाषा	१८	सुप्तिङन्तं प०	११	स्त्रियाः	५८	हलि सर्वेषाम्	३०
सर्वनामस्थाने	४५	सुप्यजातौ	१९८	स्त्रियाः०	२२७	हलन्ताच्च	१८५
सर्वनाम्नः स्याद्	५६	सुहृदुर्हृदौ	२२९	स्त्रीपुंमाभ्यां	२३३	हलोऽनन्तराः	१०
सर्वभूमिपृ०	२५२	सृजिदृशो०	१५९	स्त्रीभ्यो ङक्	२३६	हलो यमां	२३२
सर्वस्य	२६१	सेऽसिचि कृत	१५६	स्थाध्वोरि०	१५४	हल्ङ्याभ्यो	४६
सर्वादोनि	३८	सेर्ह्यपिच्च	१०४	स्थानिवदा०	३६	हशि च	३०
सर्वैकान्य०	२६०	सोचि लोपे चेत	३२	स्थानेऽन्तर०	११	हिनुमीना	१७२
सवाभ्यां	१२९	सोऽपदादौ	२९३	स्पृशोऽनुदके	८७	हिंसायां	१६६
ससजुपो रुः	२९	सोमादृयण्	२३९	स्फुरतिस्फु०	१६५	हुञ्जलभ्यो	१३७

दुश्नुवोः	१२४	हे मपरे वा	२५	ह्यन्तक्षणे	११५	ह्रस्वाद०	१३४
हेतुमति च	१७६	हैयंगवीनं	२५५	ह्रस्वनघापो	३७	ह्रस्वो नपुंसके	६१
हेतुमनुष्ये०	२४३	हो ढः	६४	ह्रस्वस्य गुणः	४४	ह्रस्वं लघु	११०
हेतुहेतुमतो	१९१	हो हन्तेऽङ्गिनेषु	७२	ह्रस्वस्य	१९४	ह्रस्वः	१०२



। ३)

लघुकौमुदीस्थ-धातुसूची

भ्वादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—भू सत्तायाम् (पृ० ६६) अत सातत्यगमने (१०८), षिघ्र गत्याम् (१०६), चिती संज्ञाने (११०), शुच शोके (११०), गद व्यक्तायां वाचि (१११), पद अव्यक्ते शब्दे (११२), दुर्नदि समृद्धौ (११३), अर्च पूजायाम् (११४), व्रज गतौ (११४), कटे वर्षाविरणयोः (११४), गुपू रक्षणे (११५), क्षि क्षये (११६), तप सन्तापे (१२१), क्रमु पादविक्षेपे (१२१), पा पाने (१२१), ग्लै हर्षक्षये (१२३), ह्रू कौटिल्ये (१२३), श्रु श्रवणे (१२४), गम्लू गतौ (१२६) । आत्मनेपदिनः—एध वृद्धौ (१२७), क्रमु कान्तौ (१३०), अय गतौ (१३१), द्युत दीप्तौ (१३२), श्विता वर्णे (१३३), जिमिदा स्नेहने (१३३), जिष्विदा स्नेहनमोचनयोः (१३३), विक्ष्विदा च (१३३), रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च (१३३), घुट परिवर्तने (१३३), शुभ दीप्तौ (१३३), क्षुभ सञ्चलने (१३३), णम-तुम हिंसायाम् (१३३), संसु, भंसु, घ्वंसु अवसंसने (१३३), घ्वंसु गतौ च (१३३), स्रम्भु विश्वासे (१३३), वृतु वर्तने (१३३), दद दाने (१३३), वृषू लज्जायाम् (१३३), उभयपदिनः—श्रिञ् सेवायाम् (१३४), भृञ् मरणे (१३४), हृञ् हरणे (१३४), धृञ् धारणे (१३५), णीञ् प्रापणे (१३५), ड्रुपचष् पाके (१३५), भज सेवायाम् (१३५), यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु (१३५), वह प्रापणे (१३६) ।

अदादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—अद भक्षणे (१३७), हन हिंसागत्योः (१३८), यु मिश्रणामिश्रणयोः (१३९), या प्रापणे (१४०), वा गतिगन्धनयोः (१४०), भा दीप्तौ (१४०), ण्णा शौचे (१४०), श्रा पाके (१४०), द्रा कुत्सायां गतौ

(१४०), प्सा भक्षणे (१४०), रा दाने (१४०), पा रक्षणे (१४०), ह्या प्रकथने (१४०), विद ज्ञाने (१४०), अस भुवि (१४२), इण् गतौ (१४३) । आत्मनेपदिनः—शीङ् स्वप्ने (१४४), इङ् षध्ययने (१४४) । उभयपदिनः—दुह प्रपूरणे (१४६), दिह उपचये (१४७), लिह आस्वादने (१४७), ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (१४७), ऊर्णुञ् आच्छादने (१४८) ।

जुहोत्यादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—हु दानादनयोः (१४६), जिमी मये (१५०) ह्री लज्ज-
याम् (१५१), पू पालन-पूरणयोः (१५१), ओहाक् त्यागे (१५२) । आत्मने-
पदिनः—माङ् माने शब्दे च (१५३), ओहाङ् गतौ (१५३) । उभयपदिनः—
डुभृञ् धारणपोषणयोः (१५३), डुदाञ् दाने (१५४), डुधाञ् धारणपोष-
णयोः (१५४), णिजिर् शीचपोषणयोः (१५५) ।

दिवादिगणस्था धातवः

परस्मैपदिनः—दिवु क्रीडादिषु (१५५), षिवु तन्तुसन्ताने (१५५),
नृती गात्रविक्षेपे (१५५), त्रसी उद्वेगे (१५६), शो तनूकरणे (१५६), छो
छेदने (१५६) षोऽन्तकर्मणि (१५६), दो अवखण्डने (१५६), व्यध
ताडने (१५६), पुष पुष्टौ (१५६), शुष शोषणे (१५६), णश अदर्शने
(१५६) । आत्मनेपदिनः—पूङ् प्राणिप्रसवे (१५७), दूङ् परितापे (१५७),
दीङ् क्षये (१५७), डीङ् विहायसा गतौ (१५७), पीङ् पाने (१५७),
माङ् माने (१५७), जनी प्रादुर्भावे (१५७), दीपी दीप्तौ (१५८), पद
गतौ (१५८), विद सत्तायाम् (१५८), बुध अवगमने (१५९), युध सम्प्र-
हारे (१५९), सृज विसर्गे (१५९) । उभयपदिनः—मृष तितिक्षायाम्
(१५९), णह बन्धने (१५९) ।

स्वादिगणस्था धातवः

उभयपदिनः—पुञ् अमिषवे (१६०), चिञ् चयने (१६०), स्तृञ्
आच्छादने (१६०), धूञ् कम्पने (१६०) ।

तुदादिगणस्था धातवः

उभयपदिनः—तुद व्यथने (१६१), णुद प्रेरणे (१६१), भ्रस्ज पाके
(१६२), कृष विलेखने (१६२), मिल सङ्गमे (१६३), मुच्लृ मोचने
(१६३) लुप्लृ छेदने (१६३), विदलृ लाभे (१६३), षिच चरणे (१६३),

लिप उपदेहे (१६४) । परस्मैपदिनः—कृती छेदने (१६४), खिद परिघाते (१६४), पिश अवयवे (१६४), ओत्रश्चू छेदने (१६४), व्यच व्याजीकरणे (१६४), उच्छि उच्छे (१६४), ऋच्छ गत्यादिषु (१६५), उज्ज उत्सर्गे (१६५), लुभ विमोहने (१६५), तृप तृम्फ तृसौ (१६५), मृड पृड सुखने (१६५), शुन गतौ (१६५), इषु इच्छायाम् (१६५), कुट कौटिल्ये (१६५), पुट संश्लेषणे (१६५), स्फुट विकसने (१६५), स्फुर स्फुल संचलने (१६५), णू स्तवने (१६५), दुमस्जो शुद्धौ (१६५), रुजो मज्जे (१६५), भुजो कौटिल्ये (१६५), विश प्रवेशने (१६५) मृश आमर्शने (१६५), षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (१६६) शद्लृ शातने (१६६), कृ विक्षेपे (१६६), गृ निगरणे (१६६), प्रच्छ जीप्सायाम् (१६६) । आत्मनेपदिनः—मृड् प्राणत्यागे (१६६), पृड् व्यायामे (१६६), जुषी प्रीतिसेवनयोः (१६६), ओविजी मयचलनयोः (१६६) ।

रुधादिगणपठिता धातवः

उभयपदिनः—रुधिर् आवरणे (१६७), मिदिर् विदारणे (१६७), छिदिर् द्वैधीकरणे (१६७), युजिर् योगे (१६७), रिचिर् विरेचने, विचिर् पृथग्मात्रे (१६७), क्षुदिर् सम्पेषणे (१६७), उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः (१६७) उत्तृदिर् हिमानादरयोः (१६७) । परस्मैपदिनः—कृती वेष्टने (१६७) तृह हिंसि हिंसायाम् (१६८), उन्दी क्लेदने (१६८), अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु (१६८), तञ्चू संकोचने (१६८), ओविजी मयचलनयोः (१६८), शिष्लृ विशेषणे (१६८), पिष्लृ संचूर्णने (१६९), मञ्जो आमर्दने (१६९) भुज पालनाभ्यवहारयोः (१६९) आत्मनेपदिनः—जिइन्धी दीप्तौ (१६९), विद विचारणे (१६९) ।

तनादिस्था धातवः

उभयपदिनः—तनु विस्तारे (१६९), षणु दाने (१७०), क्षणु हिसायाम् (१७०), क्षिणु च (१७०), तृणु अदने (१७०), डुकृञ् करणे (१७०), वनु याचने (१७१) मनु अवबोधने (१७१) ।

क्रयादिस्था धातवः

उभयपदिनः—डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (१७१), प्रीञ् तर्पणे (१७१), श्रीञ् पाके (१७१), मीञ् हिंसायाम् (१७१), षिञ् बन्धने (१७२) स्कुञ् आप्ल

वने (१७२) । परस्मैपदिनः—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु रोधने (१७२) । उभय-
पदिनः—युन् बन्धने (१७२), क्तुन् इब्दे (१७२), द्रुन् हिंसायाम् (१७२),
दृ विदारणे (१७२), पूज् पवने (१७२), लून् छेदने (१७३), स्तृन्
आच्छादने (१७३), कृन् हिंसायाम् (१७३), वृन् वरणे (१७३), धृन्
कम्पने (१७३), ग्रह उपादाने (१७३) । परस्मैपदिनः—कुष निष्कर्षे (१७३),
अश भोजने (१७३), मुष स्तेये (१७३), ज्ञा अवबोधने (१७३) । आत्मने-
पदी—वृङ् संभक्तौ (१७३) ।

चुरादिस्था धातवः

उभयपदिनः—चुर स्तेये (१७४), कथ वाक्यप्रबन्धे (१७४), गण
संख्याने (१७५) ।

कण्ड्वादिस्थो धातुः

उभयपदी—कण्ड्व् गात्रविघर्षणे (१८४) ।

(४)

वार्तिकादीनां सूची

ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् (पृ० ८) । यणः प्रतिषेधो वाच्यः (१२) ।
अव्वपरिमाणे च (१३) । अक्षाद्बृहिन्यामुपसंख्यानम् (१६) । ऋते च तृतीया-
समासे (१६) । प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे (१७) । शकन्वादिषु
पररूपं वाच्यम् (१७) । न समासे (२१) । अनाम्नवतिनगरीणामिति
वाच्यम् (२३) । प्रत्यये भाषायां नित्यम् (२३) । छत्वममीति वाच्यम् (२४) ।
यवलपरे यवला वा (२५) । चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्
(२६) । संपुंकानां सो वक्तव्यः (२७) । तीयस्य डित्सु वा (४१) ।
पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च (४२) । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ।
एकदेशविकृतमनन्यवत् (४२) (६४) । प्रथमलिङ्गग्रहणं च (४६) । गति-
कारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते (५१) । नुमचिरतृज्वदभावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषे-
धेन (५२) । दृक्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः (५३) । ऋवर्णान्नस्य
णत्वं वाच्यम् (५३) । औडः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः (६०) । एकतरात्प्रति-
षेधो वक्तव्यः (६१) । वृद्धद्यौत्वतृज्वदभावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन (६२) ।
मानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे (६६) । ड्वावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः
(७०) । परौ व्रजे षः पदान्ते (७७) । समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा. वक्तव्याः
(८२) । एते वान्नावादय आदेशा अन्वादेशे वा वक्तव्याः (८२) । अस्य
म्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः (८६) । अन्वादेशे नपुंसके वा एनद्
वक्तव्यः (९४) । उपसर्गविभक्ति-स्वरप्रतिरूपकाश्च (९७) । दुरः षत्वणत्वयो-
पसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः (१०५) । अन्तःशब्दस्याऽङ्गिविधिणत्वेऽपसर्गत्वं वाच्यम्
(१०५) । सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः (१०६) । कास्यनेकाच आम्
क्तव्यो लिटि (११६) । कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः (१३१) । उभयत आश्रयणे
न्तादिवत् (१४३) । ऊर्णतिराम् नेति वाच्यम् (१४८) । इर इत्संज्ञा
च्य (१५५) । वुग्युटावुवङ्गयोः सिद्धौ वक्तव्यौ (१५७) । स्थाघ्वोरित्वे
ङ् प्रतिषेधः (१५७) । स्पृशमृशकृषतृपदपां च्लेः सिज्जा वाच्यः (१६३) ।
तृम्फादीनां नुम् वाच्यः (१६५) । मस्जेरन्त्यात् पूर्वां नुम् वाच्यः (१६५) ।

अभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वं इति वक्तव्यम् (१६६) । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्
 वा वक्तव्यः (१८२) । तत्करोति तदाचष्टे (१८३) । प्रातिपदिकाद् घात्वर्थं
 बहुलमिष्टवच्च (१८३) । केलिमर उपसंख्यानम् (१९३) । मूलविभुजादिभ्यः
 कः (१९६) । कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशुभ्य उण् (२०४) । घञर्थे कविधानम्
 (२०६) । ऋत्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः (२०७) । सम्पदादिभ्यः क्विप्
 (२०७) । क्तिन्नपीष्यते (२०७) । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा (२१२) । इवेन
 समासो विभक्त्यलोपश्च (२१६) । जराया जरस् च (२१८) । समाहारे
 चायमिष्यते (२१८) । क्रुद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् (२१९) । अर्थेन
 नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् (२१९) । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव
 एवेष्टः (२१९) । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः (२२१) । द्वन्द्वतत्पुरुषयो-
 रस्तरपदे नित्यसमासवचनम् (२२१) । शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्यो-
 पसंख्यानम् (२२२) । प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (२२३) । अत्यादयः
 क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (२२३) । अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया (२२३) ।
 पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या (२२३) । निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (२२४) ।
 गतिकारकोपपदानां क्रुद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः (२२५) । संख्यापूर्वं
 रात्रं क्लीबम् (२२५) । द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः
 (२२६) । प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः (२२७) ।
 नगोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः (२२७) । धर्मादिष्वनियमः (२३०) ।
 बहिषष्टिलोपो यञ्च (२३२) । ईकक् च (२३२) । राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्
 (२३६) । क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत् (२३७) । पुरोरण्
 वक्तव्यः (२३७) । पाण्डोर्ङ्यण् (२३७) । कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्
 (२३७) । तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वक्तव्यम् (२३८) । गजसहायाभ्यां
 चेति वक्तव्यम् (२४०) । अह्नः खः क्रतौ (२४०) । अवारपाराद् विगृहीता-
 दपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् (२४२) । अमेहक्वतसित्रेभ्य एव (२४३) । त्यन्ने-
 र्ध्रुव इति वक्तव्यम् (२४३) । वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या (२४३) ।
 अव्ययानां ममात्रे टिलोपः (२४४) । अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः
 (२४७) । अधर्माच्चेति वक्तव्यम् (२४९) । नामि नभं च (२५१) ।
 धनुशतिकानीनां च (२५२) । पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् (२५३) ।
 गुणवचनेभ्यो मनुबो लुगिष्टः (२५८) । अङ्गात् कल्याणे (२५८) । लक्ष्म्या
 अच्च (२५८) । पिच्छादिभ्य इलच् (२५८) । अन्येभ्योऽपि दृश्यते (२५८) ।

अर्णसो लोपश्च (२५८) । एतदोऽपि वाच्यः (२६१) । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः
 स्वार्थे कन् (२६५) । आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् (२६५) । अभूततद्भाव
 इति वाच्यम् (२६५) । अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् (२६५) । डाचि
 विवक्षिते द्वे बहुलम् (२६६) । नित्पमात्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् (२६६) ।
 नञ्स्नजीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् (२६७) । कृदिकारादक्तिनः (२६८) ।
 सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके (२६८) । पालकान्तान्न (२६८) । सूर्याद् देवतायां
 चाब् वाच्यः (२६९) । सूर्यागस्त्ययोश्छे च इयां च (२६९) । हिमारण्ययो-
 र्महत्त्वे (२६९) । यवाद्दोषे (२६९) । यवनाल्लिप्याम् (२६९) । मातु-
 लोपाध्याययोरानुग् वा (२६९) । आचार्यादणत्वं च (२७०) । अर्यक्षत्रि-
 याभ्यां वा (२७०) । योपधप्रतिषेधे ह्यगवथमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः
 (२७१) । मत्स्यस्य इयाम् (२७१) । श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च (२७१) ।
 नूनरयोर्वृद्धिश्च (२७२) ।

समासचक्रम्

षोढा^१ समासः संक्षेपादष्टाविंशतिधा पुनः ।
 नित्यानित्यत्वयोगेन लुगलुक्त्वेन च द्विधा ॥ १ ॥
 तत्राष्टधा तत्पुरुषः सप्तधा कर्मधारयः ।
 सप्तधा च बहुव्रीहिर्द्विगुराभाषितो द्विधा ॥ २ ॥
 द्वन्द्वोऽपि द्विविधो ज्ञेयोऽव्ययीभावो द्विधा मतः ।
 तेषां पुनः समासानां प्राधान्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ३ ॥
 चकारबहुलो द्वन्द्वः स चाऽसौ कर्मधारयः ।
 यस्य येषां बहुव्रीहिः शेषस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥ ४ ॥
 कर्तृकर्मक्रियायुक्तः प्रयोगः स्यात्सकर्मकः ।
 अकर्मकः कर्मशून्यः, कर्मद्वन्द्वो^२ द्विकर्मकः ॥ ५ ॥

अथ प्रयोगविधिः

प्रयोगाः पञ्च विधाः । सकर्मकोऽकर्मकः कर्मणि भावे द्विकर्मकश्चेति
 भेदात् । सकर्मकप्रयोगो यथा—कृष्णो भक्तान् रक्षति । अकर्मकप्रयोगो
 यथा—कृष्णस्तिष्ठति । कर्मणि प्रयोगो यथा—विष्णुना^३ प्रपञ्चः क्रियते ।
 भावे प्रयोगो यथा—कृष्णेन^४ स्थीयते । द्विकर्मकप्रयोगो यथा—धरामन्नं^५
 दूदोह ।

इति प्रयोगविधिः ।

अथ समासविधिः

समासाः षड्विधाः । तत्पुरुषः कर्मधारयो बहुव्रीहिर्द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययी-

(१) संक्षेपात्समासः षोढा = षड्विधः । वैशद्येन अष्टाविंशतिप्रकारकः । तस्य भेदाः
 अग्रे स्फुटीभव्यन्ति । (२) प्रधानाप्रधानभेदेन कर्मद्वययुक्तः कर्मद्वन्द्व इत्युच्यते । अजां ग्रामं
 नयतीत्यादिद्विकर्मक इत्यर्थः । (३) विष्णुना प्रपञ्चः क्रियते इत्यत्र प्रपञ्चे कर्मणि प्रत्ययः,
 अतः प्रथमा विभक्तिः । कर्तृविष्णोरनुक्तत्वात्तत्र 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीया विभक्तिः ।
 (४) स्थाधातुः अकर्मकः । ततो भावे प्रत्यये कर्तुः कृष्णस्य अनुक्तत्वाद् हेतोः कर्तृकरणयो-
 स्तृतीयेति सूत्रेण तृतीया विभक्तिः । (५) धराया अपादानत्वाविवक्षायाम् 'अकथितं च'
 इति सूत्रेण कर्ममजायां 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः । अप्रधानं कर्म धरा ।

भावश्चेति भेदात् । तल्लक्षणानि तु—^१ पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । ^२ उत्तर-
पदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । ^३ उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः । ^४ अन्यपदार्थप्रधानो
बहुव्रीहिः । द्विगुकर्मधारयौ तत्पुरुषभेदौ ।

समासार्थविबोधकं वाक्यं विग्रह इति । तत्राष्टधा तत्पुरुषक्रमः । प्रथ-
मातत्पुरुषो द्वितीयातत्पुरुषस्तृतीयातत्पुरुषश्चतुर्थीतत्पुरुषः पञ्चमीतत्पुरुषः
षष्ठीतत्पुरुषः सप्तमीतत्पुरुषो नञ्त्पुरुषश्चेति ।

तत्र प्रथमातत्पुरुषो यथा—अर्धं पिप्पल्याः ^५ अर्धपिप्पली । पूर्वं काय-
स्येति ^६ पूर्वकायः । द्वितीयातत्पुरुषो यथा—कृष्णं श्रितः ^७ कृष्णश्रितः ।
ग्रामं गतो ग्रामगतः । कान्तारमतीतः कान्तारातीतः । तृतीयातत्पुरुषो
यथा—शङ्कुलया^८ खण्डः शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । मासेन
पूर्वो^९ मासपूर्वः । चतुर्थीतत्पुरुषो यथा—यूपाय दारु यूपदारु^{१०} । कुण्डलाय
हिरण्यम् कुण्डलहिरण्यम् । गुरवे दक्षिणा गुरुदक्षिणा । पञ्चमीतत्पुरुषो
यथा—अर्थात् अपेतः ^{११} अर्थास्पेतः । सिहात् भयं ^{१२} सिंहभयम् । वृश्चिकात्
भीः ^{१३} वृश्चिकभीः । षष्ठीतत्पुरुषो यथा—कृष्णस्य भक्तः ^{१४} कृष्णभक्तः ।
आम्रस्य फलं आम्रफलम् । राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । सप्तमी तत्पुरुषो

(१) पूर्वपदार्थः प्रधानो यस्मिन् स अव्ययीभावः समासः । अधिहरीत्यत्र पूर्वपदार्थः =
प्रधिकरणत्वं प्रधानम् । (२) उत्तरपदार्थः प्रधानं प्रमुखं यस्मिन् स तत्पुरुषः समासः । राज-
पुरुष इत्यादौ पुरुषपदस्य प्राधान्यम् । (३) उभयपदार्थः प्रधानं यस्मिन् स द्वन्द्वः समासः ।
मातापितरारवित्यादौ मातापित्रोः उभयोः प्राधान्यम् । (४) अन्यपदार्थः प्रधानं यस्मिन्
बहुव्रीहिः समासः । चन्द्रशेखर इत्यादावन्यपदार्थस्य प्राधान्यम् । (५) अत्र 'अर्धं नपुंस-
क्रम' इति सूत्रेण समासः । 'परवलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति सूत्रेण परपदस्य = पिप्पली-
पदस्य लिङ्गता = स्त्रीलिङ्गता । (६) अत्र 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' इति सूत्रेण
समासो भवति । (७) कृष्णश्रितः, ग्रामगतः, कान्तारातीतः इत्यादौ 'द्वितीयाश्रितातीत-
श्रितितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति सूत्रेण समासो भवति । (८) शङ्कुलाखण्डः, धान्यार्थः इत्यादौ
तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति सूत्रेण समासो ज्ञेयः । (९) अत्र 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलह-
नपुणमिश्रश्लक्ष्णैः' इति सूत्रेण समासः । (१०) यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्, गुरुदक्षिणा इत्यादौ
चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षितैः' इति सूत्रेण समासः । (११) अत्र 'अपेतापोढमुक्त-
तितापन्नत्रस्तैरल्पशः' इति सूत्रेण समासः । (१२) 'पञ्चमी भयेन' इति सूत्रेण समासः ।
(१३) अत्र 'भयभीतभीतिभीभिरुपसंख्यानम्' वार्तिकाश्रयात् समासविधिः । (१४) कृष्ण-
भक्तः, आम्रफलम्, राजपुरुष इत्यादौ 'षष्ठी' इति सूत्रेण प्रसिद्धः समासः ।

यथा—अक्षेषु शौण्डः^१ अक्षशौण्डः । कर्मणि कुशलः कर्मकुशलः । विद्यायां
निपुणः विद्यानिपुणः । नन्तत्पुरुषो यथा—न ब्राह्मणः अब्राह्मणः । न
वृषभः अवृषभः । पापाभावः अपापम् । धर्मविरुद्धोऽधर्मः । इति तत्पुरुषः ।

अथ कर्मधारयः

स च विशेषणपूर्वपदो विशेष्यपूर्वपदो विशेषणोभयपद उपमानपूर्वपद
उपमानोत्तरपदः सम्भावनापूर्वपदोऽवधारणापूर्वपदश्चेति भेदात्सप्तविधः ।
तत्र विशेषणपूर्वपदः कर्मधारयो यथा—कृष्णश्चासौ सर्पश्च कृष्णसर्पः ।
कृष्णौ च तौ सर्पौ च कृष्णसर्पौ । कृष्णाश्च ते सर्पाश्च कृष्णसर्पाः । रक्ता
चासौ लता च रक्तलता । रक्ते च ते लते च रक्तलते । रक्ताश्च ताः लताश्च
रक्तलताः । नीलं च तत् उत्पलं च नीलोत्पलम् । नीले च ते उत्पले च
नीलोत्पले । नीलानि च तानि उत्पलानि च नीलोत्पलानि । १ । विशेष्य-
पूर्वपदः कर्मधारयो यथा—वैयाकरणश्चाऽसौ खसूचिश्च वैयाकरणखसूचिः^२ ।
गोपालश्चासौ बालश्च गोपालबालः । २ । विशेषणोभयपदः कर्मधारयो
यथा—शीतं च तत् उष्णं च शीतोष्णम् । ३ । उपमानपूर्वपदः कर्मधारयो
यथा—मेघ इव श्यामो मेघश्यामः^३ । कम्बुवत् ग्रीवा कम्बुग्रीवा । चन्द्रवत्
मुखं चन्द्रमुखम् । ४ । उपमानोत्तरपदः कर्मधारयो यथा—पुरुषः व्याघ्र
इव पुरुषव्याघ्रः^४ । नरः सिंह इव नरसिंहः । ५ । सम्भावनापूर्वपदः कर्म-
धारयो यथा—गुण इति बुद्धिः गुणबुद्धिः । ६ । अवधारणापूर्वपदः कर्म-
धारयो यथा—विद्यैव धनं विद्याधनम् । अविद्यैव शृङ्खला अविद्या-
शृङ्खला । ७ । मध्यमपदलोपी समासो यथा—शाकप्रियः पार्थिवः शाक-
पार्थिवः^५ । देवपूजको ब्राह्मणः देवब्राह्मणः । इति कर्मधारयः ।

अथ बहुव्रीहिः

स च द्विपदो, बहुपदः, सहपूर्वपदः, संख्योत्तरपदः, संख्योभयपदो,
व्यतिहारलक्षणो, दिगन्तराललक्षणश्चेति भेदात्सप्तविधः ।

(१) अक्षशौण्डः, कर्मकुशलः, विद्यानिपुणः इत्यादौ 'सप्तमी शौण्डैः' इति सप्तमीतत्पुरुष-
समासः । (२) अत्र 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति सूत्रेण समासविधिः । (३) मेघश्याम
इत्यादौ 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति सूत्रेण उपमानपूर्वपदः कर्मधारयो ज्ञेयः । (४)
उभयत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण समासो भवति । (५) 'शाक-
पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपरयोपसंख्यानम्' इति वार्तिकवद्वेन समासः ।

तत्र द्विपदबहुव्रीहिर्यथा—'चित्राः गावो यस्य सः चित्रगुः गोपः ।
प्राप्तम् उदकं यं सः प्राप्तोदको ग्रामः । भुक्तम् ओदनं येन सः भुक्तौदनो
राजा । निर्जितः कामो येन सः निर्जितकामः शिवः । विभक्तं धनं यैस्ते
विभक्तधना बन्धवः । दत्तः सूपो यस्मै सः दत्तसूपो ब्राह्मणः । उद्धृतं धनं
यस्मात्तत् उद्धृतधनं कुण्डम् । चक्रं पाणौ यस्य सः चक्रपाणिः हरिः । करे
स्थितं धनं यस्य सः करस्थितधनो वणिक् । पुष्पिताः द्रुमाः यस्मिन् सः
पुष्पितद्रुमः आरामः । बहवो यज्वानो यस्यां सा बहुयज्वा शाला । पुष्पिताः
द्रुमाः यस्मिन् तत् पुष्पितद्रुमं वनम् । खरस्य मुखमिव मुखं यस्य सः खर-
मुखस्तुरगः । उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य सः उष्ट्रमुखः तक्षः । उच्चैर्घटो
यस्याः सा उच्चैर्घटा नारी । अङ्गात्रोदरस्तनकण्ठोष्ठदन्तमुखाक्षिकेशाः
स्त्रियां बहुव्रीहौ ईबन्ता भवन्ति । ते च यथा—सुन्दरम् अङ्गं यस्याः सा
सुन्दराङ्गी । शोभनं गात्रं यस्याः सा सुगात्री । कृशम् उदरं यस्याः सा
कृशोदरी । चारु स्तनौ यस्याः सा चारुस्तनी । इन्दीवरे इव अक्षिणी
यस्याः सा इन्दीवराक्षी । कम्बुरिव कण्ठो यस्याः सा कम्बुकण्ठी । कुटिलाः
केशा यस्याः सा कुटिलकेशी । इतरेषाम् अङ्गादिवाचकानाम् स्त्रीत्वेऽपि
आबन्तत्वमेव । चारुदेहा, विस्तृतालका, आवृतकुचा, कुन्ददशनेत्यादि ।
उरुपृथुलघुबहुपटुऋजुस्वादुचारुमृदुशब्दानां स्त्रीलिङ्गविशेषणत्वे ईबन्तत्व-
मपि । यथा—मृद्वी शाटी, लघ्वी भाषेत्यादि । इति द्विपदबहुव्रीहिः ।

बहुपदो यथा—अधिकः उन्नतः अंसो यस्य सः अधिकोन्नतांसः ।

सहपूर्वपदो यथा—सह कृष्णेन वर्तत इति सकृष्णः^२ । सह पुत्रेणेति
सपुत्रः । रामेण सह वर्तत इति सरामः ।

संख्योत्तरपदो यथा—दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः^३ ।

संख्योभयपदो यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः ।

व्यतिहारलक्षणो यथा—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदम् युद्धम् प्रवृत्तम्

(१) बहुव्रीहिसमासोदाहारणेषु सर्वत्र 'अनेकमन्यपदार्ये' इति सूत्रेण समासो ज्ञेयः ।

(२) सहशब्दयोगे 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति सूत्रेण समासो भवति । (३) उपदशाः,
त्राः—इत्युभयत्र 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति सूत्रेण समासविधिर्ज्ञेयः ।
शानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः । नव एकादश वेत्यर्थः ।

इति केशाकेशि^१ युद्धम् । दण्डैर्दण्डैः कृत्वा इदम् युद्धम् प्रवृत्तम् इति दण्डा-
दण्डि ।

दिगन्तराललक्षणो यथा—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालम्
सा दक्षिणपूर्वा^२ । इति बहुव्रीहिः ।

अथ द्विगुः

द्विगुसमासो द्विविधः—एकवद्भावी, अनेकवद्भावी चेति । एकवद्-
भावी द्विगुर्यथा—त्रयाणां शृङ्गाणां समाहारश्चिशृङ्गम्^३ । पञ्चानां फलानां
समाहारः पञ्चफली । अनेकवद्भावी द्विगुर्यथा—सप्त च ते ऋषयश्च
सप्तर्षयः ।

अथ द्वन्द्वः

द्वन्द्वो हि द्विविधः—इतरेतरयोगसमाहारभेदात् । इतरेतरयोःगद्वन्द्वो
यथा—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च^४ प्लक्षन्यग्रोधौ । रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ ।
समाहारद्वन्द्वो यथा—हरिश्च हरश्च गुरुश्च एषां समाहारः हरिहरगुरु ।
प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्वैकवद्भावः । प्राण्यङ्गे यथा—पाणी च पादौ च मुख
च पाणिपादमुखम्^५ । तूर्याङ्गे यथा—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च मार्दङ्गि-
कवैणविकम् । शङ्खश्च पटहश्च शङ्खपटहम् । सेनाङ्गे यथा—राजन्याश्च
रथाश्च अश्वाश्च राजन्यरथाश्चम् । इति द्वन्द्वः ।

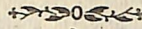
अथाऽव्ययीभावः

स यथा—तटं तटं प्रत्यनुतटम्^६ । गिरिं गिरिं प्रत्यनुगिरि । क्रममन-
तिक्रम्य वर्तत इति यथाक्रमम्^७ । वेलायामित्यधिवेलम्^८ । कुम्भस्य समीपे

(१) केशाकेशि, दण्डादण्डि—इत्युभयत्र 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति सूत्रेण समासो
भवति । केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं दण्डा-
दण्डि । (२) अत्र 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति समासः । (३) त्रिशृङ्गम्, पञ्चफली इत्युभयत्र
'तद्धिताधीन्तरपदसमाहारे च' इति सूत्रेण समासविधिर्भवति । (४) प्लक्षन्यग्रोधौ इत्यादौ
'चार्थे द्वन्द्वः' इति सूत्रेण समासो बोध्यः । (५) 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति
एकवद्भावः । (६) 'अव्ययं विभक्तौ' त्यादिना वीप्सायां समासः । (७) यथाशब्दस्य पदा-
र्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः । (८) विभक्तौ अव्ययीभावः ।

वर्तत इत्युपकुम्भम्^१ । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्^२ । हिमस्य अत्ययः
अतिहिमम् ।^३ अव्ययीभावस्याव्ययत्वात्त्रिषु लिङ्गेषु समानं रूपम् ।

इति षट् समासा निर्णीताः ।



अथ अलुक्समासो लुक्समासश्च ।

लुक्समासो यथा—तनुरेव लता तनुलता । कृष्णा एव मेघाः कृष्णमेघाः ।
अलुक्समासो यथा—वने चरतीति *वनेचरः । पङ्के रोहतीति पङ्केरुहम् ।

मत्वर्थीयो यथा—बुद्धिरस्यास्तीति बुद्धिमान् । धनमस्यास्तीति
धनवान् । धीरस्य भावो धीरता । जनानां समूहो जनता । घटस्य भावो
घटत्वम् ।

वृक्षशाखा तत्पुरुषः श्वेताश्वः कर्मधारयः ।

रक्तवस्त्रो बहुव्रीहिर्द्वन्द्वश्चन्द्रदिवाकरौ ॥ १ ॥

यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।

तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥ २ ॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ ३ ॥

आदौ कर्तृपदं वाच्यं द्वितीयादिपदं ततः ।

क्त्वातुमुल्ल्यप् च मध्ये कुर्यादन्ते क्रियापदम् ॥ ४ ॥

अथ कारकप्रकरणम्

कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।

अणदानाधिकरणमित्याहुः^{१०} कारकाणि षट् ॥ १ ॥

निर्देशे^{११} प्रथमा प्रोक्ता सैव चामन्त्रणेष्वपि^{१२} ।

द्वितीया कर्मणि प्रोक्ता^{१४} तृतीया कर्तृकरणयोः ॥ २ ॥

- (१) सामीप्येऽव्ययीभावः । (२) अभावेऽव्ययीभावः । (३) अत्ययेऽव्ययीभावः ।
(४) 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । (५) 'स्वतन्त्रः कर्ता' । (६) 'कर्तु-
रीप्सिततमं कर्म' । (७) 'साधकतमं करणम्' । (८) 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' ।
(९) 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' । (१०) 'आधारोऽधिकरणम्' । (११) 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरि-
माणवचनमात्रे प्रथमा' । (१२) 'सम्बोधने च' । (१३) 'कर्मणि द्वितीया' । (१४) 'कर्तृ-
करणयोस्तृतीया' ।

१ज्ञानज्ञाप्येऽङ्गविकारे^२ हेतावपि^३ च ४इष्यते ।

तादर्थ्ये^५ सम्प्रदाने^६ च चतुर्थी स्याच्च सर्वदा ॥ ३ ॥

हेत्वपादानयोः^७ पञ्चमी षष्ठी^८ तु कर्तृकर्मसम्बन्धे ।

९अधिकरणनिमित्तसत्त्वे सप्तमी स्यात् विषयेऽपि ॥ ४ ॥

१०यदा कर्तरि प्रथमा स्यात् कर्मणि द्वितीया तदा ।

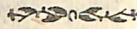
११यदा कर्तरि तृतीया स्यात् कर्मणि प्रथमा तदा ॥ ५ ॥

विशेषणं पुरस्कृत्य विशेष्यं तदनन्तरम् ।

कर्तृकर्मक्रियायुक्तमेतदन्वयलक्षणम् ॥ ६ ॥

१२प्रथमान्तस्तृतीयान्तः कर्ता । १३द्वितीयान्तं १४षष्ठ्यन्तं कर्म । तृतीयान्तं करणम् । चतुर्थ्यन्तं सम्प्रदानम् । पञ्चम्यन्तमपादानम् । षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः । सप्तम्यन्तमधिकरणम् ।

इति कारकाणि ॥



इति समासचक्रं समाप्तम्

(१) 'इत्थम्भूतलक्षणे' तृतीया । (२) येनाङ्गविकारः इति सूत्रेण तृतीया । (३) 'हेतौ' इति सूत्रेण हेत्वर्थे तृतीया । (४) इष्यते इति पूर्वेण संबन्धः । (५) 'तादर्थ्यं चतुर्थी वाच्या' इति वार्तिकेन तादर्थ्यं चतुर्थी ज्ञेया । (६) 'चतुर्थी सम्प्रदाने' । (७) 'विभाषा गुणहेतावस्त्रियाम्' इत्यनेन हेतौ, 'अपादाने पञ्चमी' इत्यनेन अपादाने पञ्चमी विभक्तिर्भवति । (८) 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेन कर्तरि कर्मणि च षष्ठी । 'षष्ठी शेषे' इत्यनेन सम्बन्धे षष्ठी । (९) 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यधिकरणे सप्तमी । 'निमित्तात्कर्मयोगे' इत्यनेन निमित्ते सप्तमी । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इत्यनेन सत्त्वे सप्तमी भवति । (१०) देवदत्तः पुस्तकं पठति इत्यत्र कर्तरि प्रत्यये कर्तुर्देवदत्तस्य उक्तत्वात् तत्र प्रथमा, कर्मणि पुस्तके द्वितीया भवति । (११) 'देवदत्तेन पुस्तकं पठ्यते इत्यत्र' कर्मणि यक् प्रत्यये सति कर्मणः पुस्तकस्य उक्तत्वे तत्र प्रथमा कर्तुरनुक्तत्वात् । कर्तरि देवदत्ते च तृतीया । (१२) अत्र विशेषः उक्ते कर्तरि प्रथमा । यथा 'देवदत्तः' पुस्तकं पठति । अनुक्ते कर्तरि तृतीयाषष्ठ्यौ भवतः । यथा 'रामेण बाणेन हतो बाली' इत्यत्र कर्तरि तृतीया । कवेः कृतिरित्यत्र कर्तरि षष्ठी । (१३) 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रबलात् अनुक्ते कर्मणि द्वितीया भवति । (१४) 'कर्तृकर्मणोः कृति'-इति नियमात् इयं कारक षष्ठी-अतः कर्मत्वम् । यथा-जगतः कर्ता कृष्णः । शीर्षं स्पष्टम् ।

(६)

गणपाठः

पृष्ठसंख्या.

१६. (वा०) शकन्धादिषु पररूपं वाच्यम्—शकन्धुः कर्कन्धुः कुलटा सीमन्तः
सीमान्तः मनीषा हलीषा लाङ्गलीषा. पतञ्जलिः सारङ्गः (पशुपक्षिणोः) साराङ्गः मार्तण्डः
(आकृतिगणोऽयम्) ।

२०. चादयोऽसत्त्वे १।१।१७—च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् युगपत् भूयस्
सपत् कूपत् कुवित् नेत् चेत चण् कञ्चित् यत्र तत्र नह हन्त माकिम् माकीम् माकिर्
नकिम् नकीम् नकिर् आकीम् माह नञ् तावत् यावत् त्वा त्वै द्वै न्वै रै (रे) श्रौषट् वौषट्
स्वाहा स्वधा ओम् तथाहि खलु किल अथ सुष्ठु स्म अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ आदह
उव् उकञ् वेलायाम् मात्रायाम् यथा यत् तत् किम् पुरा वधा (वध्वा) धिक् हाहा हेहै
(हहे) पाट् प्याट् आहो उताहो हो अहो नो (नौ) अथो ननु मन्दे मिथ्या भेसि ब्रूहि तु
नु इति श्व वत् वात् वन बत [सम् वशम् शिकम् सिकम्] सनुके छंवट् (छम्बट्) शङ्के
शुकम् खम् सनात् सनुत् नडिकम् सत्यम् ऋतम् अद्वा इद्वा नोचेत् नहि जातु कथम् कुतः
कुत्र अव अनु हा हे (है) आहोस्वित् शम् कम् खम् दिष्टत्रा पशु नट् सह (आनुषट्)
आनुषक् अङ्ग फट् ताजक् भाजक् अये अरे वाट् (चाट्ट) कुम् खुम् घुम् अम् ईम् साम् सीम्
सिम् सि वै । (उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः) आकृतिगणोऽयम् । २०. प्रादयः
१।१।१४—प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु
उद् अभि प्रति परि उप । इति प्रादयः ।

३८. सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७—तत्रैव सर्वनामानि द्रष्टव्यानि ।

४६. न षट्स्वस्त्रादिभ्यः ४।१।१०—सत्रे स्वस्त्रादीनां निर्देशः द्रष्टव्यः ।

६६. स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७—स्वर् अन्तर् प्रातर् अन्तोदात्ताः । पुनर् सनु-
त् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋधक् ऋते युगपत् आरात् (अन्तिकात्) पृथक् । आद्युदात्ताः ।
ह्यस् श्वस् दिवा रात्रौ सायम् चिरम् मनाक् ईषत् (शश्वत्) जोषम् तूष्णीम् वहिम् [अधस्]
अवस् समया निकषा स्वयम् गृषा नक्तम् नञ् हेतौ [हेहै] इद्वा अद्वा सामि । अन्तोदात्ताः ।
वत् [५।१।११५] ब्राह्मणवत् क्षत्रियवत् सना सनत् सनात् उपधा तिरस् । अद्युदात्ताः ।
अन्तरा । अन्तोदात्तः । अन्तरेण (मक्) ज्योक् [योक् नक्] कम शम् सना सहसा [श्रद्धा]
अलम् स्वधा वषट् विना नाना स्वस्ति अन्यत् अस्ति उपांशु क्षमा विहायसा दोषा मुधा
दिष्ट्या वृथा मिथ्या । क्त्वातोसुन्कसुनः । कृन्मकारसन्ध्यक्षरान्तोऽभ्ययीभावश्च । पुरा मिथो
मिथस् प्रायस् मुहुस् प्रवाहुकम् प्रवाहिका आर्यहलम् अभीक्षणम् साकम् सार्थम् [सत्रम्
समम्] नमस् हिरुक् । तसिलादयस्तद्धिता—एधाचपर्यन्ताः [५।१।७-४६] शस्त्री कृत्व-
मुच सुच आस्थालौ । च्यर्थश्च । [अथ] अम् आम् प्रताम् प्रतात् प्रशान् । आकृति-
गणोऽयम् । तेनान्येऽपि । तथाहि माह् श्रम् कामम् [प्रकामम्] भूयस् परम् साक्षात् साचि
(साचि) सत्यम् मंक्षु संवत् अवश्यम् सपदि प्रादुस् भाविस् अनिशम् नित्यम् नित्यदा सदा
अजस्रम् सततम् उषा ओम् भूर् भुवर् क्षटिति तरसा सुष्टु कु अञ्जसा अ मिथु (अमिथु)

विथक् भाजक् अन्वक् चिराय चिरम् चिररात्राय चिरस्य चिरेण चिरात् अस्तम् आनुषक् अनुषक् अनुषट् अम्नस् (अम्भस्) अम्नर् (अम्भर्) स्थाने वरम् दुष्टु बलात् शु अर्वाक् शुदि वदि इत्यादि । तसिलादयः प्राक्पाशपः (६।३।३६) शस्त्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः [५।४।४३-६८] मान्तः कृत्वोर्थः । तसिवती । नानाव्याविति ॥ इति स्वरदिः ॥

१८०. क्षुम्नादिषु च ६।४।३६—क्षुम्ना नृगमन नन्दिन नन्दन नगर । एतान्युत्तरपदानि संज्ञार्था प्रयोजयन्ति । हरिनन्दी हरिनन्दनः गिरिनगरम् । नृतिर्यङ्ङि प्रयोजयन्ति । नरीनृत्यते । नर्तन गहन नन्दन निवेश निवास अग्नि अनूप । एतान्युत्तरपदानि प्रयोजयन्ति । परिनर्तनम् परिगहनम् परिनन्दनम् शरनिवेशः शरनिवासः शराग्निः दर्भानूपः । आचार्यादणत्वं च । आचार्यभोगीनः । आकृतिगणोऽयम् । पाठान्तरम् । क्षुम्ना तृप्नु नृनमन नरनगर नन्दन । यङ्न्तुती । गिरिनदी गृहगमन निवेश निवास अग्नि अनूप आचार्यभोगीन चतुर्हायन । इरिकादीनि वनोत्तरपदानि संज्ञायाम् । इरिका तिमिर समीर कुबेर हरि कर्मार । इति क्षुम्नादिः ।

१८४. कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७—कण्ड्वञ् मन्तु हणीञ् वल्गु असु [मनस्] महीङ् लोट् लेट् इरस् इरञ् इरञ् दुवस् दुषस् वेट् मेधा कुपुभ (नमस्) मगध तन्तस् पम्पस् (पपस्) सुख दुःख [भिक्ष चरण चरम अवर] सपर अरर (अरर्) भिषज् भिष्णज् [अपर आर] इपुध वरण चुरण तुरण भुरण गद्गद एला केला खेला [वेला शेला] लिट् लोट् [लेखा लेख] रेखा द्रवस् तिरस् अगद उरस् तरण (तरिण) पयस् सम्भूयस् सम्बर । आकृतिगणोऽयम् । इति कण्ड्वादिः ।

१९१. नन्दिग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४—नन्दिवाशिमादिदूषिसाधिवधिशो-भिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम् । नन्दनः वाशनः मदनः दूषणः साधनः वर्धनः शाभनः रोचनः । सहितपिदमः संज्ञायाम् । सहनः तपनः दमनः जल्पनः रमणः दर्पणः संक्रन्दनः सङ्कर्षणः संदर्षणः जनाठनः यवनः मधुसूदनः विभीषणः लवणः चित्तविनाशनः कुलदमनः । [शत्रुदमनः] इति नन्धादिः ॥ ग्राही उत्साही उदासी उद्धासी स्थायी मन्त्री सम्मर्दी । रक्ष-श्रुवपशां नौ । निरक्षी निश्रावी निवापी निशायी । याचव्याहृसंव्याहृत्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम् । अयाचा अव्याहारी असंव्याहारी अत्राजी अत्रादी अवासी । अचामचित्तकर्तृकाणाम् । अकारी अहारी अविनायी [विशायी-विषायी] विशयी विषयी देशे । विशयी विषयी देशः । अभिभावो भूते । अपराधा उपरोधी परिभवी परिभावी । इति ग्रह्यादिः ॥ पच वच वप वद चल पत नदट् भषट् प्लवट् चरट् गरट् तरट् चोरट् गाहट् सरट् दैवट् (दोषट्) जर (रज) मर (मद) क्षम (क्षप) सेव मेघ कोप (कोष) मेघ नर्त व्रण दर्श सर्ष [दम्भ दर्प] जारभार श्वपच । पचादिराकृतिगणोऽयम् ।

१९६. (वा०) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् ३।२।१५—मूलविभुज नलमुच काकगुह कुमुद महीध्र कुध्र मिध्र । आकृतिगणोऽयम् । इति मूलविभुजादयः । २०७. (वा०) सम्पदादिभ्यः क्तिप्—सम्पद् विपद् आपद् प्रतिपद् परिषद् । एते सम्पदादयः ।

२१८. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः २।४।१०७—शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनडुह् दिव् हिमवत् हिरक् विद् सद् दिश् दृश् विश् चतुर् त्यद् तद् यद् कियत् एदद् (जराया जरस्) (प्रतिपरसम्भुभ्योऽङ्गः) पथिन् । इति शरदादिः ।

२२०. सप्तमो शौण्डः २।१.४०—शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीत अन्तर अधि पट्ट पण्डित कुशल चपल निपुण । इति शौण्डादिः ।

२२२ (वा०) शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्—शाकपार्थिव कुतुपसौश्रुत अजा-
तौल्वलि । आकृतिगणोऽयम् । कृतापकृत भुक्तविभुक्त पीतविपीत गतप्रत्यागत यातानुयात क्रया-
क्रयिका पुटापुटिका फलाफलिका मानोन्मानिका । इति शाकपार्थिवादयः ।

२२३. ऊर्यादिचिचिडाचश्च १।४।६१—ऊरी ऊररी तन्थी ताली आताली वेताली धूली
धूसी शकला शंसकला ध्वंसकला भ्रंसकला गुलूगुधा सजूष् फल फली विक्ली आक्ली आलोष्टी
केवाली केवासी मेवासी पयाली सेवाली पर्याली शेवाली वर्षाली अत्यूमशा वश्मसा मसमसा
मस्मसा श्रौषट् वौषट् स्वाहा स्वधा पांपी प्रादुस् श्रत आपिस् एते ऊर्यादयः ।

२२६. अर्धर्चाः पुंसे च २।४।३१—अर्धर्चं गोमय कषाय कार्षाषण कुपत कुसप (कुणप)
कपाट शङ्ख गूथ यूथ ध्वज कवन्ध पद्म गृह सरक कंस दिवस यूष अन्धकार दण्ड कमण्डलु
मण्ड सूत द्वीप द्यूत चक्र धर्म कर्मन् मोदक शतमान-यान नख-नखर चरण पुच्छ दाडिम
हिम रजत सक्तु पिधान सार पात्र घृत सैन्धव औषध आढक चषक द्रोण खलीन पात्रीव
षष्टिक वारवाण (वारवारण) प्रोथ कपित्थ [शुष्क] शाल शील शुक्ल (शुल्क) शीशु
कवच रेणु [ऋण] कपट शीकर मुसल सुवर्ण वर्ण पूर्व चमस क्षीर कर्ष आकाश अष्टापद
मङ्गल निघन निर्यास जम्भ वृत्त पुस्त बुस्त क्ष्वेडित शृङ्ग निगड [खल] मूलक मधु मूल
स्थूल शराव नाल वप्र विमान मुख प्रत्रीव शूल वज्र कटक कण्टक [कर्पट] शिखर कल्क
(वल्कल) नटमस्तक (नाटमस्तक) वलय कुसुम तृण पङ्क कुण्डल किरीट [कुमुद]
अर्बुद अढकुश तिमिर आश्रय भूषण इक्कस (इष्वास) मुकुल वसन्त तटाक (तडाग)
पिटक विटङ्क विडङ्ग पिण्याक माष कोश फलक दिन दैवत पिनाक समर स्थाणु अनीक उप-
वास शाक कर्पास [विशाल] चघाल (चखाल) खण्ड दर विटप [रण बल मक] मृणाल
हस्त आर्द्र हल [सूत्र] ताण्डव गाण्डीव मण्डप पटह सौध योध पार्श्व शरीर फल [छल]
पुर (पुरा) राष्ट्र अम्बर विम्ब कुट्टिम मण्डल (कुक्कुट) कुडप ककुद खण्डल तोमर तोरण
मञ्चक पञ्चक पुङ्ग मध्य [बाल] छाल वल्मीक वर्ष वस्त्र वसु देह उद्यान उद्योग स्नेह स्तेन
[स्तन स्वर] सङ्गम निष्क क्षेम शूक क्षत्र पवित्र [यौवन कलह] मालक (पालक) मूषिक
[मण्डल वल्कल] कुज (कुज्ज) विहार लोहित विषाण भवन अरण्य पुलिन वृढ आसन ऐरावत
शूर्प तीर्थ लोमन (लोमश) तमाल लोह दण्डक शपथ प्रतिसर दारु धनुस् मान वर्चस्क
कूर्च तण्डक मठ सहस्र ओदन प्रवाल शकट अपराह्ण नीड शकल तण्डुल । इत्यर्धर्चादिः ।

२२७. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु
६।३।३४—प्रिया मनोज्ञा कल्याणी सुभगा दुर्भगा भक्तिः सत्रिवा स्वसा (स्वा) कान्ता
(क्षान्ता) समा चपला दुहिता वामा अबला तनया । इति प्रियादिः ॥

२२८. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः १।४।१३८—हस्तिन् कुक्षाल अश्व कशिक कुरुत
कटोलक गण्डोल गण्डोलक कण्डोल कण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महिला दासी गणिका
कुसूल । इति हस्त्यादिः ॥

२२९. उरःप्रभृतिभ्यः कप् १।४।१५१—उरस् सर्पिस् उपानह् पुमान् अनड्वान् पयः
नौः लक्ष्मीः दधि मधु शाली शालिः अर्थान्नजः । इत्युरःप्रभृतयः ॥

२२६. कस्कादिषु च दा३।४८—कस्कः कौतस्कुतः आतुष्पुत्रः शुनस्कर्णः सधस्कालः सधस्कोः साधस्कः कास्कान् सर्पिष्कुण्डिका धनुष्कपालम् बहिष्पलम् (बहिष्पलम्) यजुष्पात्रम् अयस्कान्तः तमस्काण्डः अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः भास्करः अहस्करः । इति कस्कादिराकृतिगणः ॥

२३०. राजदन्तादिषु परम् २।२।३१—राजदन्तः अग्नेवणम् लिप्तवासितम् नग्नमुषितम् सित्तसंभृष्टम् मृष्टलुञ्चितम् अवक्लिन्नपक्वम् अपितोसम् । उप्तगाढम् उल्लखलमुसलम् तण्डुल-
किण्वम् दृषदुपलम् आरड्वायनि । आरग्वायबन्धकी । चित्ररथबाह्यीकम् । अवन्त्यश्मकम्
शूद्रायम् स्नातकराजानौ विष्वक्सेनार्जुनौ अक्षिभ्रुवम् दारगवम् शब्दाथौ धर्माथौ कामाथौ
अर्थशब्दौ अर्थधर्मौ अर्थकामौ वैकारिमतम् गाजवाजम् । गोजवाजम् । गोपालिधानपूलासम् ।
गोपालधानीपूलासम् । पूलासकारण्डम् । पूलासककुरण्डम् । स्थूलासम् । स्थूलपूलासम् ।
उशीरबीजम् [जिहास्थि] सिजास्थम् । तिजाइवत्यम् । चित्रास्वाती । चित्रस्वाती । भार्यापती
दम्पती जम्पती जायापता पुत्रपतो पुत्रपशू केशश्मश्रू शिरोविजु । शिरोबीजम् । शिरोजानु
सपिमंधुनी मधुसर्पिणी (आद्यन्तौ) अन्तादी गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ । इति राजदन्तादयः ॥

२३२. अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४—अश्वपति ज्ञानपति स्थनपति यज्ञपति बन्धुपति शत-
पति धनपति गणपति राष्ट्रपति कुलपति गृहपति पशुपति धान्यपति धर्मपति धन्वपति सभापति
प्राणपति क्षेत्रपति इत्यश्वपत्यादिः । २३३. उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६—उत्स उदपान विकिर
विन्द महानद महानसु महाप्राण तरुण तलुन वष्कयास धेनु पृथ्वी पंक्ति जगती त्रिष्टुप्
अनुष्टुप् जनपद भरत उशोनर ग्रीष्म पीलुकुण पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत्
सत्वत् कुरु पाञ्चाल इन्द्रावसाना उष्णीह ककुम् सुवर्ण देव ग्रीष्माद् छन्दसि । इत्युत्सादिः ।
२३३. गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५—गर्ग, वत्स । वाजासे । सकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत
प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शङ्ख शट शक एक धूम अवट मनस
धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु वरगु मण्डु गण्डु शङ्कु लिगु गुहलु मन्तु
महंक्षु अलियु जिगीवु मनु तन्तु इत्यादि । २३५. बाह्यादिभ्यश्च ४।१।१६६—बाहु उपवाहु
उपवाकु निवाकु शिवाकु वयाकु उपनिन्दु [उपविन्दु] वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका
कुषला भगला (छगला) ध्रुवका [ध्रुवका] सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन्
अग्निशर्मन् [भद्रशर्मन्] सुशर्मन् कुनामन् (सुनामन्) पञ्चन् सप्तन् अष्टन् । अमितौजसः
सलोपश्च । सुधावत् उदञ्चु शिरस् माव शराविन् मरीचि क्षेमवृद्धिन् शृंखलतोदिन् खरनादिन्
नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न राम
(उदङ्क) उदकः सम्शायाम् । सम्भूयोम्भसोः सलोपश्च । आकृतिगणोऽयम् । तेन सात्वकिः
जाङ्घिः ऐन्दर्शमिः आजवेनविः इत्यादि । इति बाह्यादयः ॥ २३५. अनुव्याऽनन्तर्ये विदा-
दिभ्योऽञ् ४।१।१०४—विद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात कंदर्प
विश्वानर ऋषिपेण ऋतभाग हर्यश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन
इत्यादि । २३५. शिवादिभ्योऽञ् ४।१।११२—शिव प्रौष्ठ प्रौष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि दण्ड
कुठार ककुम् (ककुभा) अनभिम्बान लोहित सुख संधि मुनि ककुत्थ कहोड कोहड कह्य
कह्य रोध कपिजल (खजन) वतण्ड तृण कर्ण क्षीरहृद जलहृद परिल (पविक)
पिष्ट हैहय (पाषिका) गोपिका कपिलिका जटिलिका इत्यादि । २३६. रेवत्यादिभ्यश्च

४१११४६—रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकपाली वृकग्राह कर्णग्राह चामरग्राह ।
 इति रेवत्यादिः । २३७. (वा०) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् ४१११७५—गणपाठः
 तत्रैव द्रष्टव्यः । २३६. भिक्षादिभ्योऽण् ४२१३८—भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मिन्
 धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणाभूत विषय श्रोत्र इति भिक्षादिः । २४०.
 क्रमादिभ्यो वुन् ४२१६१—क्रमक पदक शिक्षक मीमांसक । इति क्रमादिः । २४१. वरणा-
 दिभ्यश्च ४२१८२—वरणा शृङ्गा शल्मलि शुण्डि शुयाण्टी ताम्रपर्णी पोदा अलिङ्गचायनी
 जालपदी जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी गय मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती
 बलभी । इति वरणादिः । २४२. मादुपधायश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ङा २१८—यव दल्मि
 ऊर्मि भूमि कृमि कुञ्जा वशा द्राक्षा ध्राक्षा भ्रजि (त्रजि) ध्वजि निजि सिजि सजि हरित
 ककुद् मरुत् गरुत् इक्षुद्रु मधु । आकृतिगणोऽयं यवादिः । २४३. नद्यादिभ्यो ढक् ४२१६७-
 नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी काशपरी काशफरी खादिरी पूर्वनगरी
 पाठा माया शाल्वा दावा सेतकी (वडवाया वृषे) इति नद्यादिः । २४३. गहादिभ्यश्च
 ४२११३८—गह अन्तस्थ सम विषम (मध्यमर्ध्य दिनचरणे) उत्तम अंग वंग पूर्वपक्ष
 अपरपक्ष अधमशाख समानग्राम एकवृक्ष एकपलाश अवस्थन्दन कामप्रस्थ सौमित्रि व्याडि
 इत्यादि । आकृतिगणोऽयम् । इति गहादिः । २४५. दिगादिभ्यो यत् ४३१५४—दिश् वर्ग
 पूग गण पक्ष धाव्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख
 जघन मेघ यूथ (उदकात्संज्ञायाम्) न्याय वंश वेश काल आकाश इति दिगादिः । २४५ ।
 अध्यात्मादिभ्यश्च (वा०) ४३१६०—अध्यात्म अधिदेव अधिभूत इहलोक परलोक ।
 इत्यध्यात्मादिः । आकृतिगणः ॥ २४५ अनुशक्तिकादीनां च ७३१२०—अनुशक्ति कङ्कार-
 वेणु असिहत्य वध्योग पुष्करसत् कुरुकत उदकशुद्ध इहलोक सर्वपुरुष प्रयोग परस्त्री ।
 राजपुरुषात्प्यञि । सूत्रनड आकृतिगणोऽयम् । तेन अनुहोड अनुसंवरण इत्यादयोऽन्येऽपि । इत्य-
 नुशक्तिकादिः । २४८ नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः ४३११४४—शर दर्भ मृद् (मृत्) कुटी वृण
 सोम बल्वज । इति शरादिः ॥ २५१. उगवादिभ्यो यत् ५११२—गो ह्विस् अक्षर विष
 विष बहिष् अष्टका स्वदा युग मेधा स्रुच् (नाभि नभं च) (शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं
 तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्) (ऊधसोऽनङ् च) कूप खद दर त्य असुर अध्वन् क्षर वेद ।
 इति गवादिः । २५२. दण्डादिभ्यो यत् ५११६६—दण्ड मुसल मधुपर्क कशा अर्थमेघ मेधा
 सुवर्ण उदक वध युग गुहा भाग इभ भङ्ग इति दण्डादिः । २५३. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा
 ५१११२२—पृथु मृदु महत् पङ्क तनु लघु बहु साधु आशु उरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड
 अकिंचन बाल वत्स होड पाक मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु । इति
 पृथ्वादिः । २५४. वर्णहटादिभ्यः ष्यञ्च ५१११२३—वृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र
 चुक्र आत्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर 'वेयांतलात-
 मतिमनःशारदानाम्' 'समो मतिमनसोः' जवन । इति वृडादिः । २५४. गुणवचनब्राह्मणा-
 दिभ्यः कर्मणि च ५१११२४—ब्राह्मण वाडव माणव 'अर्हंतो नुम् च' चोर धूर्त आराधय
 विराधय अपराधय उपराधय एकभाव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव इत्यादि । २५४. पर्यन्त-
 पुरोहितादिभ्यो यक् ५१११२८—पुरोहित राजासे ग्रामिक पिण्डिक सुहित बाल मन्द
 (बालमन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शितिक सूतिक मूलिक तिलक अञ्जलिक

(अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक द्वित्रिक पर्विक पथिक चर्मिक प्रतिक सारधि
 आस्थिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक शब्दर नागर चूडिक ।
 इति पुरोहितादिः । २५५. तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इत्च् ५।२।३६—तारका पुष्प
 कणक मञ्जरी ऋजोष क्षण सूत्र मूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुडमल कण्डक
 मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तवक किसलय परलव खण्ड वेग निद्रा बुभुक्षा इत्यादि । २५७.
 इष्टादिभ्यश्च ५।२।३८—इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदि परिगादत परिवादित निकथित
 निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात
 श्रुत अधीत इत्यादि । २५८. लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००—
 लोमन् रोमन् वभ्रु अरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु इति लोमादिः । अथ पामादिः—पामन्
 वामन् वेमन् श्लेष्मन् कद्रवाल सामन् ऊष्मन् कृमि । (अङ्गात्कल्याणे) (शाकीपलालीतद्रूपां
 ह्रस्वत्वं च) (विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः) (लक्ष्म्या अच्च) इति पामादिः । अथ
 पिच्छादिः—(पिच्छा उरस् ध्रुवक ध्रुवक जटा कालाक्षेपे) रण उदक पङ्क प्रज्ञा इति पिच्छादिः ।
 २५८. व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६—व्रीहि माया शाला माला मेखला केका अष्टका पताका
 चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा बलाका यवखद नौ इति व्रीह्यादिः ।
 २५९. अर्शादिभ्योऽच् ५।२।१२७—अर्शस् उरस् तुन्द चतुर कलित जटा घटा घाटा
 घट कर्दम अम्ल लवण (स्वाहाग्वाहीनात्) (वर्णात्) अर्श आदिराकृतिगणः । २६०. प्रज्ञा-
 दिभ्यश्च ५।३।३८—प्रज्ञ वणिज उशिज उष्णिज प्रत्यक्ष विद्वस् विदन् षोडन् विद्या मनस्
 (श्रोत्र शरीरे) जुह्वत्कृष्णमृगे । चिकीर्षत चोर शत्रु योध चक्षुस् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च
 सत्वत् दशार्ह वयस् असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापणम् देवता बन्धु इति प्रज्ञादिः ।
 (वा०) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्—अयमेव सर्वविभक्तिस्तसिः । आदितः मध्यतः
 अन्ततः पार्श्वतः पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण स्वरतः ।

२६६. अजाद्यतष्टाप् ५।१।४—अज एडक अश्व चटक मूषक बाल वत्स होड पाक
 मन्द विलात पूर्वापहाण उत्तरापहाण क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमेति पुंयो-
 गोऽपि कौकिलाजातौ, दंष्ट्रा । एतेऽजादयः । २६८. षिद्गौरादिभ्यश्च ५।१।४१—गौर मत्स्य
 मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋथ्य (पूट तूण) द्रुण हरिण कौकण (काकण)
 पटरउणक (आमल) आमलक कुबल विम्ब बदर फर्कर (कर्कर) तर्कार शर्कार पुष्कर
 शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अकलन्द गडुल षाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ
 इति गौरादिः २६८. बह्नादिभ्यश्च ५।१।४२—बहु पद्धति अञ्च अङ्कति अहति शकृष्टि शक्तिः
 शस्त्रे, शारि वारि यराति राधि इत्यादिः, आकृतिगणोऽयम् । २७०. न क्रोडादिबह्वचः
 ५।१।५६—क्रोड नख खुर गोखा उखा शिखा वाल शफ शुक्र आकृतिगणोऽयम्, तेन भाग तल
 घौण नाल भुज गुद कर इति क्रोडादिः । २७२. शाङ्गर्वाद्यञो ङीन् ५।१।७३—शाङ्गर्वा
 कापटव गौग्गुलव ब्राह्मण वेद गौतम कामण्डलेय ब्राह्मणकृतेय आनिचेय आनिधेय आशोकेय
 वात्स्यायन मौञ्जायन कैकस काप्य काव्य शैव्य एहि आश्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल
 वतण्ड भोगवत् गौरिमत् नृनरयोर्वृद्धिश्च । इति शाङ्गर्वादिः ।

इति गणपाठः समाप्तः ।

